श्रीमद्भगवद्गीता ।

मूलश्लोक, संस्कृत अन्वय, हिन्दी भाषा-
नुवाद और योगशास्त्रीय आध्यात्मिक
व्याख्या सहित ।

जिसको

काशी—"प्रणवाश्रम"

से

श्रीयुक्त सतीशचन्द्र भट्टाचार्य्यने
प्रकाशित किया ।

प्रथम संस्करण ।

Printed by B. Ganga Prasad Gupta
at his Art Printing Works, Benares City.
1914.



मूल्य ३) रु०

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥



श्री ६ स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज।

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन सोऽयमस्मै नमोनमः॥

अथ मंगलाचरणम् ।

ज्ञात्वा सर्वरहस्यमात्मविषयं सर्वात्मजोऽपि स्वयं,
यः कारुण्यवशेन तावदलिखद्वैयासिकीं भारतीम् ।
तं नत्वाखिलदेवपूजितपदं सर्वार्थसिद्धिप्रदं,
गीतायाःखलुयोगशास्त्रविहितं व्याख्यानमाख्यायते॥

यस्मादस्य गुणाश्रयस्य जगतः सृष्टिस्थितिभ्रंशनं,
यश्चैकोऽपि विचित्रकौशलमयो धत्ते विभिन्नं वपुः ।
अन्तर्यं मनसः परं हि पुरुषं पश्यन्ति रुद्धेन्द्रिया,
योगीन्द्राः प्रणमाम्यहं तमसकृन् निःश्रेयसप्राप्तये ॥

गीते ज्ञानमयि त्वमेव कृपया मद्बोधगम्या भव,
वाणी नृत्यतु मे तथैव सरसा जिह्वाग्रभागे सदा ।
यत्तेऽध्यात्ममयं रहस्यमतुलं प्रख्याप्य कल्याणदं,
ब्रह्मानन्दरसैः स्वभक्तिमधुरैः सिञ्चेयमज्ञानहम् ॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया,
चक्षुरुन्मीलितं येन ममानुकम्पयैव च ।
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं,
तत्पदं दर्शितं चैव तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

ओम् ।

मंगलाचरण ।

सर्वात्मज होने पर भी जिसने करुणा परवश हो कर आत्मविषयक सर्वरहस्यको जानके (समझके) व्यासदेवके समुदय वाक्य स्वयं लिखे थे, उस अखिल-देवपूजितपद सर्वार्थ सिद्धि प्रदान करनेवाले श्रीगणेश को नमस्कार करके मैं गीताकी योगशास्त्रानुसार व्याख्या प्रणयन करनेमें प्रवृत्त हुआ ।

जिनसे इस गुणाश्रय जगत् की सृष्टि-स्थिति-नाश-क्रिया सम्पादित होती है, जो एक हो करके भी विचित्र कौशलसे भिन्न भिन्न शरीर धारण करते हैं, जिनको योगीन्द्रगण इन्द्रिय रोधपूर्वक अन्तरमें तमसाके बाद स्थित पुरुष रूपसे अवलोकन करते हैं, उनको मैं निःश्रे-यस प्राप्तिके लिये बार बार प्रणाम करता हूं ।

हे ज्ञानमयि गीते ! तुम भी कृपा करके मेरी बोध-गम्या होओ, वाणी भी सरस होकर मेरे जिह्वाग्रमें सर्वदा इस प्रकारसे नृत्य करे, कि जिसमें मैं तुम्हारे कल्याणप्रद, अतुल, अध्यात्ममय रहस्यको व्यक्त कर अज्ञ लोगोंको भी स्वभक्ति-मधुरित ब्रह्मानन्दरससे आप्लुत कर सकूं ।

जिन्होंने कृपाकरके मेरे अज्ञानाच्छन्न चक्षुको ज्ञाना-ञ्जन रूप शलाकासे खोलकर मुझको अखण्ड मण्डलाकार चराचर व्याप्त तत्पदका दर्शन करा दिये, उन श्रीश्रीगुरु-देवको नमस्कार करता हूं ।

श्रीदुर्गा ।

अवतरणिका ।

१—गीता परिचय ।

गीताका अनुशीलन करना हो तो पहले गीता क्या है सो जानना चाहिये । श्रीमत् स्वामी शंकराचार्य देवने स्वकीय गीता भाष्यके उपक्रमणिकामें इस विषयको विशदरूपसे विवृत किया है । गीतासेवियों की अवगतिके निमित्त गीताके परिचयके लिये उनकी उपक्रमणिकाका अविकल अनुवाद नीचे लिखनेकी चेष्टा की जाती है ।

"परब्रह्म नारायणसे अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति की उत्पत्ति हुई । अव्यक्तसे एक अण्डकी उत्पत्ति हुई, उसी अण्ड के भीतर इन समस्त लोक और सप्तद्वीपा मेदिनीकी सृष्टि हुई * । भगवान नारायणने इस जगत् की सृष्टि करके इसकी

---

* मूल श्लोक यह है—"ॐ नरायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्त-सम्भवं । अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥" इस श्लोक में सृष्टि प्रकरण व्यक्त हुआ है । इस श्लोकका ॐकार—ब्रह्म है, नारायण—पुरुषोत्तम है, अव्यक्त—मूल प्रकृति है, अण्ड—चतुर्विंशति तत्त्व की समष्टि है, और लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी—चौबीस तत्त्वसे निर्मित चतुर्दश भुवन है । साधन प्रकरणमें ४ । ५ चित्र देखो ।

स्थितिके लिये मरीचि प्रभृति प्रजापतिगणको सृजन किया और उनको वेदोक्त प्रवृत्ति-लक्षणाक्रान्त धर्म ग्रहण कराया । फिर सनकसनन्दादि मुनियोंको उत्पन्न करके उनको ज्ञान और वैराग्य लक्षणाक्रान्त निवृत्ति-धर्म बतलाया ।

"वेदोक्त धर्म दो प्रकारका है—प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण । उनमेंसे एक जो जगत् की स्थितिका कारण है, जो प्राणियोंका साक्षात अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थात् मुक्तिका निदान है उस धर्मको दीर्घकालसे श्रेयःकामी ब्राह्मणादि वर्णाश्रमी लोग पालन करते चले आ रहे हैं । कुछ कालमें वर्णाश्रमियों की विषयवासना द्वारा उनके विवेक ज्ञान संकुचित हो जानेसे एवं धर्म अभिभूत और अधर्म की वृद्धि होनेसे वह आदिकर्त्ता नारायण जगत् की स्थिति और पालनका अभिलाषी होकर पृथिवीस्थ ब्राह्मणों की ब्राह्मणत्व-रक्षाके लिये देवकीके गर्भमें वसुदेवके औरससे श्रीकृष्ण नाम ग्रहण करके अंशके साथ अवतीर्ण हुये । इसका कारण यह है कि ब्राह्मणत्व की रक्षा होनेसे वैदिक धर्मकी रक्षा होती है और उसके अधीन वर्णाश्रम धर्मकी भी रक्षा होती है ।

"ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज सम्पन्न वह भगवान जन्ममृत्यु रहित, भूतगणोंके ईश्वर और नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होकरके भी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति स्वरूपा स्वकीय वैष्णवी मायाको वशीभूत करके लोकानुग्रहके

निमित्त साधारण देहधारीयोंके सदृश जन्म ग्रहण करते हैं। निजका कुछ प्रयोजन न रहनेसे भी जीवोंके प्रति दयापरवश होकर शोकमोहसागरमें निमग्न अर्जुनको उन्होंने उस द्विविध वैदिक धर्मका उपदेश किया, कारण कि अधिक गुणयुक्त पुरुष जिस धर्मको ग्रहण और अनुष्ठान करते है वह औरोंमें प्रचार होता है । सर्वज्ञ भगवान वेदव्यासने भगवदुपदिष्ट उस धर्मको (महाभारतीय भीष्म पर्वके गीता पर्वाध्यायमें) सात सौ श्लोकोंमें "गीता" नामसे संकलन किया है।

"वेदार्थका सार संग्रहरूप इस गीता शास्त्रका अर्थ दुर्विज्ञेय है। उस अर्थको खुलासा करनेके लिये बहुतेरे लोगों ने पद, पदार्थ, वाक्यार्थ और न्याय समूह विवृत किया है, परन्तु उन सबके परस्पर अत्यन्त विरुद्ध और अनेकार्थ बोधक होनेसे प्रकृत अर्थ निर्धारणके निमित्त मैंने लौकिक अर्थको ग्रहण करके संक्षेपसे विवृत किया है।

"सहेतुक संसारकी अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् परामुक्ति ही इस गीता शास्त्रका मूल प्रयोजन है। सर्व कर्मको संन्यास कर के आत्मज्ञान निष्ठारूप धर्मके ग्रहणसे ही इसको लाभ किया जाता है। इसी प्रकार गीतार्थ धर्मको उद्देश करके ही श्री भगवानने अनुगीतामें कहा है– 'जिससे ब्रह्मपद लाभ किया जाता है, वही सुपर्याप्त धर्म है।' उसमें और भी कहा है– 'जो पुरुष एकासनमें बैठके मौन होकर कुछ भी चिन्ता न

करके परब्रह्ममें लीन होते हैं, उनके लिये धर्माधर्म शुभाशुभ कुछ भी नहीं है।' और भी कहा है– 'संन्यास लक्षणही ज्ञान है।' इस गीताके शेषभागमें भी अर्जुनको कहा है– 'सर्वधर्म को परित्याग करके एकमात्र मेरे ही शरणापन्न हो जाओ'। जो प्रवृत्तिलक्षण धर्म अभ्युदय और वर्णाश्रमके उद्देश्यसे विहित हुआ है, वह देवादि स्थान प्राप्तिका कारण होने पर भी उसको निष्काम भावसे ईश्वरार्पितबुद्धि होकर अनुष्ठान करनेसे उससे सत्त्वशुद्धि होती है। शुद्ध सत्व पुरुष ज्ञान-निष्ठाके अधिकार प्राप्त होते हैं, और ज्ञानोत्पत्तिसे मुक्तिलाभ होती है। इसी अर्थको उद्देश करके श्रीभगवानने गीतामें कहा है– 'योगी लोग यतचित्त और जितेन्द्रिय होकर कर्म समूह ब्रह्ममें अर्पण करके और निःसंग होके आत्मशुद्धिके लिये कर्मका अनुष्ठान करते हैं।'

"निःश्रेयस प्रयोजन और परमार्थतत्त्व, ये दो प्रकारके धर्म और परब्रह्मस्वरूप वासुदेवको विशेष रूपसे व्यक्त करके मैंने विशिष्ट प्रयोजन-सम्बन्ध-अभिधेययुक्त गीता शास्त्रकी यथार्थ व्याख्या करनेकी चेष्टा की; इसलिये कि गीतार्थ अवगत होने सेही समस्त पुरुषार्थ सिद्धि होती है।"

श्रीमत् शंकराचार्यजी की उस उपक्रमणिका पाठ करने से गीताका पूरा परिचय मिलता है। असल बात यह है कि, गीता व्यासदेवसे लिखी हुई भगवन्मुखनिःसृत श्लोक माला

है। इस कारण गीता माहात्म्यमें उक्त है कि यह गीता "स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता" । गीता की भित्ति कवि-कल्पना नहीं है; सचमुच यह ऐतिहासिक घटना मूलक है। जो लोग गीताकी ऐतिहासिकताके विषयमें तर्क वितर्क करते हैं, वह लोग दूरदर्शी नहीं हैं; गीताकी सत्यता देशकाल पात्रादिसे भी विच्छिन्न नहीं है; यह विश्वजनीन अविच्छिन्न ज्ञानप्रवाह स्वरूप है। इस विषयमें कुछ आलोचना की जाती है।

किसी समयमें इस आर्यभूमि भारतवर्षमें श्रीकृष्ण नामीय स्थूल शरीरधारी एक सर्वशक्तिमान महापुरुष आविर्भूत हुये थे। उन्होंने अपनी असाधारण शक्तिसम्पन्न कृती शिष्य अर्जुनको युद्धक्षेत्रमें ही इस गीताशास्त्रका उपदेश किया था। कोई कोई कहते हैं कि, युद्धक्षेत्रमें युद्ध प्रारम्भ होनेके ठीक पूर्वमें गीता जैसा बृहत् व्यापारका संघटन होना असम्भव है; कुरुक्षेत्र युद्ध के साथ इस गीताका संस्रव कविकल्पना मात्र है। उनको समझानेके लिये इतनाही कहा जा सकता है कि, पहिले तो श्रीकृष्ण स्वयं भगवान सर्वशक्तिमान हैं, उनका कार्य मनुष्य प्रकृतिके अतीत है। दूसरे, गीताका उपदेश करनेके समयमें वह योगस्थ हुये थे, अर्जुनको भी योगस्थ किया था। योगस्थ अवस्थामें सूक्ष्म शरीरमें क्रिया होती है। उस समय एक लहमाके भीतर एक युगकी क्रिया भी हो सकती है, जैसे कि स्वप्नावस्थामें हमलोग दो एक मिनटमें एक दीर्घकालव्यापी

बृहत् व्यापारका सम्भोग करलेते हैं। इसलिये गीताके साथ कुरुक्षेत्र युद्धके संस्रव सम्बन्धमें सन्देह करनेका कुछ कारण नहीं है।

किसीके मनमें ऐसा भी उदय हो सकता है कि, कुरुक्षेत्र युद्धके समयमें भगवानने अर्जुनको आद्यन्त गीताका उपदेश किया, उनके सम्बन्धमें सबही सम्भव है, परन्तु क्या युद्ध करनेमें प्रवृत होकर योगकी आलोचनामें प्रवृत्त होना समयोचित है? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि—नहीं, ऐसा नहीं; यह स्वाभाविक व्यापार—मानव प्रकृतिका अंग है। किसी कर्म करनेके प्रारम्भमें मन स्वभावतः पार्श्ववर्त्ती और आनुषंगिक व्यापार और अवस्थाके वश विशेष प्रकारसे चालित होता है। जैसे कि किसी पवित्र देवस्थानमें किसी दुष्कर्मका अनुष्ठान करनेके लिये उद्यत होनेसे उस पवित्र स्थानके माहात्म्यसे मन स्वभावतः एक मुहूर्त्तके लिये भी अनुष्ठेय कर्मका दोष गुण विचार करनेमें प्रवृत्त होता है, यहांपर भी ठीक उसी प्रकार है। अर्जुन युद्धमें प्रवृत्त हुये सही, परंतु जिस क्षेत्रमें उनके ख्यातनामा पूर्वपुरुषगण अनेक प्रकारके धर्म कार्यका अनुष्ठान कर गये, जिसकी गौरव-स्मृति उनके हृदयमें सर्वदा जागरूक है, उसी क्षेत्रमें पदार्पण करके यागयज्ञादि न करके स्वजन और ज्ञाति नाशक कार्यमें प्रवृत होनेसे क्या उनके मनमें कुछ भी द्विधा भावका उदय होना सम्भवपर नहीं है? विशेषतः जिस कर्मका परिणाम अतीव भयावह और जीवन संशयकर है,

वैसा कठिन कार्यमें प्रवृत्त होनेसे साधारणतः मन अतीव तीव्र उद्वेगसे आक्रान्त और संशय युक्त होकर क्षणकालके निमित्त भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचारमें "मैं—मेरा" के स्वरूप-निर्णयमें स्वभावतः नियुक्त होता है। अर्जुन की भी उसी प्रकार अवस्था हुई थी। इन सब संशयों की मीमांसा करना ज्ञानका विषय है, परंतु योग बिना ज्ञान नहीं होता, फिर ज्ञान बिना योग भी नहीं ठहरता; यह दोनों परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं। अतएव ऐसी अवस्थामें युद्धक्षेत्रमें योगका उपदेश असम्भव नहीं है।

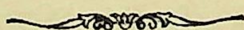
और एक बात है। कोई ऐसा भी कह सकते हैं कि, यदि गीता इतिहास और अध्यात्मशास्त्र दोनों ही हो, तौभी गीताका ऐतिहासिक व्यक्तियोंको मानवचित्तके विविध प्रकार वृत्तियोंका नाम स्वरूप गण्य करना क्या कष्ट-कल्पना नहीं है? इस कारण गीता अवश्य कवि कल्पना रूपक मात्र है, इतिहासके साथ वास्तवमें इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उक्तिका उत्तर देना साधारणतः कुछ कठिन मालूम होता है, परंतु जो लोग हिन्दु शास्त्रको मानते हैं उनके लिये कुछ कठिन नहीं है। शास्त्रमें है और श्रीमत् स्वामी शंकराचार्यदेव भी अपनी गीताभाष्य की उपक्रमणिकामें कहा है कि, भगवान भूभार हरण और धर्म राज्यका संस्थापन करनेके लिये ही (जैसे युग युगमें अवतीर्ण होते हैं, वैसे) उस समयमें भी

"अंश" के साथ अवतीर्ण हुये थे। उनका अंश क्या है ? वह विश्वरूपी है; इस जगत्में जितने प्रकार चरित्र होना सम्भव है, वह समस्तही उनका अंश है। विशेषतः जगत्में प्रकृति की क्रीड़ामें काल वशसे ("महता कालेन") पराम्परा प्राप्त ज्ञान धर्म नष्ट हो जानेसे, उस ज्ञान धर्मको उज्ज्वल और स्थायी रूपसे बाह्य जगत्में पुनः प्रकाश करनेके लिये जिस जिस प्रकृति और चरित्रका प्रयोजन होता है, उन्होंने (भगवानने) आत्म विभूति-विस्तार करके उस उस प्रकृति और चरित्र को ही स्थूल रूपसे सृजन करके खुद अपने भी लीलाका उपयोगी शरीर धारण किया था। यह कहना अधिक है कि, उस समय जिन सब प्रकृति और चरित्रको उन्होंने स्थूलरूप से बाह्य जगत्में प्रकाश किया था, सो सब अन्तर्जगत्में मानव हृदयमें चिरन्तन वृत्तिरूपसे वर्त्तमान है। अन्तर्जगत् की अनुरूप क्रिया बाह्यजगत्में प्रकाश करके धर्मसंस्थापन करनेके अभिप्रायसे ही वह आविर्भूत हुये थे। इसलिये गीताको कविकल्पित रूपक कहा नहीं जा सकता। गीता स्वयं पद्मनाभिके मुखपद्मसे निकला है। जिस ज्ञानसे त्रिलोक पालित होता है, गीता उसी ज्ञानका समष्टि है ("गीता ज्ञानं सभाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहं")। इसलिये यहां भी कोई असंगति भाव लक्ष्य नहीं होता , और भी, गीता-उपदेशका देश-काल-पात्र (४ र्थ अः ३ श्लोक) विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीयमान होता है कि,

भगवानने अपने भक्त और सखा अर्जुनको कुरुक्षेत्र समर-प्रांगनमें उभयपक्षके मध्यस्थानमें गीताका उपदेश करके, उनके योगराज्यके कुरुक्षेत्रके अनुरूपही भोगराज्यमें कुरुक्षेत्र का संघटन किया था। इसका विपरीत भाव अनुमान करके गीताको कवि कल्पित रूपक कहना ठीक नहीं है।

जब भगवानने अर्जुनको इस प्रकारसे गीताका उपदेश किया, तब संजयने व्यासदेवके प्रसादसे दिव्य दृष्टि लाभ करके श्रीकृष्ण-मुखनिःसृत उस वचनावलीसे विदित होके धृतराष्ट्रके निकट अविकल वर्णना की। सर्वज्ञ भगवान व्यासदेवने जगत्के हितके लिये श्रीकृष्णार्जुनकी वही सब कथा अविकल लिपिबद्ध करके धृतराष्ट्र संजय-संवाद रूपसे महाभारतमें सन्निविष्ट किया है। सच है कि गीताका उपदेष्टा वह महापुरुष इस समय स्थूल शरीर धारण करके वर्त्तमान नहीं है, परंतु वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मस्वरूपसे सर्व प्राणियोंके अन्तरमें वर्त्तमान है, वह नित्य है, और अनादिकालसे सर्व प्राणीके हृदयमें विराज करके वंशी वादन कर रहा है। मानव, वासना वश होके विषयके विषम फन्देमें पतित होनेसे, उनका उस मोहन रूप देखने और वंशीध्वनि सुनने नहीं पाता है। जो आत्म-योगानुष्ठानसे आवरण-शक्तिको हटाके विषय अतिक्रम कर सकेंगे, वही उस पुरुषका साक्षात्कार लाभ कर सकेंगे, वही उनको (भगवानको) अपने शरीरके धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रमें प्रवृति

निवृत्ति समूहके बीचमें सारथी रूपसे पावेंगे और उनके मुख से निःसृत गीता श्रवण करेंगे । यह बात अभ्रान्त सत्य है, अमूलक कल्पना नहीं है, परंतु ऐकान्तिक चेष्टाका प्रयोजन है। उद्यमशील पाण्डव लोगोंने भक्तिके बलसे भगवत्कृपा लाभ करके जिस प्रकारसे पृथिवीमें धर्मराज्य स्थापन किया था, साधक भी उद्यमशील और भक्तिमान होनेसे ठीक उसी प्रकारसे भगवत् कृपालाभ करके अपने शरीरमें "असपत्नं ऋद्धं राज्यं" अर्थात् आत्म राज्य स्थापन कर सकेंगे । इसलिये गीता एकाधारमें ऐतिहासिक घटना भी है, आध्यात्मिक घटना भी है । इसलिये कहा गया कि, गीता इतिहास मूलक होकरके भी अविच्छिन्न ज्ञान प्रवाह स्वरूप है ।



२—गीताका अधिकार ।

गीता ब्रह्मविद्या स्वरूपिणी है। इसलिये समुदय विद्याही इसके अन्तर्गत है। गीताकी सम्यक् आलोचना करनेसे वह कल्पवृक्षके न्याय फलप्रसव करता है। गीता समुदय शास्त्र का सार है; इसलिये इसका प्रत्येक श्लोक बल्कि प्रत्येक पाद भी सूत्रसदृश अनन्त भाव प्रकाशक है; अतएव गीता सर्वतोमुखी है । इसको गुरूपदेश अनुसार भक्तिपूर्वक अनुशीलन करनेसे सर्वशास्त्रवेत्ता हुआ जाता है, पृथक् रूपसे दूसरे

किसी शास्त्रका अध्ययन करना नहीं पड़ता। एक बातमें, गीता को ज्ञानमयी कहा जा सकता है। इस जगत्‌में जो कोई जो कुछ भाव लक्ष्य करता है, गीताके अवलम्बनसे वह अपने अभीष्ट पथको सम्यक् उद्भासित देखता है। समुदय कर्मक्षेत्रमें गीता ध्रुवज्योति सदृश नित्य और स्थिर है। इसका व्यवहार जाननेसे यह घूर्णायमान आलोकके सदृश निरन्तर ईप्सित पथको लक्ष्य करा देती है। भगवानने खुद कहा है "गीता ज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहं"। वस्तुतः गीताका "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम्" यह वाक्य प्रकृत सत्य है; गीताका व्यवहार जो जिसभावसे करेगा, वह उसी भावसे इसको अपने अनुकूलमें फलदायक रूपसे देखेगा। असल बात यह है कि, गीता योगीके लिये योगशास्त्र, दार्शनिकके लिये दर्शन, ज्योतिर्विदके लिये ज्योतिष, वैज्ञानिकके लिये विज्ञान, नैतिकके लिये नीति और साधुके लिये सदाचार है। आर्ष ऋषिके वाक्यानुसार असंकोचसे कहा जा सकता है कि, "ज्ञाने-ष्वेव समग्रेषु गीता ब्रह्म स्वरूपिणी"। यह यथार्थ उक्त हुआ है कि—

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥"

गीता जो योगशास्त्र और विज्ञान शास्त्र दोनों है, यह बात क्रियावान साधकको विशेष रूपसे जानना आवश्यक है;

क्योंकि एकमात्र गीताका आश्रय करके ही वह ज्ञानविज्ञान-वित् होके परम कारणमें चित्तलय कर सकेंगे । इसलिये गीताका योग और विज्ञान विषयमें कुछ आलोचना की जाती है—

गीता योग शास्त्र है । मानवकी चित्तवृत्ति वा मनोवृत्ति समूह असंख्य हैं । असंख्य होने परभी उनको पांच प्रकारकी अवस्थामें विभाग किया जा सकता है । चित्तके वह पांच प्रकार की अवस्था ये हैं, यथा,—

(१) क्षिप्त । मनकी अस्थिर और चंचल अवस्थाका नाम क्षिप्त अवस्था है । इस अवस्थामें मन एक न एक विषय ग्रहण और त्याग करनेमेंही व्यस्त रहता है, स्थिर नहीं होता । यही इसका स्वभाव है ।

(२) मूढ़ । जब मन काम, क्रोध, निद्रा, तन्द्रा, आलस्य प्रभृति द्वारा अभिभूत होकर कर्तव्याकर्त्तव्य ज्ञानशून्य होता है, तबही मनकी मूढ़ अवस्था है ।

(३) विक्षिप्त । किसी एक सुखके विषय पानेसे मन उसीमें आकृष्ट होता है और उसीको अवलम्बन करके क्षणकालके लिये स्थिर होता है । परंतु स्वभाव दोषके वश उसी दम पुनराय अस्थिर और चञ्चल होता है । इस क्षणविराम विशिष्ट चञ्चल अवस्थाका नामही विक्षिप्त अवस्था है ।

(४) एकाग्र । जब मन अन्तरके अथवा बाहरके किसी एक लक्ष्यको अवलम्बन करके, (रजोका चंचलता और

तमोका अभिभूतावस्था वा निश्चेष्टता त्याग पूर्वक) केवलमात्र सत्त्वके सहारेसे उसी लक्ष्यमें स्थिर होकर उसीका स्वरूप प्रकाश करता रहता है, दूसरा कुछ अवलम्बन नहीं करता, तबही मनकी एकाग्र अवस्था है ।

(५) निरुद्ध । और जब मन उस प्रकार एकाग्र होकर अपने को भी भूल जाता है, कोई वृत्ति वा क्रिया रहती नहीं, अवलम्बन भी नहीं रहता, एकदम वृत्तिविहीन निरालम्बावस्था प्राप्त होकर अपने कारणमें मिलित वा युक्त होता है, तबही मनकी वा चित्तकी निरुद्ध अवस्था कही जाती है ।

इन पांच अवस्थाओंकी प्रथम तीन अवस्थाही साधारण है, शेष दो अवस्था को अभ्याससे आयत्त करना पड़ता है ।

चित्तवृत्ति की उस निरोध अवस्थाका नामही योग है । उस निरोध-अवस्था प्राप्तिके लिये क्या करना पड़ता है और निरोध-अवस्था प्राप्तिके पहिले कौन कौन अवस्था भोग करनी होती है और पीछे भी क्या होता है, वही सब बातें अर्थात् योगके साधन प्रकरण तथा पूर्व और परावस्थाही गीतामें शुरूसे आखिर तक लिखी है । गीता अध्ययन करनेसे ही यह बात स्पष्ट मालूम होता है । इस कारण उसको सप्रमाण करना आवश्यक नहीं है ।

साधना की तीन अवस्थायें हैं । पहिले विश्वास करके क्रिया

करना होता है, उसीसे विश्वास दृढ़ होता है। विश्वास दृढ़ होनेसे भक्तिका विकाश होता है। भक्तिके परिपाकसे ज्ञानका उदय होता है। साधनाका यह विश्वास-भक्ति-ज्ञानही यथाक्रम से गीताका कर्म उपासना और ज्ञान यह तीन विभाग हैं। गीताका प्रथम छः अध्याय कर्म्म, द्वितीय छः अध्याय उपासना और आखिरी छः अध्याय ज्ञान है। गीता इन तीन षट्कोंमें विभक्त है।

गीताका एकके बाद एक अध्याय योगसाधनाका ही एकके बाद एक क्रम है। योगसाधनमें प्रवृत्त होकर साधक एक एक करके जैसी जैसी अवस्थाको प्राप्त होता है, वही गीतामें एक एक अध्याय करके लिखा है। उसका क्रम ऐसा है यथा——

साधक मायाके वशसे "अहं ममेति" संसार मोहसे मोहित रहनेके लिये पहलेही वैराग्य द्वारा संसार-वासनाको नाश करनेमें उद्यत होते ही विषादग्रस्त होते हैं (१म अः); बाद इसके गुरुकृपासे सांख्यज्ञानमें अर्थात् संख्यागणना द्वारा सत् और असत्की पृथकता समझ करके (२य अः) कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त होते हैं (३य अः) उसके बाद कर्ममें अभिज्ञता (ज्ञान) लाभ करके (४र्थ अः) प्राणापानकी समता साधन पूर्वक शुद्धचित्त होके कर्मका वेग नाश करते हैं (५म अः); उसके बाद स्थिर धीर अवस्था प्राप्त होकर ध्यानमें प्रवृत्त होते हैं (६ष्ठ अः) यही छः अध्याय है गीताका कर्मकाण्ड

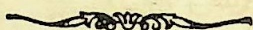
पश्चात् ध्यानके फलसे क्रमानुसार ध्येयवस्तुके सामीप्य प्राप्त होकर साधक ज्ञानविज्ञानविद् होते हैं (७म अः); उसके बाद अपुनरावृत्ति गति प्राप्तिके उपाय स्वरूप तारक ब्रह्म योग अवगत होते हैं (८म अः), तदनन्तर आत्माका जगद्विलास प्रत्यक्ष करके राजविद्या-राजगुह्य योगारूढ़ होकर (९म अः) सर्व विभूति अवगत होते हैं (१०म अः) परमेश्वरकी विभूति मालूम होते ही मनके उदार होजानेसे विश्वरूप दर्शन होता है (११श अः), विश्वरूपमें आत्माका अनन्तरूप दर्शन करके साधकको भक्ति वा आत्मैकानुरक्तिका चरम विकाश स्वरूप आत्मज्ञान लाभ होता है (१२श अः)। यह छः अध्याय ही गीताका उपासनाकाण्ड है; इसमें कर्म और ज्ञान मिला हुआ है। आत्मज्ञान लाभ होनेसे ही यथाक्रम—प्रकृति-पुरुषकी पृथकता (१३श अः), गुणत्रयकी पृथकता (१४श अः) क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमकी पृथकता (१५श अः) दैवासुर-सम्पदकी पृथकता (१६श अः) और श्रद्धात्रयकी पृथकता (१७श अः)—इन सब विषयोंका ज्ञान लाभ होता है; उसके बाद सन्न्यासका तत्त्व अवगत होकर साधक सर्वधर्म परित्याग करके मोक्षलाभ करते हैं (१८श अः)। यह अन्तिम छः अध्यायही गीताका ज्ञानकाण्ड है। इससे मालूम होता है कि क्रियावान साधक अब अच्छी तरह समझ सकेंगे कि योगानुष्ठान करनेमें यही गीता उनका एकमात्र अवलम्बन है।

गीता विज्ञान शास्त्र है। स्वभावके कार्यविषयमें विशेष प्रकार ज्ञानका नाम विज्ञान है। स्वभाव वा प्रकृति दो प्रकार की है—जड़ और चैतन्य। जड़ विषयमें जो विशेष ज्ञान है वह जड़ विज्ञान; और चैतन्य विषयमें जो विशेष ज्ञान है वह चैतन्य विज्ञान है। क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम—यह पञ्चभूतके जड़ाश्रय होनेसे इन सबके विषयमें जो विशेष ज्ञान है, उसको जड़ विज्ञान; और मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त—इन चार प्रकार के अन्तःकरणके चैतन्याश्रय होनेसे, इनके सम्बन्धमें जो विशेष ज्ञान है, उसको चैतन्य विज्ञान कहते हैं।

पृथ्वीतत्त्व, रसतत्त्व, तेजस्तत्त्व, वायुतत्त्व और आकाश-तत्त्व—इन सब तत्त्वका मिश्र तथा अमिश्र क्रियाकलाप देखना और इनमेंसे स्थूलके ऊपर सूक्ष्मकी कार्यकरी शक्तिका प्रयोग तथा तत्साधनोपयोगी विविध उपाय उद्भावन-प्रभृति क्रियाही जड़ विज्ञानका विषय है। जड़तत्त्वकी आलोचना करनेसे मालूम होता है कि तत्त्व जितना सूक्ष्म होवेगा, उसको संयत करनेसे स्थूलतत्त्वके ऊपर उसकी कार्यकरी शक्ति उतनी ही अधिक होवेगी। अब यह स्थूल पञ्चतत्त्वसे मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त यह चार पाद विशिष्ट अन्तःकरण अतीव सूक्ष्म हैं। इस चित्तादि पादविशिष्ट सूक्ष्मतत्त्वको संयत करनेसे यह पृथिव्यादि स्थूलतत्त्व समूहके ऊपर किस प्रकार क्रिया करके किस जगह कैसा फल उत्पन्न करता है, और इसको अपने कारणमें युक्त

करनेसे भी इसका किस प्रकार परिणाम होता है, उस उस विषयका तत्त्वानुसन्धान करना ही चैतन्यविज्ञानका विषय है। जड़विज्ञानसे केवलमात्र विषयश्रीकी वृद्धि होती है, परंतु चैतन्यविज्ञानसे विषयश्री तथा परमार्थश्री दोनोंकी ही वृद्धि होती है। जड़विज्ञान चैतन्यकेही अन्तर्गत है। चैतन्यविज्ञानविद् होनेसे सर्वज्ञत्वशक्ति आती है जिसमें जड़-विज्ञान भी आयत्त होता है। ज्ञानविज्ञानविद् योगीगणने निर्णय किया है कि अन्तःकरणवृत्ति वा चित्तवृत्तिको संयत करके प्राकृतिक तत्त्वपर आरोपित करनेसे विभूति लाभ होता है और अपने कारणमें युक्त करनेसे कैवल्य प्राप्ति होती है। यह सब वैज्ञानिक तत्त्व एकमात्र योगानुष्ठानसे ही विदित हुआ जाता है। गीता भी, उसी योगमार्गको प्रत्यक्ष कराके, किस प्रकारसे विज्ञानविद् हुआ जाता है तथा ज्ञान लाभ किया जाता है, उसीका उपदेश किया है। गीताके ४र्थ अध्यायका द्रव्य-यज्ञही जड़विज्ञान है और अन्यान्य ज्ञानयज्ञही चैतन्य-विज्ञान है। इसके व्यतीत, भगवत्सत्त्वा और उसके विश्व-रूपमें विभिन्न विलासही यथाक्रमसे ज्ञान और विज्ञान रूपसे ७म अध्यायमें वर्णित हुआ है। विज्ञानविद् होनेसे जिस जिस विभूतिका विकाश होता है वह १०म अध्यायमें वर्णित हुआ है और ज्ञानद्वारा सन्न्यास अवलम्बन करनेसे जो कैवल्य-स्थिति वा पराशान्ति प्राप्ति होती है उसका प्रकरण १८श

अध्यायमें ६१-६२ और ६५-६६ श्लोकोंमें व्यक्त हुआ है। इस गीताकी क्रियानुष्ठानसे जितनीही आलोचना की जायगी, उससे मालूम हो जायगा कि, यह (गीता) विज्ञानशास्त्रका सार है।



३—गीताकी व्याख्याका कारण और उद्देश्य।

पूज्यपाद शंकराचार्य तथा श्रीधरस्वामी प्रभृति महात्माओं ने भाष्य-टीका आदि लिखकर गीताके रहस्यपूर्ण अर्थको सरल कर दिया है और अधुनातन कालमें भी अनेक महापुरुषोंने हिन्दी-बंगला प्रभृति भाषाओंमें गीताकी व्याख्या करके मानवोंका विशेष हितसाधन किया है। वही सब संस्कृत-बंगला-हिन्दी प्रभृति भाषाओंमें लिखित व्याख्या मनुष्यकी आदरणीय है। उन सबके वर्त्तमान रहनेसे गीताके दूसरे व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु गीता योगशास्त्र है। जो लोग योगमार्गमें विचरण करना प्रारम्भ करते हैं, वे लोग इन सब भाष्य-टीका-टिप्पणि प्रभृतिओंसे अपनी क्रियापद्धतिका प्रकृत आभास प्राप्त नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि, एक तो संस्कृत भाष्य-टीका आदि सबका साध्यायत्त नहीं है, दूसरा शंकराचार्य-प्रभृति महात्माओंने गीताका समुदय रहस्य भेद करके भी, लौकिक बहिर्मुख अर्थको प्रधान

करनेसे, अल्पज्ञ लोग उसमेंसे अन्तर्मुख अर्थको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होते। असलमें, गीताका सम्पूर्ण प्रकृत योग-शास्त्रीय व्याख्या नहीं है कहनेसे भी अत्युक्ति नहीं होती। इधर, योगसाधनामें गीताको छोड़कर दूसरा उपाय भी नहीं है। साधकलोग जो कुछ करेंगे, प्रतिपदमें उनको गीताका आश्रय लेनाही पड़ेगा नहीं तो विघ्नग्रस्त होवेंगे; परन्तु गीताका प्रकृत योगार्थ अवगत न रहनेसे गीताका प्रकृत अभिप्राय नहीं समझ सकते। उनके इस अभावको दूर करनेके लिये शंकराचार्य और श्रीधरस्वामी इन दो महात्माओंके पदानुसरण करके गीताका योगशास्त्रीय व्याख्या प्रणयन करनेमें प्रयत्न किया गया।

संस्कृताभिज्ञ पाठकोंके सुविधाके लिये प्रति श्लोकका संस्कृत अन्वय देकर साधारणके लिये अनुवाद दिया गया है; उसके बाद योगशास्त्रीय व्याख्या दिया गया। इस व्याख्याको सर्वसाधारणकी उपयोगी सरल करनेके लिये यथा सम्भव साधारण भाषामें लिखा गया है; कारण कि गीता साधारणकी सम्पत्ति है; इसके भाव-ग्रहणमें किसीको वञ्चित करना हमलोगोंका अभिप्राय नहीं है।

४—गीताके (कतिपय) कुछ शब्दोंका अर्थ ।

गीता उपनिषदका सार और महाभारतका अङ्ग है। इसलिये प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म दोनों इसके अन्तर्गत हैं। प्रवृत्तिमार्गमें केवल भोग और सृष्टि है, निवृत्तिमार्गमें त्याग और मुक्ति है। योगसाधना निवृत्ति-धर्म है। गीताके योगार्थ समझना हो तो निवृत्ति-धर्मके अनुसार शब्दोंका अर्थ करना होगा। इस कारणसे, प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग भेदसे एकही शब्द किस तरह भिन्न भिन्न अर्थ युक्त होता है उसीको गीता मेंसे कुछ शब्दोंका अर्थ उदाहरण स्वरूप दिखाया जाता है—

(१) 'कर्म,' 'विकर्म,' व 'अकर्म'। कुछ करना ही 'कर्म' है, वह वाह्य क्रिया हो या आभ्यन्तरिक क्रिया उसमें कुछ बात नहीं है। एक कर्म कृत होनेसे चित्तमें जिस संस्कार की उत्पत्ति होती है, उसके अवस्थाभेदसे परवर्त्ती कर्मका पोषक, बाधक अथवा नाशक होता है; आशय यह है कि जिस प्रकार कर्मसे संस्कार उत्पन्न हुआ है, परवर्त्ती कर्म उसी के अनुरूप होनेसे ही, वह संस्कार उस परवर्त्तीं कर्मका पोषक होता है, नहीं तो बाधक अथवा नाशक। यह संस्कार ही 'विकर्म' है। यह जन्मजन्मान्तरीण कर्मोंके फल होनेसे ही दैव कहा जाता है। इसीसे जन्म और संसार-भोग होता है। कर्मानुष्ठानसे इसीका क्षय करना पड़ता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग भेदसे कर्म और विकर्मका अर्थ भिन्नरूपसे नहीं

लक्ष्य होता; केवल अकर्म सम्बन्धमें भिन्नार्थ लक्ष्य होता है। शास्त्रने जिन कर्मोंका अनुष्ठान करना निषेध किया है, वही सब शास्त्र-निषिद्ध कर्म प्रवृत्तिमार्गके 'अकर्म' हैं। और कर्मानुष्ठान द्वारा कर्मक्षय होकर जो कर्म-विहीन अवस्था आती है, वही निवृत्तिमार्गका 'अकर्म' है; इस अकर्मको ही 'नैष्कर्म्य' (१८ अ: ४९ श्लोक) कहते हैं। [जो कर्म शास्त्र-निषिद्ध नहीं है, उसका अपव्यवहार होना ही कुकर्म कहा जाता है]।

(२) 'ज्ञान,' 'विज्ञान' व 'अज्ञान'। आत्मज्ञानका नाम 'ज्ञान' है; और प्रत्येक तत्त्वके पृथक् पृथक् ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है। बहुतेरे टीकाकार लोग विज्ञानके अर्थमें विगतज्ञान अर्थात् ज्ञानके अतीत अवस्था 'असम्प्रज्ञात समाधि' को बतलाये हैं, परन्तु इस योगशास्त्रीय व्याख्यामें उस अर्थको नहीं लिया गया। तत्त्वोंके विशेष ज्ञान इस अर्थमें ही विज्ञानशब्दका व्यवहार हुआ है। टीकाकार लोग विज्ञान शब्दको जिस अर्थमें व्यवहार किये हैं, इस व्याख्यामें 'अज्ञान' शब्दको उसी अर्थमें व्यवहार किया गया है। इस कारण प्रवृत्ति-निवृत्ति भेदसे अज्ञानका दो अर्थ होता है। जीव मायाके वशसे विषय-वासनामें लिपटके संसार-मोहसे मोहित और आत्मविस्मृत होकर जो "मेरा मेरा" करके भ्रमित होता है, वही प्रवृत्तिमार्गका "अज्ञान" है। और लययोगसे अकर्ममें उपनीत होनेके बाद जो वृत्ति-विस्मरण-अवस्था आती

है, जब अपनेको भी भूलजाना होता है, "मैं" कहनेको भी कोई नहीं रहता है, वही निवृत्तिमार्गका "अज्ञान" है। उसी अज्ञानको "असम्प्रज्ञात समाधि" कहते हैं।

(३) "धर्म" व "अधर्म"। जिस शक्तिको अवलम्बन करके इस विश्वकी सृष्टि-स्थिति-लय क्रिया सम्पन्न होती है, उसीको धर्म कहते हैं; वही सत्य स्वरूप है। इस सत्यमें मिथ्याका आरोप होनेसेही प्रवृत्तिमार्गका अधर्म होता है, इस अधर्म को पाप कहते हैं; इसलिये ज्यों ज्यों मिथ्याकी वृद्धि होती है, त्यों त्यों अधर्मकी भी वृद्धि होती है। परन्तु जो शक्ति सृष्टि-स्थिति-लयका धारक है, उसी शक्तिके अतीत पदमें, जहां सृष्टि-स्थिति-लय क्रिया नहीं है, जो नित्यधाम है, जहां अवलम्बन करके रहनेका कुछ नहीं है, केवलमात्र निरालम्बावस्थाही वर्त्तमान है, वही निवृत्तिमार्गका अधर्म है; इस अधर्मकोही कैवल्यस्थिति कहते हैं। अतएव, कर्मके द्वारा कर्मक्षय करते करते ज्यों ज्यों निरालम्बावस्थाकी वृद्धि होती है, त्यों त्यों अधर्मकी वृद्धि होती है (४र्थ अ: ७म श्लोक देखो)।

[धर्म, व्यक्तिगत, समाजगत वा जातिगत भावसे विभक्त होनेवाला नहीं है; वह विश्वजनीन अविच्छिन्न वस्तु है। लोग इस विश्वजनीन धर्मके उद्देश्यसे जो जो क्रम बनाते हैं वा भिन्न भिन्न पन्थोंका अवलम्बन करते हैं, उसीकोही विधर्म कहा जाता है। विधर्म शब्द सापेक्ष है, किसीको साथ लिये बिना

इस शब्दका व्यवहार नहीं हो सकता । अतएव हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान प्रभृति जितना धर्म है वह सब परस्पर परस्परका विधर्म है । वैसेही आत्मधर्मके पास प्राकृतिक धर्म विधर्म है; फिर एक तत्त्वके धर्मके पास दूसरे तत्त्वका धर्म विधर्म है । गीताका "परधर्मो भयावहः" इस वाक्यका परधर्म ही विधर्म है । विधर्म व्यभिचारग्रस्त होनेसेही कुधर्म होता है ।

५—साधन प्रकरण ।

अब योग साधनाके विषयमें दो एक बात लिखकर अवतरणिका समाप्त किया जाता है ।

यह विश्वजगत् आत्मासे विनिर्गत हुआ है,—"विश्वमात्मविनिर्गतम्" । इसलिये योगीलोग आत्माको छोड़ स्वतन्त्र ईश्वर वा किसी देव देवीकी आराधना नहीं करते । वे आत्म साधक हैं; आत्मप्रतिष्ठा वा ब्राह्मीस्थिति ही उनका परम पुरुषार्थ है । जो पदार्थ इस विश्वब्रह्माण्डका मूल कारण और सर्व शक्तिके आश्रय है, जो स्वभावतः सर्वव्यापी है और सर्व जीवके भीतर चैतन्यरूपसे प्रकाशमान है, उस अद्वितीय पदार्थमें मनःसंयोग करनाही उनका आशय है । कारण कि मनुष्य सुख चाहता है । तत्त्वदर्शी योगीन्द्रगण देखे हैं कि, जगत्में जितना पदार्थ है, उसमें मन लगानेसे जो तृप्ति और सुख मिलता है, वह परिणामी, थोड़ा और अनित्य है । इसलिये

परित्याग करनेके योग्य है; परन्तु जो वस्तु इन समस्त जागतिक पदार्थोंके सृष्टि-स्थिति-नाशका कारण है, उसमें मनको संयुक्त करनेसे जो सुखका उदय होता है, उसका और नाश नहीं है; वह अनन्त और नित्य होनेसे 'उपादेय' है। इसीलिये योगी-गण अपने शरीरके भीतर ही उस अद्वितीय वस्तु सर्वशक्ति-कारणमें मनःसंयोग करनेको यत्न (अभ्यास) करते हैं।

वह सर्वशक्तिकारण अद्वितीय वस्तुही "परमात्मा" है। वह इस शरीरमें कहां है, और किस प्रकारसे उसमें मनः-संयोग किया जाता है, तत्त्वदर्शी योगीन्द्रगण उसका भी निर्णय किये हैं। वह लोग देखे हैं कि, वह वस्तु सर्वव्यापी होनेसे भी मस्तिष्कके भीतर ब्रह्मरन्ध्रमें ही चैतन्यमय स्वरूप विकाश है और प्रणव ही उसका वाचक है। उस ब्रह्मरन्ध्रमें उपस्थित होना होय तो, प्राणको अवलम्बन करके ब्रह्ममन्त्र प्रणवके साथ मेरुदण्डके भीतर भीतर मनको क्रमानुसार एक चक्रसे दूसरे चक्रमें उठाते उठाते भ्रूमध्यमें लाकर स्थिर करना पड़ता है; उसके बाद मन किसी अलौकिक शक्तिसे प्राणके साहाय्य व्यतीत अनायाससे मस्तिष्कमें उठ जाकर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश कर सकता है, और वहांपर उस सर्वशक्तिकारणमें संयुक्त होकर अनन्त ब्रह्मानन्दमें विभोर हो जाता है। यही अति-मृत्यु पद है; यहां आनेसे फिर जन्ममृत्युके आलोड़नमें नहीं पड़ना होता । इस आनन्दावस्थाको प्राप्तकरनेके लिये यम,

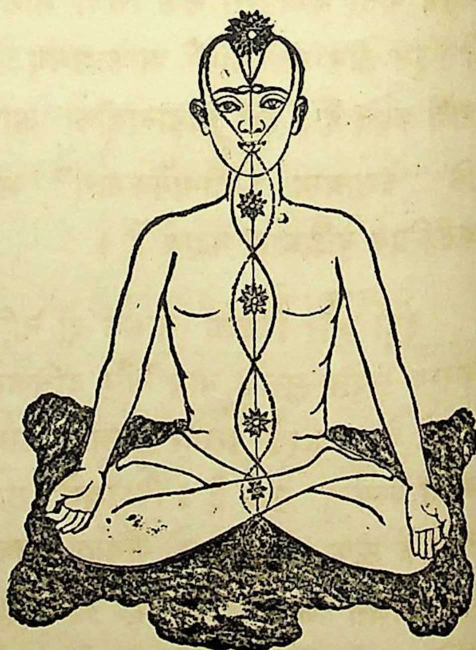
नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, व समाधि नामके आठ प्रकारके साधना वा अष्टाङ्गयोगका अभ्यास करने होता है। यह अष्टप्रकार साधन आयत्त होनेसे मनको प्राकृतिक चतुर्विंशति तत्त्वके भीतर जहां चाहे वहां संयत किया जा सकता है; उससे अणिमा, लघिमा प्रभृति सर्व प्रकार सिद्धि लाभ होती है; उसीको विभूति कहते हैं। परिशेषमें उत्तम वैराग्यद्वारा सर्व विभूतिको त्याग करके ब्रह्मानन्दानुभव-अवस्थाका भी त्याग होनेसे सब निर्वाण हो जाता है, ज्ञान-ज्ञेय ज्ञाता कुछ भी रहता नहीं, जो मूल है केवल वही रहता है; इसीको ही कैवल्य वा मुक्ति कहते हैं। यही योगशास्त्रका संक्षेप विवरण है।

मेरुदण्ड और मस्तिष्कही योगीके आश्रय हैं; यही योगमार्ग भी हैं। यह मार्ग कैसा है और इसका वनावट कैसा, वही संक्षेपमें नीचे लिखा गया है, और समझने और समझाने के सुभीतेके लिये कुछ चित्र भी दिये गये हैं।

मेरुदण्ड खोखला है। मस्तिष्क जिस उपादानसे बना है, वह खोखला भी उसी उपादानसे परिपूर्ण है। उस उपादानके ठीक बीचमेंसे एक छिद्र युक्त नाड़ी बराबर गुह्यदेशसे मस्तिष्क तक फैली है; उस नाड़ीको सुषुम्ना कहते हैं। उस खोखलेके भीतर उसी उपादानसे निर्मित एकके बाद एक करके कई एक पद्म हैं। गुह्यसंलग्नस्थलमें चार दल-विशिष्ट एक

पद्म है, उसको मूलाधार कहते हैं; लिङ्गमूलके ठीक सीधे स्थानमें छः दल-विशिष्ट स्वाधिष्ठान नामका एक पद्म है; नाभिमूलके ठीक सीधे स्थानमें दश दल-विशिष्ट मणिपुर नामसे एक पद्म है; हृदय (अर्थात् दोनों स्तनके ठीक बीच)के ठीक सीधे स्थानमें द्वादश दल-विशिष्ट अनाहत नामक पद्म है; कण्ठमूलके ठीक सीधे स्थानमें सोलह दल-विशिष्ट विशुद्ध नामक पद्म है, और दोनों भ्रूके ठीक बीचमें दो दलविशिष्ट आज्ञा नामक पद्म है। ये सब पद्म चक्र भी कहाते हैं। इसी लिये इन छः पद्मको षट्चक्र भी कहते हैं। इन सबके ऊपर मस्तिष्कमें सहस्र दल-विशिष्ट सहस्रार नामक पद्म है। (१म चित्र देखो)

१म चित्र ।



सुषुम्ना इन सातों पद्मको भेद करके खड़ी है,—ठीक जैसे कि सूतमें सात पद्म गूंथा हुआ है। इनहीं सात पद्मको सप्त स्वर्ग वा सप्तव्याहृति-स्थान कहते हैं।

नाड़ीमात्रही अन्तःशून्य (खोखला) नलके सदृश होता है। सुषुम्ना भी वैसी ही है। सुषुम्नाके भीतर स्वाधिष्ठानसे लेके ऊपर तक फैला हुआ वज्रा नाम करके एक नाड़ी है और उसके भीतर मणिपुरसे लेके चित्रा नाम करके एक दूसरी नाड़ी है। इन तीन नाड़ियोंके आकाशमय साधारण छिद्रको ब्रह्म-नाड़ी कहते हैं। इस ब्रह्मनाड़ीका आकार योगीगण कहे हैं कि "केशाग्रस्य कोटीभागैकभागं" अर्थात् यह अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय बुद्धिग्राह्य पदार्थ है।

इड़ा और पिङ्गला नामक दो नाड़ियां यथाक्रमसे मूला-धारस्थ सुषुम्ना-मुखके वाम और दक्षिणसे उत्थित होकर प्रत्येक पद्मको वेष्टन करके परस्पर सुषुम्नाके साथ काटकर युक्त होते हुये आज्ञा पर्य्यन्त उठा है। विशुद्धके ऊपर गर्दन और मस्तकके खोलीके ठीक सन्धिस्थलको अर्थात् मस्तक को पीठके तरफ झुका देनेसे जिस जगहपर गढ़ा हो जाता है, उस स्थलको मस्तक-ग्रन्थि कहते हैं। वह तीन नाड़ियां जितने स्थानमें परस्पर काटकर युक्त हुये हैं, विशुद्ध चक्रके ऊपर यह मस्तक-ग्रन्थि भी उसमेंसे एक है। यहांसे सुषुम्ना मस्तकके खोपड़ीके भीतर प्रवेश किया है, और इड़ा और पिङ्गला यथाक्रम, दहिने और

वांये तरफसे होते हुये दोनों भ्रूके बीचमें पुनराय सुषुम्नाके साथ मिला है (१म चित्र देखो) । वहांसे इड़ा वाम नासापुटमें और पिङ्गला दक्षिण नासापुटमें गयी है ।

मस्तक-ग्रन्थिसे सुषुम्नाकी गति कुछ विचित्रही है (२य चित्र देखो) उस ग्रन्थिसे सुषुम्ना दो शाखाओंमें विभक्त हुआ है । उसमेंसे एक शाखा मस्तकके भीतर मस्तिष्कके नीचेसे थोड़ा टेढ़ा हो आकर भ्रूके पास थोड़ा ऊर्द्ध-मुख होकर आज्ञाके कर्णिकाको भेद करके इड़ा-पिङ्गलाके साथ मिला है; पश्चात् बाहर आकर उर्द्धमुख में ठीक सीधा उठकर कपारके बीचो बीच स्थानमें भीतरी तरफ एक अतिसूक्ष्म छिद्र-पार होकर भीतरमें प्रवेश करके थोड़ासा झुककर थोड़ा वक्रगति लेकर ऊर्द्धमुखमें खड़ा

२य चित्र ।



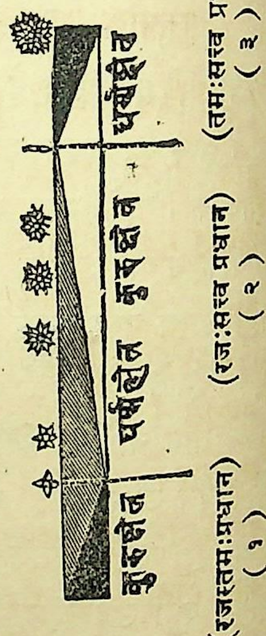
इड़ा——
पिङ्गला- - - -
सुषुम्ना——

होकर मस्तिष्कमें सहस्रारको भेद करके ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश किया है। दूसरी शाखा मस्तक-ग्रन्थिसे ऊपरके तरफ खोपड़ी के नीचे नीचे शिखरतक (अर्थात् जहां शिखा रक्खा जाता है, वहां तक) सीधे उठके, वहांसे थोड़ा टेढ़े होकर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश किया है। सुषुम्नाके इस शाखाका ब्रह्मरन्ध्रस्थ मुख बन्द है, प्रथम शाखाका मुख खुला है। इसलिये एक शाखाके छिद्रके साथ दूसरे शाखाके छिद्रसे संयोग नहीं है। योगीके योगावलम्बनसे प्राणत्याग होनेके समय सुषुम्नाका वह ब्रह्मरन्ध्रस्थ बन्द मुख खुलजाकर दोनों शाखाके छिद्र मिलके एक होजाते हैं। इसीका नाम ब्रह्मरन्ध्रका फटजाना है।

तीन नाड़ियां जितने स्थानमें परस्पर काटकर संयुक्त हुई हैं, सर्वत्र ऊपर नीचे दोनों तरफमेंही तीन तीन करके मुख हुआ है; परन्तु मस्तक-ग्रन्थिमें सुषुम्ना दो शाखाओंमें विभक्त होनेसे वहां ऊर्ध्वदिशामें चार मुख हुई है। मस्तक-ग्रन्थिके इस चारमुख-युक्त-स्थानमें मनको स्थापन करके, वहांसे ठीक सीधे भ्रूमध्यमें मानस दृष्टि निक्षेप करना होता है, और प्राणको सुषुम्नाके उस निम्नशाखासे भ्रूमध्यमें प्रवाहित करना होता है।

शरीरही क्षेत्र है । गुणक्रियाके विभाग अनुसार यह शरीर तीन अंशोंमें विभक्त है (३य चित्र देखो) । दश इन्द्रिययुक्त सर्व शरीर एक अंश है; इसमें रजस्तमः प्रधान है; इसका नाम कर्मक्षेत्र वा कुरुक्षेत्र है । मूलाधारसे आज्ञा पर्यन्त षट्चक्र दूसरा अंश है; यहां सत्त्वरजः प्रधान; इसका नाम धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र है । और आज्ञाके ऊपरसे सहस्रार तक "दशाङ्गुल" तृतीय अंश है; यहां सत्त्वतमः प्रधान है; इसका नाम धर्मक्षेत्र है । यह धर्मक्षेत्र निष्क्रिय भूमि है । द्वितीय क्षेत्र अर्थात् धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र नामक षट्चक्रही साधन-समरका क्षेत्र है । इसी क्षेत्रका बातही गीताके प्रथम श्लोकमें कहा गया है ।

३य चित्र ।

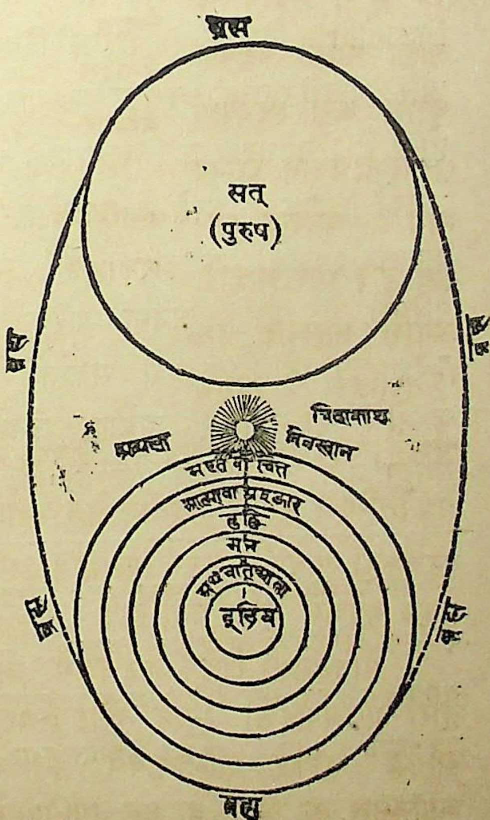


साधनसमर-क्षेत्र षट्चक्रमें प्राणक्रिया (प्राणायाम) द्वारा प्राणप्रवाहको सूक्ष्म और स्थिर करनेसे, मन आज्ञामें आरूढ़ होकर शान्तभावसे निष्क्रियपद परागतिमें जिस क्रमानुसार उठ जाता है, वह उपनिषदमें व्यक्त है; यथा--

" इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषो परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः ॥"

(४र्थ चित्र देखो) । प्राणायाम द्वारा इन्द्रिय समूह निगृहीत होनेसे 'अर्थ' अर्थात् सूक्ष्म तन्मात्रा वा अन्तर्विषयको विकाश होता है; इसी समयसे मन-बुद्धि-अहंकार-चित्तके आवरण धीरे धीरे लय-प्राप्त होता रहता है, और प्रत्येक आवरणमें उस सर्वव्यापी अद्वितीय सर्वशक्तिकारणसे विविध प्रकार अनिर्वचनीय क्रियाशक्तिका विकाश होता है (४र्थ अः ५म और ७म श्लोक की व्याख्या देखो)।

४र्थ चित्र ।



मस्तक-ग्रन्थिसे भ्रूमध्यमें मनके द्वारा स्थिरभावसे दृष्टि निक्षेप करनेसे वहां जो अखण्डमण्डलाकार-पद-मध्यगत विन्दु देख पड़ता है, वही कूट है। यह कूट अव्यक्त और चित्तावरणके संयोग-मध्यमें पुरुषके समसूत्र स्थलमें स्थित है (४र्थ चित्र देखो) इस कूटको भेद करनेसे प्राकृतिक-आवरण समूह भेद हो जाता है। उस कूटके बहिर्भागमें अव्यक्त-संक्रम स्थलमें "कोटी सूर्यप्रतीकाशं चन्द्रकोटी सुशीतलं" जो चिज्ज्योतिका विकाश होता है, वही विवस्वान्—सवितृमण्डल है; और भीतरी तरफ अखण्डमण्डलाकार चन्द्रमण्डल परिदृष्ट होता है। महत्तत्त्व वा चित्तावरणके बाद वह जो आकाश है, उसको चिदाकाश कहते हैं, उसीको अव्यक्त भी कहते हैं। अव्यक्त शब्दसे अन्धकारको नहीं समझना, यह प्रकाशसे परिपूर्ण है; इसके अनन्त परिवर्त्तनशील विलासको वर्णन करके शेष नहीं किया जा सकता; जो थोड़ा बहुत कहने जाओगे वही नहीं हो जायगा, उसका कुछ भी ठीक ठीक समझा नहीं जाता; यही माया * है । इन्हीसे सृष्टिविकारका

---

* मा=नास्तिवाचक शब्द, या= अस्तिवाचक शब्द; इन दो अर्थ के मिलानेसे जो होता है वही माया है,--निर्णयके अतीत पदार्थ। भगवान्ने स्वयं कहा है "मम माया दुरत्यया"। युद्ध करके मायाको जय किया (मायाका स्वरूप अवगत हुआ) नहीं जा सकता; चण्डी (दुर्गापाठ) में वही दिखाया गया है । मायाको अतिक्रम करने वा

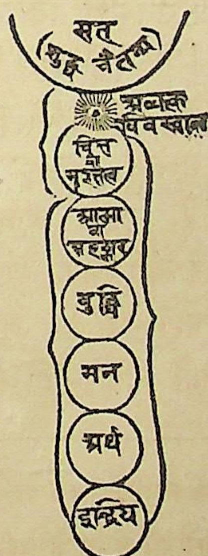
प्रारम्भ होता है इसीसे यह मूला प्रकृति है । इसका नाम असंख्य हैं परन्तु किसी नामसे इसका स्वरूप व्यक्त नहीं होता; इसलिये इसको अव्यक्त कहा जाता है । इस अव्यक्त पर्यन्तमें जो कुछ है वह सब असत् है । उस असत्के ऊपर जो पुरुष है, वही सत्, और परागति है। पन्द्रहवें अध्यायका उत्तम पुरुष यही है: क्योंकि यह क्षर और अक्षरके अतीत है । मायाभुक्त चैतन्य अर्थात् कूटस्थ-चैतन्य वा ईश्वरको अक्षर कहते हैं, और परा और अपरा प्रकृतिको क्षर कहते हैं [५म चित्र देखो]।

लययोगसे जब पुरुषका पुरुषत्व मिट जाता है, सत् और असत् मिलके युक्त होके एक हो जाता है, तबही "सदसत् तत्परं यत्" हो जाता है, अर्थात् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म हो जाता है [४र्थ चित्र देखो]।

५म चित्र ।

माया । (इस मायाभुक्त चैतन्यका नाम ईश्वर है) ।

अविद्या । वा अपरा प्रकृति । (इस अविद्याभुक्त चैतन्यका नाम पराप्रकृति वा जीव है) ।



(पञ्चभूत मिलाके) चौबीस तत्त्व होते हैं ।

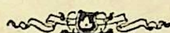
जय करनेका उपाय भगवान्ने कहा है—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" । अव्यक्तका स्वरूप निर्णय करनेकी चेष्टा करनी न चाहिये, एकदम पुरुषपर लक्ष्य स्थिर करना होता है ।

योगमार्ग और साधन प्रकरण सम्बन्धमें यह जो चित्रके साथ विवरण दिया गया, इसीसे प्रथम अभ्यासीगण इस विषय में स्थूल स्थूल धारणा कर ले सकेंगे । इससे विशदभावमें समुदय विषयको सूक्ष्मरूपसे वर्णन करना निष्फल है; क्योंकि योग आनुष्ठानिक व्यापार है; पुस्तक पढ़के जो आनुमानिक ज्ञान होता है उससे कुछ फल नहीं है । अभ्यासियोंके लिये केवल इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना नाड़ीत्रय और चक्र समूहोंके संस्थान अवगत होना विशेष प्रयोजन है इसलिये चित्रमें केवलमात्र उतनाही दिखाया गया; दूसरा कुछ नहीं । सद्-गुरूपदिष्ट क्रियाके अनुष्ठानमें साधक ज्यों ज्यों अपनी साधना में उन्नति लाभ करेंगे, त्यों त्यों वह स्वयं योगके समुदय विषय को क्रमशः निजबोधज्ञानसे प्रत्यक्ष करेंगे और समझेंगे । अलम् ।

प्रकाशक ।



विज्ञापन ।



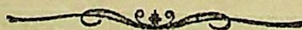
काशीधाम—प्रणवाश्रमके कईएक शिष्य एक रोज गीताकी आलोचना करनेमें प्रवृत्त होकर प्रणवाश्रमके अधीश्वर महात्मा योगीप्रवर परम पूजनीय श्री ६ गुरुदेव परमहंस श्रीमत् प्रणवानन्द स्वामीजीके चरणप्रान्तमें उपस्थित हुये थे; और भक्तिप्रणत मस्तक होकर साग्रह चित्तसे पूछे थे, कि 'हे गुरुदेव! गीताका प्रकृत तत्त्व क्या है, उसे कृपा करके हम लोगों को समझा दीजिये'। उन लोगोंके इस उत्तमप्रश्नसे हर्षित होकर वह ध्याननिमीलित नेत्रमें क्रमशः जो जो उपदेश किये थे, उससे वह लोग जो कुछ प्रत्यक्ष किये, सुने, अनुभव किये और समझे थे उसीको बङ्गभाषामें गीताकी व्याख्या लिखकर श्रीयुक्त ज्ञानेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय वि.ए., वि.एल. ने प्रकाशित किया था। परन्तु वह व्याख्या बङ्गभाषामें छपनेसे जो लोग बङ्गला नहीं जानते वह लोग उसे नहीं समझते हैं। स्वामीजी महाराज के बङ्गाली शिष्यों को छोड़ हिन्दुस्तानी शिष्य भी बहुत हैं। उनके विशेष आग्रह और अनुरोधसे हिन्दुस्तानी जनसाधारणके उपकारके लिये उसी बंगला व्याख्याको हिन्दी भाषामें अनुवाद कराके मैंने छपवाकर प्रकाशित किया।

यह ग्रन्थ धर्मपिपासु महाशय लोगोंके उपकारार्थ प्रकाशित हुआ। इससे उनके कुछ भी उपकार साधित होनेसे मेरा उद्देश्य सफल होगा।

परिशेषमें, धर्मप्राण भावग्राही साधु व साधकवृन्द और पाठक महाशयोंसे हमारा सानुनय निवेदन यह है, कि वे लोग इस गीताके प्रथम संस्करणके दोषभागको परित्याग करके गुणभागको ग्रहण करें; और जो कुछ दोष देखें उसे अनुग्रह पूर्वक बन्धुभावसे हमको सूचित करके चिरवाधित करें। परवर्त्ती संस्करणमें इस व्याख्याको निर्दोष करनेकी चेष्टा करेंगे। इति।

प्रकाशक।

शिवम्।



अथ श्रीमद्भगवद्गीता प्रारभ्यते ।



ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ।

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अथ करादिन्यासः ।

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषस इति बीजं, सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति शक्तिः, अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकं; नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः, न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्ज्जनीभ्यां नमः, अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति मध्यमाभ्यां

नमः, नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः, पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः, नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

अथ हृदयादि न्यासः ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः, न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा, अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति शिखायै वषट्, नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुं, पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति नेत्रत्रयाय वौषट्, नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति अस्त्राय फट्, श्रीकृष्णप्रीत्यर्थं पाठे विनियोगः ।

अथ ध्यानम् ।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं व्यासेन ग्रथितां पुराण मुनिना मध्ये महाभारतम् ।

अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥१॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥३॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥४॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचानूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्त्तकः केशवः ॥६॥

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथा संबोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥७॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ८ ॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥९॥

ओम् ।



कुरुक्षेत्र ।

रथे श्वेतैर्हयैर्युक्ते गीतामाहार्ज्जुनं हरिः ।



प्रपन्न पारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।

ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।



योगशास्त्रीय आध्यात्मिक व्याख्या ।

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

अन्वयः । धृतराष्ट्रः उवाच । हे संजय ! युयुत्सवः (योद्धुमिच्छन्तः) मामकाः (दुर्योधनादयः मत्पुत्राः) पाण्डवाश्चैव (युधिष्ठिरादयः पाण्डुपुत्राः) धर्मक्षेत्रे समवेताः (मिलिताः सन्तः) किं अकुर्वत ? ॥ १ ॥

अनुवाद । धृतराष्ट्र पूछते हैं, हे संजय ! युद्धेच्छु हमारे पुत्रगणने तथा पाण्डुपुत्रगणने युद्ध करनेके लिये धर्मक्षेत्ररूप कुरुक्षेत्रमें मिलकर क्या किया ? ॥ १ ॥

व्याख्या । धृतं राष्ट्रं येन सः "धृतराष्ट्रः" । धृत शब्दसे पहिलेसे धारण करके रहे हैं जो, और राष्ट्र शब्दसे राज्यको समझना; जो महाशय पहिलेसे राज्य

को धारण कर रहे हैं उन्हींको धृतराष्ट्र कहा जाता है। इस शरीररूप राज्यके सर्वत्र जिनका प्रभाव विस्तृत (फैला) है। शरीररूप राज्यका और सुख और दुःखका भोग करने वाला जो है उसीको धृतराष्ट्र जानना । इस शरीरके सुख दुःखका भोक्ता मन है। अतएव मनहीको धृतराष्ट्र कहके मानना । और मन जो है उसको स्वयं (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) विषय लेनेकी शक्ति नहीं है। ज्ञानेन्द्रिय (कर्ण, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका) की सहायतासे जो विषयसमूह शरीरके भीतर लिया जाता है मन ही उसका भोग करने वाला है, इसलिये मनको अन्धा कहा जाता है । धृतराष्ट्र भी अन्ध हैं । "धृतराष्ट्र उवाच" वचनका अर्थ १म अध्यायके दूसरे और २१वें श्लोककी व्याख्या में देखो ।

"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"

इस शरीरका नाम क्षेत्र है । सत्व, रज, तम तीन गुणोंके क्रियाविभाग करके यह शरीर तीन अंशोंमें विभक्त है। दशों इन्द्रियां (कर्ण, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ; और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां) इसका प्रथम अंश हैं; पीठकी रीढ़को (मेरुदण्डको) आश्रय करके जो सुषुम्ना

नाड़ी मूलाधारसे सहस्रार पर्यन्त विस्तृत है, वह सुषुम्ना-संलग्न षट्चक्र द्वितीय अंश है; और आज्ञाचक्रके ऊपर-से सहस्रार पर्यंत "दशांगुल स्थान" तृतीय अंश है। प्रथम अंशमें बहिर्जगत्के क्रियासमूह सम्पादित होते हैं। यह स्थान रजस्तमोप्रधान है। यहां निरवच्छिन्न कर्म-प्रवाह वर्त्तमान रहनेसे इसका नाम "कुरुक्षेत्र" वा कार्य-क्षेत्र हुआ। तृतीय अंश सत्वतमःप्रधान है; इस स्थान-में क्रियाविहीन स्थिर प्रकाश वर्त्तमान है, इसलिये इसका नाम "धर्मक्षेत्र" हुआ। और द्वितीय अंश, जो मन बुद्धि-की लीलाभूमि है, जहांसे सूक्ष्मभूतसमूह बहिर्मुख होकर इन्द्रियोंको क्रियाशील करता है, पुनश्च अन्तर्मुख होकर आत्म-ज्योतिको प्रकाश करता है, वही सुषुम्नासंलग्न षट्चक्र रजःसत्वप्रधान है। यह अंश धर्म और कर्म दोनों की आश्रयभूमि है इसलिये इसका नाम "धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र" हुआ। शरीरका यह अंश रजःसत्वप्रधान होनेसे भी इसके विशेष २ स्थानमें उन दोनों गुणोंकी क्रिया अल्पाधिक (थोड़ा बहुत) परिमाणमें है। जो स्थान मूलाधारके पास और कुरुक्षेत्रके निकट है, वहां रजोगुणका परिमाण अधिक, और सत्वगुणका कम है; वैसे ही जो स्थान आज्ञा-चक्रसे भिड़ा हुआ और धर्मक्षेत्रके निकट है, वहां सत्व-का परिमाण अधिक है, और रजो गुणका परिमाण कम है;

और मूलाधारसे आज्ञाचक्रके नीचेतक फैला हुआ इस अंशके बीचमें अर्थात् मणिपुरचक्रमें उन दोनों (रजः सत्व) गुणोंका परिमाण बराबर है, इसलिये यहां "समान वायु" की अवस्थिति है। इस धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रकी बात ही इस श्लोकमें कही हुई है; यही योगमार्ग है। और आज्ञाचक्र अज्ञानतामय है इसलिये इसका दूसरा नाम अज्ञानचक्र है। क्रियाविशेषसे इस योगमार्गके भीतरसे उस अज्ञानचक्रको भेद करके परम शिवमें कुलकुण्डलिनी शक्तिके मिलन करनेका नाम ही "योग" है।

"मामकाः पाण्डवाः"

"मामकाः" मनोवृत्तियोंको और "पाण्डवाः" बुद्धि-वृत्तियोंको जानना। अर्थात् स्वरूपज्ञानके प्रकाश करने-वाली वृत्तियोंको बुद्धिवृत्ति, और विपरीत ज्ञानका प्रकाश करनेवाली वृत्तियोंको मनोवृत्ति कहते हैं। विपरीत उस-को कहते हैं जैसे दर्पण (आईना) के सामने खड़े होनेसे उसमें जो छायामूर्त्ति दिखलाई पड़ती है, उसको (छाया-को) कायाका स्वरूप-विकाश कह कर मन पहिले ही मान लेता है; परन्तु बुद्धिके द्वारा विचार करनेसे निश्चय होता है कि वह कायाका स्वरूपविकाश नहीं है, किन्तु विपरीत विकाश है, अर्थात् शरीरका दक्षिण अंश छाया में वाम अंश रूपसे दिखलाई पड़ता है; इसलिये पूज्य-

पाद आर्य्य लोग कह गये हैं–"विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी-तुल्यं"। तद्रूप आत्मज्ञान और जगद्भ्रम काया-छाया-सम्बन्धवत् 'बिना सूतका गुँथा हुआ फूलका हार' सदृश है। मन सामने जो कुछ देखता है, उसीको सच्चा मान लेता है और उसीमें आकृष्ट होकर संकल्पविकल्प-रूप क्रिया करता रहता है। इन्द्रियोंमें प्रधान होनेसे और इन्द्रियग्राह्य विषयों द्वारा परिवेष्टित रहनके सबबसे, मन सर्वदा विषयमें आसक्त रहता है, क्योंकि संगसे ही आसक्तिकी उत्पत्ति होती है, "संगात् संजायते कामः"। इसीलिये कहता हूं कि, अन्तःकरणका जो प्रवाह केवल विषयकी तरफ दौड़ता है, उसीको मनोवृत्ति जानना। यह प्रवाह, स्थान विशेषमें, दिक्भेद करके भिन्न भिन्न भावसे तरंगायित है। उस एक एक तरंगको एक एक वृत्ति कहते हैं। वह जो विषयाभिमुखी स्रोतकी विभिन्न भंगिमा है, वही "मामकाः" अर्थात् कामनासमूह है। यही सब धृतराष्ट्रके [मनके] शतपुत्र वा दुर्योधनादि शत भाई हैं। इन सबको प्रवृत्ति [संसारमुखी वृत्ति वा अकर्त्तव्यनिचय] कहते हैं; यथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता, निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, राग, द्वेष, स्नेह, ममता इत्यादि। बुद्धि सामने जिसको देखती है उसीको निश्चय कर लेती है अर्थात् नाप लेती है; आत्माही इसका

नापनेवाला मानदण्ड है और नापनेसे वस्तु दो अंशों में विभक्त हुई है;—प्रथम सत्—("तदर्थीय कर्म" परिणामी होनेसे भी सत्में पहुंचा देनेके सबबसे इसीके अन्तर्गत) जो नित्य और अपरिणामी है, और दूसरा असत्—जो अनित्य और परिणामी है । आत्माकी तुलनामें सत् और असत्रूपसे वस्तुविभाग करनेको वस्तुविचार कहा जाता है । इस वस्तुविचारमें आत्मा मानदण्ड होनेसे बुद्धिवृत्ति अतीव सूक्ष्म भावसे तथा निरवच्छिन्न रूपसे, आत्माकी ओर प्रवाहित रहती है; यही अन्तःकरणका द्वितीय प्रवाह है । यह भी भूतसमूहके संयोगसे भिन्न भिन्न भावोंमें तरंगायित है । आत्माभिमुखी प्रवाहकी विभिन्नभांगिमा ही "पाण्डवाः" (पण्डा इति ज्ञाने) अर्थात् कर्त्तव्यनिचय है । इन सभोंको निवृत्ति (असंसारमुखी वृत्ति) कहते हैं; यथा विवेक, विचार, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षुता इत्यादि ।

मनुष्यमें सदाही ये दोनों प्रवाह क्रियाशील रहते हैं; उसके फलस्वरूप विभिन्न विषयसंसर्गसे चाहे पहिला, या दूसरा—या दोनों ही मिश्ररूपसे अदल बदल कर कुछ कालके लिये प्रबलतर हो उठते हैं; लेकिन कोई भी स्थायी नहीं होता । परन्तु वैज्ञानिक ताड़ित

कोषमें तड़ित्प्रवाह के दोनों मुख युक्त कर देनेसे जैसे दोनों प्रवाहोंके भीतर एक अभिभूत और दूसरा प्रबलतर हो कर वृत्ताकारसे अखण्ड स्रोतमें बहा करता है, वैसेही यदि अन्तःकरणकी इन दोनों वृत्तियोंको किसी प्रकारसे क्रिया विशेष द्वारा (यह क्रिया गुरु मुखसे जानना चाहिये) युक्त कर दिया जाय तो पहिली वृत्ति (विषयाभिमुखी) अभिभूत और दूसरी (आत्माभिमुखी) प्रबलतर होकर निरन्तर आत्माकी ओर प्रवाहित होती रहती है; यही युक्तावस्था वा योगस्थ होकर कर्मावस्था है। यह अवस्था ऊर्द्धगतिमें लाकर भूत और भविष्यत् नामक कालविभागको दूर करके केवल वर्त्तमानको ही विद्यमान रखती है और इस प्रकार त्रिकालज्ञ बना देती है; यही चरम निवृत्तिका प्रथम सोपान है।

"समवेता युयुत्सवः"

धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रही योगमार्ग है; युद्ध करनेकी इच्छा होनेसे ही इस स्थानमें समवेत (सम्मिलित) होना पड़ता है; अर्थात् साधकको संसारभ्रम आत्मज्ञानमें लय करना हो तो इस स्थानमें आना पड़ता है; यहां आनेसे साधकको देख पड़ेगा कि बहुतसा पुञ्जीकृत संस्कार क्रमानुसार आकर उनपर आक्रमण करता है और लक्ष्यभ्रष्ट करके बहुत दूर फेक देता है; पुनश्च

वैसेही इकट्ठा हुआ दूसरे प्रकारका संस्कार आकर मन में धृति, उत्साहादि शक्ति उत्पन्न करके उनको पुनः लक्ष्यकी ओर भेजता है । प्रथम संस्कार निचय विषय-संसर्ग-जन्य और दूसरा सत्संसर्ग-जन्य है । मन विकारग्रस्त होनेसे ही विषयमें आसक्त होता है; और विचारयुक्त होनेसे ही सद्वस्तु ग्रहण करनेमें समर्थ होता है; अतएव पहिला मानसिक विकारका फल है, इसलिये "मामकाः"—और दूसरा मानसिक विचारका (वि= विगत, चार=चलना फिरना) अर्थात् ज्ञानका फल है, इसलिये 'पाण्डवाः' । मनका संकल्प-विकल्प परित्याग करके जो अवस्थान, अथच बुद्धिकी क्रिया संक्रम होती है, फिर मिट भी जाती है, परन्तु सिद्धान्त स्थिर नहीं होता,—इस प्रकारका अवस्थान ही मानसिक विचार-अवस्था है ।

गुरूपदिष्ट क्रियाकालमें मन सूक्ष्मावलम्बी होनेसे विस्तारको प्राप्त होता है; तब उसकी संकीर्णता नष्ट हो जाती है, इसलिये इस जन्म और पूर्व जन्मके अर्जित 'सु' 'कु' कर्म-संस्कार-समूह प्रत्यक्ष होते रहते हैं। आजन्म विषय-वासना द्वारा जड़ित रहनेसे साधकका विषयसंस्कार सत्संस्कारसे अधिकतर शक्तिसम्पन्न होकर उनको लक्ष्यभ्रष्ट तथा वशीभूत कर लेता है; परन्तु

गुरूपदेशका संस्कार (कूटस्थ चैतन्य वा श्रीकृष्ण) सतत जागरूक रहनेसे उसके आलोक द्वारा सत्संस्कार-समूह पुनरुद्भासित होकर उनको पुनः लक्ष्याभिमुखी करता है; यह विषय संस्कार ही प्रवृत्ति और सत्संस्कार निवृत्ति है । नदी-निक्षिप्त काष्ठखण्ड ज्वार (समुद्रोत्थित जलविकर्षण) भाटा (समुद्रसे उस जलका पुनराकर्षण) के वशसे उजान-भाटीमें अर्थात् विकर्षण और आकर्षण से संचालित होने पर भी परिशेषमें जैसे विशाल सागरमें जाकर गिरता ही है, विकर्षणका वेग उसको अटका नहीं सकता, वैसेही धैर्य्य धारण करके गुरूप-देशके अनुसार क्रिया करते रहनेसे, प्रवृत्तिसमूह चाहे कितना ही प्रबल हो, अन्तमें विशाल शान्तिसागर (ब्रह्मपद) तक पहुँच हो ही जाती है । सत्चेष्टाशील साधक मात्रको यह आक्षेपण और विक्षेपण मालूम है; क्रियाके प्रारम्भसे ही यह आक्षेपण और विक्षेपण होता रहता है इसीलिये कहा कि-युद्धेच्छु होनेसे ही समवेत होना पड़ता है ।

" किमकुर्वत संजय "

दश दिनके युद्धमें भीष्मके पतित होनेके पश्चात् रणक्षेत्रसे हस्तिनापुरमें (कर्मक्षेत्र, जहां धृतराष्ट्र वा मन रहता है) संजयके लौट आकर भीष्मके पतनकी

वार्ता सुनानेके लिये उपस्थित होनेपर धृतराष्ट्रने संजयसे युद्धका हाल पूछना आरम्भ किया। संजयने युद्धका विवरण क्रमानुसार श्रीकृष्णार्जुन-संवाद (गीता) रूपमें वर्णन किया। इसका अर्थ यह है कि, मणिपुरस्थ दशदल अतिक्रम करके चित्राके भीतर प्राणवायु प्रवेश करानेसे ही कुलकुण्डलिनी चैतन्य-युक्त होती है, तब साधकका बाह्यज्ञान अभिभूत होकर वैषयिक अहंत्व(अर्थात् चिदाभास वा अस्मिता जो दशो दिशाओंमें व्याप्त होकर जीवोंका जीवत्व प्रतिपादन कर रहा है) निस्तेज होता है। इसीको भीष्मका पतन कहकर निर्देश किया गया है। कुलकुण्डलिनीको जाग्रत करनेसे स्थिर आत्मज्योति प्रकाश करनेवाले मानसचक्षुका उदय होता है; उस चक्षुसे तीनों काल (भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान) की घटनावली प्रत्यक्ष होती रहती है। उसके पीछे विकर्म ताड़नके द्वारा साधक जब फिर कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होता है, तब विषयोंके द्वारा वेष्टित हो जाने पर आत्मज्योति परोक्ष होनेसे भी, स्मृति जागरूक रहती है, इस करके "धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र" में प्रथमसे शेषपर्यन्त संघटित व्यापार-समूहकी छाया मात्र उनके मनमें उदय होती रहती है; तब साधक उन व्यापारोंको लेकर मन ही मन प्रश्न करता रहता है और वे प्रश्न (गुरूपदिष्ट क्रिया-

लब्ध) दिव्य दृक्‌शक्तिसे मीमांसित (प्रत्यक्षीभूत) होते रहते हैं; इसीको गीतामें धृतराष्ट्र-संजय-सम्बादरूप कथन कहा है । साधककी जाग्रतावस्थाका नाम धृत-राष्ट्र और उनकी क्रियालब्ध मानस दृष्टि, अन्तर्दृष्टि वा दिव्य दृष्टिका नाम संजय है (अध्याय ११ श्लोक ३५की व्याख्या देखो) ।

क्रियाके प्रारम्भसे चिदाभास नष्ट होनेतक प्रवृत्तिकी ताड़ना और निवृत्तिकी प्रेरणा आदि जो जो घटनाएँ उपस्थित हुई हों, उन सबका आनुपूर्विक स्मरण करना ही साधकका उद्देश्य है। 'इसके बाद क्या किया' 'उस के बाद क्या किया' इस प्रकार स्वकृत अतीत घटना-समूह चिन्ता करके स्मरण करते जानेसे, मनमें जिस प्रकारके प्रश्न उदय होते हैं, यह भी उसी प्रकारका सरल प्रश्न है; अतएव धृतराष्ट्रने संजयसे ऐसा प्रश्न क्यों किया, इस प्रकारका सन्देह होनेका कोई कारण नहीं है ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

दृष्ट्वातु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

अन्वयः । तदा तु राजा दुर्योधनः व्यूढं (व्यूह रचनयाधिष्ठितं)

पांडवानीकं दृष्ट्वा आचार्य्यं उपसंगम्य (द्रोणाचार्यसमीपं गत्वा) वचनं अब्रवीत् ॥ २ ॥

अनुवाद । संजय कहते हैं,—पांडवसैन्योंको व्यूहरचनासे अवस्थित देखकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके समीप जाकर इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

व्याख्या । 'संजय उवाच' इस कथाका अर्थ २१वें श्लोककी व्याख्यामें देखो । नाट्यशालाका एक नट जैसे अभिनयकालमें भिन्न भिन्न साज सामान लेकर भिन्न भिन्न आकार धारण करलेता है, और वह स्वयं जो है सोही रहता है, तद्रूप एक ही मनुष्य कभी कुबुद्धि के वशीभूत होकर मूर्त्तिमान काम, क्रोध, लोभ प्रभृति होजाता है, पुनश्च कभी सुबुद्धिके वशमें आकर साक्षात् शम, दम, तितिक्षा-स्वरूप बन जाता है। ठीक उसी प्रकार साधक भी गुरूपदिष्ट क्रियामें साधनमार्गमें विचरण करते करते समयके अनुसार आपही आप कभी धृतराष्ट्र, कभी संजय, कभी दुर्योधनादि तथा कभी अर्जुन और श्रीकृष्ण होकर गीताको प्रत्यक्ष करता है । इसलिये दुर्योधन कहने से समझना चाहिये कि, साधकका विषय-वासनाधीन अतिमानी अवस्था है ।

'राजा दुर्योधन'। (दुः = दुःखमें, युध् = युद्धकरना+ अन)—दुःखमें योधनीय, अर्थात् जिसके साथ अतिकष्ट से युद्ध किया जा सके वही दुर्योधन है। यह दुर्योधन ही

३य अध्यायका 'कामरूपं दुरासदं' है। इसलिये कामना वा विषयवासनाका नाम दुर्योधन है। इसीको अतिमान भी कहते हैं। मनोवृत्तियोंमें यह कामना प्रधान और प्रबल है, इसीसे इसको धृतराष्ट्र (मन) का ज्येष्ठ पुत्र कहा गया, और इसीके वशमें मन अविरत चालित होनेसे, तथा शरीरका सर्वत्र इसका प्रभाव विस्तृत रहने से राजा यही है।

"व्यूढं पाण्डवानीकं दृष्ट्वा"

पाण्डवव्यूह धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रके पश्चिम और पूर्व-मुखी होकर उदीयमान ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलको देखता हुआ युद्धके लिये प्रस्तुत है, और कौरवगण पूर्व दिशामें खड़े होकर पश्चिमाभिमुखी अर्थात् विषयमुखी होनेसे सूर्यज्योतिको पश्चात् भागमें लिये हुए अवस्थित हैं।

शरीर-कोषके सम्मुख भागका नाम पूर्व, पश्चाद्भाग का नाम पश्चिम, दहिने भागका नाम दक्षिण और वामभागका नाम उत्तर दिक् है। इस कोषकी पूर्व दिशामें ही सावित्रमण्डल देख पड़ता है; साधक मात्र इस विषयको जानते हैं। विवेक वैराग्य-शम-दमादि साधन चतुष्टय *

---

* साधन चतुष्टय यथा—

(१) "नित्यानित्य वस्तुविवेकः" अर्थात् नित्यवस्तु एक ब्रह्म ही है उसको छोड़कर और जो कुछ है सब अनित्य है; यह निश्चय

सम्पन्न होनेके पश्चात्, साधन-मार्गमें आकर सामने अर्थात् पूर्व दिशामें सूर्य्य-ज्योति लक्ष्य करनेसे ही अतिमानाश्रित संसारानुकूल वृत्तिसमूह सम्मुख खड़े होकर साधकको विमुख करनेकी चेष्टा करता है; इसलिये विवेक वैराग्य का दल पूर्व-मुखी और अतिमानी महामोहका दल पश्चिम-मुखी है। इन दोनो दलों का आमना सामना और संघर्ष ही साधनसमर है; और इसी साधनसमरका नाम क्रिया है।

क्रियाके प्रारम्भ कालमें ही निवृत्तिपक्षीय शम दमादि साधनाके अनुकूल वृत्तिसमूह वासनापटमें प्रतिफलित होता है; यही दुर्योधनका पाण्डवव्यूहदर्शन है।

"आचार्यमुपसंगम्य"

द्रोण आचार्य हैं। इन्होंने ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर क्षत्रिय वृत्ति अवलम्बन कर कुरु पाण्डव दोनों पक्षोंको धनुर्वेदकी शिक्षा दी। काक (कौवा) जैसे दो चक्षु रहने

ज्ञान। (२) "इहामुत्रार्थ फलभोग विरागः" अर्थात् इह काल का सुख और पर काल में स्वर्ग भोगकी इच्छा परित्याग। (३) "शमादि षट् सम्पत्तिः" अर्थात् शम = मनोनिग्रह, दम = चक्षुरादि बाह्येन्द्रियकी वृत्तिका निग्रह, तितिक्षा = शीतोष्ण सुख दुःखादि कष्ट सहिष्णुता, उपरति = स्वधर्मानुष्ठान, श्रद्धा = गुरुवाक्यमें विश्वास, समाधान = चित्तकी एकाग्रता। (४) "मुमुक्षुत्वं" अर्थात् हे विधे! मेरा मोक्ष (मुक्ति) हो जाना चाहिये— यही दृढ़ इच्छा रहना।

पर भी किसी एक चक्षुसे देखता है, दोनों चक्षुओंसे एक साथ देख नहीं सकता, इन्होंने भी वैसे ही दोनों पक्षोंके गुरु होकर भी एकही पक्षका अवलम्बन किया था। यह द्रोण ही संस्कारज-बुद्धि है। भले-बुरे सब प्रकारके कर्मही संस्कारमें परिणत होते हैं, इसलिये उससे जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह जीवको, क्या भला क्या बुरा, दोनों दिशाओंमें दौड़ाती है; इसलिये वह संसारी और मुक्तिकामी दोनों पक्षोंकी गुरु है। यह बुद्धि सर्वतोप्रसारिणी होनेपर भी मार्जित अर्थात् निर्मल न होनेसे, वह संसार की सीमामें ही आबद्ध रहती है, विरागकी ओर लक्ष्य रहनेसे भी वह उस ओर कार्यकरी नहीं होती; यही द्रोणके कौरव पक्ष अवलम्बनका कारण है। क्रियाके प्रारम्भ कालमें साधककी दुर्योधनवृत्ति पांडववृत्तिसमूहको दर्शन कर, संसारभावकी प्रतिपोषकस्वरूप सांस्कारिक बुद्धि बलवत् रहकर जिसमें वैराग्यकी पोषक न हो, इसलिये चेष्टा करता है। यही आचार्यके समीप गमनका तात्पर्य है।

"वचनं अब्रवीत्"

युक्तिपूर्ण बहुअर्थव्यञ्जक संक्षेप और हृदयग्राही वाक्यका नाम वचन है (इसका भावार्थ २०वें श्लोककी व्याख्यामें देखो)। इसलिये कहते हैं ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढ़ां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३॥

अन्वयः । हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य ! तव शिष्येण धीमता द्रुपदपुत्रेण (धृष्टद्युम्नेन) व्यूढां एतां महतीं चमूं पश्य ॥ ३ ॥

अनुवाद । हे पाण्डुपुत्रगणके आचार्य ! अपने शिष्य बुद्धिमान् धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहरचनासे सज्जित पाण्डवोंका यह विशाल सैन्य अवलोकन कीजिये ॥ ३ ॥

व्याख्या । द्रुपदका पुत्र–धृष्टद्युम्न=चैतन्यज्योति है। विवेक वैराग्यादिकी अनुगामी वृत्तिसमूह साधनकालमें सभी चैतन्यमुखी होती हैं और चैतन्यज्योतिके सहयोगसे सतेज होकर विवेकको खिलाते हैं । इसलिये धृष्टद्युम्न वा चैतन्य ज्योति द्वारा साधनानुकूल वृत्तिसमूह सजाया हुआ है, ऐसा वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

अत्रशूरा महेष्वासा भीमार्ज्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अन्वयः । युधि भीमार्जुनसमाः महेष्वासाः (महाधनुर्धराः) शूराः अत्र (अस्यां चम्वां वर्त्तन्ते)। युयुधानः (सात्यकिः), विराटश्च, महारथः द्रुपदश्च, धृष्टकेतुः (चेदीराजः), चेकितानः, वीर्यवान् काशीराजश्च, पुरुजित्, कुन्तीभोजश्च, नरपुंगवः शैब्यश्च, विक्रान्तः युधामन्युश्च, वीर्यवान् उत्तमौजाश्च, सौभद्रः (अभिमन्युः), द्रौपदेयाश्च (प्रतिविन्ध्यादयः द्रौपद्यां जाताः पञ्चपुत्राः)-(एते) सर्वे एव महारथाः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

अनुवाद । भीमार्जुन जैसे महाधनुर्धर शूरलोग इस सैन्य में युद्धार्थी हुये हैं। यह जो युयुधान, विराट्, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशीराज, पुरुजित्, कुन्तीभोज, नरश्रेष्ठ शैव्य, विक्रमशाली युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सौभद्र और द्रौपदेयगण हैं, ये सब ही महारथ हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

व्याख्या । इन सब नामोंका आध्यात्मिक अर्थ है- (१) युयुधान=श्रद्धा । यह अकेले हैं, परन्तु अनन्त विपक्षसैन्यके साथ युद्ध करनेकी क्षमता रखते हैं। (२) विराट=समाधि । (वि=विगत, राट्=राज्य); जो अपना राज्य दूसरेके हाथमें देकर सदा अलग रहते हैं, वही विराट हैं। (३) द्रुपद=(द्रु=द्रुत, पद=गमने) अन्तर्यामीत्व शक्ति, वैद्युतिक शक्ति वा तीव्र घन वेग । (४) धृष्टकेतु=यम । धृष्टानि=संयतानि, केतनानि=स्थनानि यस्य सः । जिस अवस्थामें स्थान समूह अर्थात् छःओं चक्रकी क्रियायें ही संयत होती हैं । (५) चेकितान= स्मृति । चिकि शब्दसे झिल्ली, तान शब्दसे स्वर; यह

चिंकिका पुत्र चेकि अर्थात् क्षीण झिंझिंट स्वर है, जो साधना करते करते अनाहत नादके उठनेसे पहिले साधकों को सुनाई देता है । बहुत ही बालक साधक भी इस्को जानते हैं । (६) काशीराज=प्रज्ञा, श्रेष्ठ प्रकाश शक्ति। (७) पुरुजित्=प्रत्याहार, सामान्य विश्राम। (८) कुन्तीभोज=आसन । कुन्=कर्षणे । (९) शैब्य= नियम । कल्याणदायिनी शक्ति । (१०) युधामन्यु= प्राणायाम । युद्ध सुनते ही मात्र जिनके क्रोध का उदय होता है। (११) उत्तमौजा=वीर्य। (१२) सौभद्र= संयम। धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्र समावेश। (१३) द्रौपदेय=पंचबिन्दु । पंचीकृत पंचमहाभूतों के विकार ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमिते॥७॥

अन्वयः । हे द्विजोत्तम ! तु अस्माकम् ये विशिष्टाः मम सैन्यस्य नायकाः तान् निबोध; ते संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ॥ ७ ॥

अनुवाद । हे द्विजोत्तम ! हम लोगों में जो सब प्रधान तथा हमारा सैन्य के नायक हैं, उन सबको मालूम कीजिये; आपके अवगति के लिये उन सबका नाम कहता हूं ॥ ७ ॥

व्याख्या । द्रोण संस्कारज बुद्धि होनेके कारण द्विज हैं—"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते। वेदपाठी भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥"

ब्राह्मण होकर चतुर्वेद अवगत रहने के कारण तथा क्षत्रिय वृत्ति अवलम्बन कर धनुर्वेदाभिज्ञ होने से द्रोणका उत्तमत्व है । बुद्धि ब्रह्मानन्द का भोग भी करती है, पुनः संसार बन्धन में पड़ कर अपना-पराया समझने में इष्ट की रक्षा और अनिष्ट का नाश करने लिये प्रस्तुत रहती है, इसी कारण से बुद्धि की उत्तमता है ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अन्वयः । भवान् (द्रोणः), भीष्मश्च, कर्णश्च, समितिंजयः (संग्रामजयी) कृपश्च, अश्वत्थामा, विकर्णश्च, सौमदत्तिः (सोमदत्तस्य पुत्रः भूरिश्रवाः), जयद्रथः, अन्ये च बहवः शूराः, सर्वे मदर्थे त्यक्तजीविताः (मत्प्रयोजनार्थ जीवितं त्यक्तुं अध्यवसिताः) नानाशस्त्रप्रहरणाः (नानाविध शस्त्रप्रहरणक्षमाः) युद्धविशारदाः (युद्धे निपुणाः) ॥८॥९॥

अनुवाद । आप, भीष्म, कर्ण, समरविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्ति, जयद्रथ तथा और भी दूसरे दूसरे बहुत बीर हैं, जो सब मेरे लिये प्राण त्याग करने को तैयार हैं, वह सभी नानाप्रकार अस्त्र शस्त्र धारी और युद्ध में निपुण हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

व्याख्या । इन सब नामों का आध्यात्मिक अर्थ है—

(१) भवान्-द्रोण । दो चक्षु रहने से भी जिनकी दृष्टि एक चक्षु में है, जो एक ओर की जगह युगपत् दोनों ओर देख नहीं सकते, जैसे काक । संस्कार-जनित बुद्धि । (सर्वतोमुखी होने पर भी एक ओर लक्ष्य रखनेसे यह बुद्धि निर्मल नहीं है । जो बुद्धि केवल ब्रह्ममुखमें प्रेरण करती है, वही निर्मल है । इसलिये पाण्डु ही निर्मल बुद्धि है, क्योंकि, पाण्डु ने राज्य के साथ विषय भोग परित्याग कर एकमात्र ईश्वर की आराधनामें मन दिया था। यह निर्मल बुद्धि भी जीवका बन्धन है, इस लिये इसको लय करने के लिये साधक को थोड़ा आसक्ति का प्रयोग करना पड़ता है; जैसे उस आसक्ति का उदय होना, वैसे बुद्धि का भी लय पाना । माद्रीमें आसक्त होनेके कारण पाण्डु की मृत्यु होने का यही तात्पर्य है) । (२) भीष्म = आभास चैतन्य वा अस्मिता । अविद्या जनित अहंकार । (३) कर्ण = कर्त्तव्य कर्म वा राग । (४) कृप=कल्पना वा अविद्या । (५) अश्वत्थामा—रुद्र, यम, काम और क्रोध, इन चारों शक्तियों का एकत्र समावेश वा कर्मफल । एकके कर्मफल द्वारा दो तीन पुरुष पर्यन्त भोग भोगना पड़ता है; विशेषतः पितामह का दोष-गुण पौत्र पर उतरता है । अश्वत्थामा द्वारा परीक्षित के प्राण नाश की चेष्टा का भावार्थ भी

यही है । (६) विकर्ण = अकर्त्तव्य कर्म वा द्वेष । (७) सौमदत्ति (भूरिश्रवा = भूरि श्रवति यः सः) = कर्म वा संसार । (८) जयद्रथ = अभिनिवेश वा मृत्युभय ।

"अविद्यास्मिता राग द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।"

इति पातञ्जल ।

(९) अन्ये च वहवः शूराः = शल्य कृतवर्मादि । शल्य = कण्टक वा शेल, जिसके रहने से क्रमान्वय क्लेश भोगना ही पड़ता है; कर्म-संस्कार अच्छा चाहे बुरा हो, वह जीवके संसार बन्धन का कारण है; इसलिये शल्य जीवका संस्कारज कर्म है । क्रियायोग कर अन्त में यह आकाश तत्व में लय होते हैं इसलिये, महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा शल्य बधकी बात प्रकट हुई है । कृत-वर्मा = शरीर के प्रति मोह, शरीर की रक्षा करने की प्रवृत्ति । "युद्धविशारदाः"—वह सब वृत्तियां सत्कर्म की सिद्धि के पक्षमें कण्टक स्वरूप होने से जीवको संसार मार्ग में आबद्ध कर रखनेके लिये समर्थ है अर्थात् उन सवमें कोई एक भी रहने से जीवका निस्तार वा मुक्ति नहीं होती ॥ ८ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वयः । भीष्माभिरक्षितं अस्माकं तत् (तथाभूतैर्वीरैर्युक्तं) बलं (सैन्यं) अपर्य्याप्तं (असमर्थं भाति), तु (किन्तु) एतेषां (पाण्डवानां) इदं बलं पर्य्याप्तं [समर्थं भाति] ॥ १० ॥

अनुवाद । भीष्म द्वारा रक्षित हमलोगोंकी वह सैन्य अपर्य्याप्त है, किन्तु भीम द्वारा रक्षित पाण्डवों की यह सैन्य पर्य्याप्त है ॥ १० ॥

व्याख्या। ३यसे १०म श्लोकका भावार्थ।—धृष्टद्युम्न द्रोणका शिष्य है, इस्का अर्थ यह है कि, चैतन्यज्योति बुद्धि के द्वाराही प्रकाश पाती है। परन्तु चैतन्यज्योति प्रकाश होते ही बुद्धि को लय करने की चेष्टा में रहती है, तब साधक के मनमें वासना वृत्ति जागरूक होकर विषय बुद्धिको उत्तेजित करने के लियेही मानो कहती है, हे बुद्धि ! तुम जिसको प्यार करती हो और तुमसे ही जिस्की वृद्धि है, वह चैतन्यज्योति ही तुमको नष्ट करने पर उद्यत हुई है; अब उस्को प्रश्रय न देना, शीघ्रही उस्को विनष्ट करो। यद्यपि चैतन्यज्योति द्वारा उद्भासित वो युयुधानादि वृत्ति समूह ही महारथ हैं (जिस पर मन दिया जाय, वही मनको खींचके कामनाको स्तम्भन करने की शक्ति रखता है) अर्थात् तीव्रवेगशाली, ऐसे कि वायु और तेज जैसे वेगवान, तथापि, वह सब कुछ भी नहीं, अस्मदादि पक्ष की तुलना में वह सब अकिंचित्कर हैं; क्योंकि अस्मद् पक्षमें आप, भीष्म और कर्ण प्रभृति के रहने से हम सब में क्षत्रियबल और ब्रह्मबल दोनों

ही बल वर्त्तमान हैं। परन्तु उनसबके (दलमें) केवलमात्र क्षत्रियबल रहने से वह निस्तेज हैं । केवल ऐसा ही नहीं, अस्मदादिका दल अपरिमित है; और भीष्म जो आभास-चैतन्य है, जिनकी मृत्यु वा लय भी नहीं कहा जा सक्ता, वही हम सबके रक्षक हैं। और उन सबका दल परिमित, हम सबसे बहुतही कम, तथा रक्षक भीम अर्थात् वायु है, जो सदा चंचल और अनिश्चित-प्रताप है।

११ श श्लोक कहनेका हेतुस्वरूप मानो और भी कहा गया कि,—भीष्म कर्ण को अर्द्धरथी कहने के कारण कर्ण (कर्त्तव्य कर्म) क्रोध के मारे प्रतिज्ञा कर चुके कि, जितने दिन भीष्म युद्ध करेंगे उतने दिन वह अस्त्र धारण न करेंगे। (समरांगन में कर्त्तव्य कर्मका अभाव ही दुर्योधनके भयका कारण है।) अतएव;—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वयः । भवन्तः सर्वे एव सर्वेषु अयनेषु च यथाभागं अवस्थिताः [सन्तः] भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु ॥ ११ ॥

अनुवाद । आप सब लोग प्रत्येक व्यूह के प्रवेश द्वार पर अपने अपने विभाग के अनुसार खड़े होकर भीष्मकी ही रक्षा कीजिये ॥११॥

व्याख्या । "भीष्मकी ही रक्षा कीजिये" कहनेका तात्पर्य यह है कि, चिदाभास अर्थात् देहात्माभिमानिता वा अस्मिता के सचेत रहनेसे, हजारों ब्रह्मज्ञानका उप-

देश भी किसी तरहसे किसी कालमें वासनाजालको नष्ट न कर सकेगा । "सर्वेषु अयनेषु"—मूलाधारादि छः चक्रही अयन अर्थात् योगका पथ है । प्रत्येक चक्र में ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों पक्ष विद्यमान हैं, यथा;—

स्थान	पाण्डव पक्ष	कौरव पक्ष	
मूलाधार···	क्षिति (सहदेव) शम	काम (दुर्योधन)	अश्वत्थामा = कर्मफल ।
स्वाधिष्ठान···	अप् (नकुल) दम	क्रोध(दुःशासन) और मृत्युभय (जयद्रथ)परस्पर सापेक्ष होनेसे यह लोग इकठे रहते हैं ।	
मणिपुर···	तेज (अर्जुन) तितिक्षा	लोभ (कर्ण = कर्तव्य कर्म और विकर्ण = अकर्तव्य कर्म)	
अनाहत···	मरुत (भीम) उपरति	मोह (शकुनि इन्होंने मोह उत्पन्न कराके कौरवोंको द्युत क्रियामें प्रवृत्त किया था।)	
विशुद्ध···	व्योम (युधिष्ठिर) श्रद्धा	मद (मद्रराज शल्य)	
आज्ञा···	कूटस्थ चैतन्य (श्री कृष्ण) समाधान	मत्सरता(भीष्म,द्रोण और कृप)	

शमादि बन्धु और कामादि रिपु जीवमात्रों के कर्मफल का प्रकाश है इसलिये अश्वत्थामा इन मूलाधारादि छः स्थानोंमें ही है ।

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

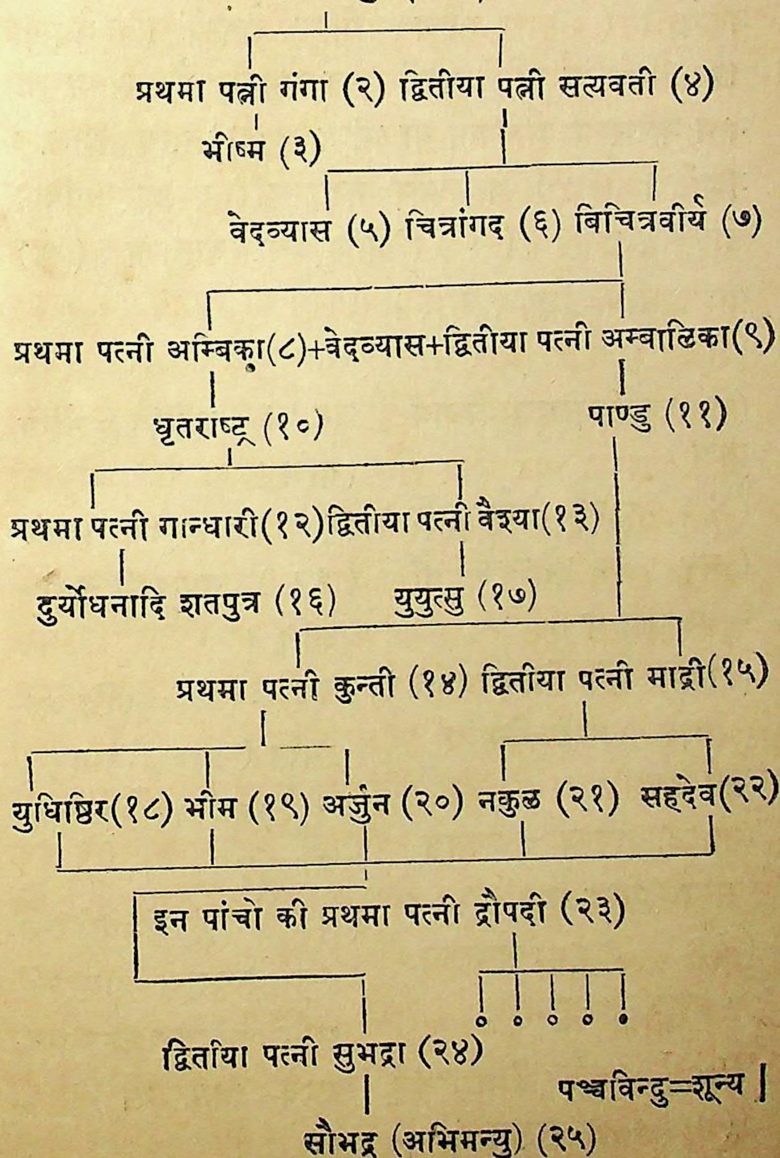
अन्वयः । कुरुवृद्धः प्रतापवान् पितामहः (भीष्मः) तस्य [दुर्योधनस्य] हर्षं संजनयन् उच्चैः (महान्तं) सिंहनादं विनद्य [कृत्वा] शंखं दध्मौ [वादितवान्] ॥ १२ ॥

अनुवाद । तब प्रतापवान् कुरुवृद्ध पितामह भीष्मने उन्हें [दुर्यो-धनको] आनन्दोत्पादन करा उच्चैःस्वरमें सिंहनादकर शंखध्वनि की ॥ १२ ॥

व्याख्या । पड़ता जब बुरा पड़ता है, तब रसिकता भी गाली होकरके खड़ी होती है। दुर्योधनने पाण्डवों के ऊपर गुरुका क्रोध उद्दीपन करा अपने कल्याण की आकांक्षामें बात कहने जा कर "पाण्डुपुत्रोंके आचार्य" ऐसी बुरी बात कह दी। गुरुके हृदयमें थोड़ा आघात लगा। गुरुने सोचा कि दुर्योधन मुझे अर्थ देता है, इसलिये आज उसने मुझको "पाण्डुपुत्रोंका आचार्य" कहा, अपना गुरु स्वीकार न किया; पक्षान्तर में हमारे ऊपर प्रभुता भी दिखलाई; यह सोच करके उन्होंने उपेक्षा कर दुर्योधन के बातका उत्तर देना उचित न समझा। भीष्मने आचार्य का यह उपेक्षा समझ कर जिसमें दुर्योधन निरुत्साह न होजाय, इसलिये सिंहनाद और शंखध्वनि की।

सिंहनाद, शंख ।—साधना के प्रथम अवस्थामें जब क्रिया विशेष द्वारा वायुका निरोध होता रहता है, तब अभ्यासके अल्पताके कारण बासनाके वशमें वायुकी ताड़ना करके साधक अवरुद्ध वायुको त्याग करने के लिये बाध्य होते हैं; और उस रुद्धवायु की यातनासे शीघ्र शीघ्र निष्कृति पाने लिये इस प्रकार वेगसे दीर्घ निश्वास को छोड़ते हैं कि, भीतरमें वो सिंहनादके सदृश मालूम होता है, और साथही साथ एक ध्वनिका उत्थान होता है (अल्प साधनामें ही वह ध्वनि सुनने में आती है), उसका स्वर मोटा और गम्भीर है; वही भीष्मकी शंख-ध्वनि है। निश्वास वेगसे त्याग होनेके कारण शरीर सुस्थ मालूम होता है, और उसका आवाज सुननेमें मधुर होनेसे एक प्रकार का आनन्द भी होता है; उससे वासना वृत्ति खिल आती है, क्योंकि फिर् बाहरके विषय भोगके लिये सुयोग आ पहुंचा। इसको ही दुर्योधन का हर्ष कहा ज़ाता है; उस श्रुतिमधुर शब्द को सुनते जाओ तो, वह वायुके ताड़नसे शीघ्रही मिलावटके साथ एक अस्पष्ट शब्द में परिणत होता है, इसलिये तुमुल है (जो नीचे कहा जाता है)।

भीष्म जो "कुरुबृद्धः पितामहः" है, उसका कारण निम्नलिखित योगशास्त्रके अर्थके साथ कुरु वंशकी सूची पढ़नेसे ही समझ सकते हैं।


शान्तनु (१)
प्रथमा पत्नी गंगा (२) द्वितीया पत्नी सत्यवती (४)
भीष्म (३)
वेदव्यास (५) चित्रांगद (६) बिचित्रवीर्य (७)
प्रथमा पत्नी अम्बिका(८)+वेदव्यास+द्वितीया पत्नी अम्बालिका(९)
धृतराष्ट्र (१०)
पाण्डु (११)
प्रथमा पत्नी गान्धारी(१२)द्वितीया पत्नी वैश्या(१३)
दुर्योधनादि शतपुत्र (१६)
युयुत्सु (१७)
प्रथमा पत्नी कुन्ती (१४) द्वितीया पत्नी माद्री(१५)
युधिष्ठिर(१८) भीम (१९) अर्जुन (२०) नकुल (२१) सहदेव(२२)
इन पांचो की प्रथमा पत्नी द्रौपदी (२३)
द्वितीया पत्नी सुभद्रा (२४)
पञ्चविन्दु=शून्य ।
सौभद्र (अभिमन्यु) (२५)

(१) शान्तनु=निर्विकार ब्रह्मचैतन्य। (२) गंगा=चैतन्या प्रकृति । (३) भीष्म=आभास चैतन्य (गंगाके गर्भसे आठपुत्र भये, वोही सब अष्टवसु हैं; अष्टम का नाम प्रभास = अस्मिता वा भीष्म)। (४) सत्यवती=जड़ प्रकृति। (५) वेदव्यास=भेदज्ञान (पराशर ऋषिके शुक्रजात पुत्र)। (६) चित्रांगद=ऐश महत्तत्त्व । (७) विचित्रवीर्य=ऐश अहंकार ।

(८) अम्बिका=संशय वृत्ति ।

(९) अम्बालिका=निश्चय वृत्ति ।

(१०) धृतराष्ट्र=मन (अन्ध)

(११) पाण्डु=निर्मल बुद्धि (यह पुरुष होकरके भी नपुंसकवत् थे ।)

(१२) गान्धारी=प्रवृत्ति शक्ति ।

(१३) वैश्या=प्रवृत्ति आसक्ति (ग्रहण, त्याग)।

(१४)कुन्ती=निवृत्ति शक्ति।

(१५) माद्री=निवृत्ति आसक्ति ।

(१६) दुर्योधनादि=कामक्रोधादि ।

(१७) युयुत्सु=युद्धेच्छा (इसने युद्धके प्राक्कालमें ससैन्य पांडव पक्षका अवलम्बन किया था)।

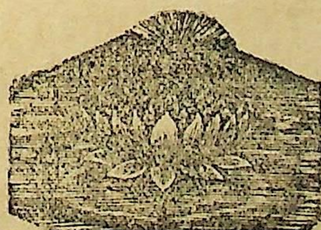
(१८) युधिष्ठिर=आकाशतत्त्व (शब्द गुण)।

(१९) भीम = वायुतत्त्व (शब्द स्पर्श गुण)।

(२०) अर्जुन=तेजस्तत्त्व (शब्द स्पर्श रूप गुण)।

(२१) नकुल=रसतत्त्व
(शब्द स्पर्श रूप रसगुण)
(२२) सहदेव=पृथ्वीतत्त्व
(शब्द स्पर्श रूप रस गंध गुण
(२३) द्रौपदी=कुलकुण्ड-
लिनी ।
(२४) सुभद्रा=अतिशय
पंनक शक्ति ।
(२५) अभिमन्यु=संयम
अर्थात धारणा-ध्यान-
समाधिका एकत्र समावेश ।

(७ संख्या के बाद बायें किनारे अर्थात् बायें तरफ के स्तम्भ में पांडव वंश और दाहिने तरफके स्तम्भमें धृत्तराष्ट्र का वंश दिखाया गया ।) ॥१२॥



ततः शङ्खाश्च भेर्य्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

अन्वयः । ततः (तदनन्तरं) शंखाश्च भेर्यश्च पणवाः (मर्दलाः) आनकाः (ढक्काः) गोमुखाश्च (वाद्यविशेषाः) सहसा एव अभ्यहन्यन्त (वादिताः), सः शब्दः तुमुलः (महान्) अभवत् ॥ १३ ॥

अनुवाद । उसके बाद शङ्ख, भेरी, पणव, आनक, और गोमुखादि बाजे सहसा बज उठे; उसका तुमुल शब्द हो गया ॥ १३ ॥

व्याख्या । साधकके इस अवस्थामें आ पहुंचनेसे उनके शरीरकी नाड़ी समूहके छिद्र पथमें वायुके प्रवेश करनेके कारण नाना प्रकारके शब्द उठते हैं । तुरी, भेरी, ढक्का, ढोल कांसी, वंशी प्रभृतिके एकसाथ बजनेसे जो गोल माल मिला हुआ एक शब्दका झुरमुट सुननेमें आता है, यह शब्द भी उसी तरह का एक है, जैसे बहुत दूरसे हाट सट्टी या बाजार का रव मच रहा है, वैसा ही शब्द सुनाई देता है ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

अन्वयः । ततः श्वेतैः हयैः (अश्वैः) युक्ते महति स्यन्दने (रथे) स्थितौ माधवः (श्रीकृष्णः) पाण्डवश्च (अर्जुनश्च) एव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः (प्रकर्षेण वादयामासतु) ॥ १४ ॥

अनुवाद । इसके उपरान्त माधव (श्रीकृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) ने श्वेत अश्वयुक्त महारथमें बैठके दिव्य दो शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥

व्याख्या। वासनावृत्ति (प्रवृत्ति) द्वारा साधक के ऊपर पड़ने से भी आत्ममुखी वृत्ति (निवृत्ति) मनमें उदय हो करके फिर उनको ऊर्द्धमना करती है, अर्थात् साधक जब वहिर्मुखी वृत्ति को समेटके हृदयमें प्रवेश करते हैं, तब अधिकतर ऊंचे किसी एक स्थानमें वह अटक जाते हैं; वही स्थान महता स्यन्दन या उत्कृष्ट रथ है। तब साधकको एक शुभ्र ज्योतिः देखने में आती है; वही "श्वेत अश्व" है, वह ज्योतिः तत्क्षणात् चार टुकड़े होकर दहिने, बांयें, ऊंचे, नीचे की तरफ विद्युद्वेगकी तरह दिखाई देके हट जाती है। उसी ज्योतिके बाद (हृदयमें) अखण्ड मंडलाकार घोर कृष्णवर्ण पद दिखाई देता है। वही "माधव" (मा=लक्ष्मी, सत्वगुणा महाशक्ति[प्रकाश]+धव=पति [कृष्ण] अर्थात् महत् प्रकाश जिसकी गोदमें बैठ कर प्रकाशित होते हैं, वही माधव हैं)। अन्तमें साधकको इस कृष्ण वर्ण मण्डलके पश्चात् (भीतर) एक अधिकतर उज्ज्वल गहरा कृष्णवर्ण विन्दु देख पड़ता है; वही विन्दु "पाण्डव" (अर्जुन) हैं। इस प्रकार देखते देखते मन जब निष्पन्द हो जाता है, तब एक आकाशव्यापी शब्द का उत्थान होता है; वह शब्द कैसा और उसका उत्पत्ति स्थान भी किस प्रकार का है, इसके उपरान्तके श्लोकमें वह कहा जाता है ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥१८॥

अन्वयः। हृषीकेशः पांचजन्यं (शङ्खं), धनंजयः देवदत्तं (शंखं) भीमकर्मा वृकोदरः (भीमः) महाशंखं पौण्ड्रं दध्मौ; कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं (शंखं) दध्मौ; नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणि-पुष्पकौ (शङ्खौ दध्मतुः); हे पृथिवीपते ! परमेष्वासः काश्यश्च (काशीराजः), महारथः शिखण्डी च, धृष्टद्युम्नः, विराटश्च, अपराजितः सात्यकिश्च, द्रुपदः द्रौपदेयाश्च, महाबाहुः सौभद्रश्च, सर्वशः (सर्वे एव) पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

अनुवाद। हृषीकेशने पांचजन्य शङ्ख, धनंजयने देवदत्त शङ्ख, भीमकर्मा वृकोदरने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख, कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय शङ्ख, नकुलने सुघोष और सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया। हे महाराज! महाधनुर्धर काशीराज, महारथ शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अपराजित सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदेयगण और महाबाहु सुभद्रातनय प्रभृति वीरोंने पृथक् पृथक् शंख बजाये ॥ १५ ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥ १८ ॥

व्याख्या । "हृषीकेशः"—हृषीका=इन्द्रिय समूह, ईश=नियन्ता; जो इन्द्रियोंके नियन्ता हैं, जिसके तेजसे इन्द्रिय समूह अपना अपना काम काज करती हैं, वही हृषीकेश (श्रीकृष्ण) कूटस्थ-चैतन्य हैं; इनका स्थान आज्ञाचक्र है । मूलाधारादि पांच चक्रसे उठे हुये पांच स्वर एक साथ मिलकरके आज्ञाचक्रके भीतरसे अनुभवमें आती है; इसलिये श्रीकृष्णके शङ्खको पांचजन्य कहते हैं ।

"धनञ्जय"—धन=विभूति (जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृष्णा), जय=जयकरना; अर्थात् विभूति विजयी ही धनंजय पदवाच्य है । तेजसे ही क्रिया शक्तिका विकाश होता है, वायु भी तेजसे ही बहती रहती है; अतएव जो कुछ शक्तिका प्रकाश है, वह तेज द्वारा ही है; इसलिये तेजतत्वका नाम धनंजय है । इनका स्थान मणिपुर चक्र है; वहां यह वैश्वानर नामसे जीवकी जीवनी शक्ति (अन्न-पचन-रस रूप अमृत) प्रदान करते हैं । यह वैश्वानर देव ही सब देवताके मुखस्वरूप हैं; इसीलिये साधनक्रमसे उस मणिपुर चक्रसे जो वीणा शब्दवत् शब्द उठता है, उसका नाम देवदत्तशङ्ख ध्वनि है, अनुभवात्मिका वृत्ति वा सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था है ।

"वृकोदर"-(वृक=अग्नि, उदर=पेट; वृक

नामा अग्निके पेटमें रहनेके कारण भीमका नाम वृको-दर है)—वायुतत्व । अग्नि वायुसे ही उत्पन्न हो फिर वायुमें ही लयको प्राप्त होती है; इसीलिये कहा जाता है कि वायुके भीतर अग्नि है । इसी कारणवश वायुतत्वको वृकोदर कहा जाता है । वायुका स्थान हृदयस्थ अनाहत चक्र है । साधन क्रमसे यहांसे दीर्घ घण्टा निनादवत् एक शब्द उठता है; उसीका नाम पौण्ड्र-शङ्खध्वनि, अहंकार वृत्ति वा सास्मिता सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था है ।

"महाशङ्ख"—"नृललाटास्थिखण्डेन रचिता जप-मालिका । महाशङ्खमयी ज्ञेया महाविद्या सुसिद्धिदा ॥" (नीलतन्त्रम्) । अर्थात् आज्ञाचक्रके ऊपर "दशांगुल" स्थानमें (कपालके अस्थिखण्डके नीचे ही, माथा के घिउ के बाहरमें) ५१ एकावन छिद्रयुक्त अति कोमल एक खण्ड आस्थि है; उसीको महाशङ्ख कहते हैं । उसके ठीक बीचके छिद्रको सुमेरु कहते हैं । शरीरका समस्त स्थान ही आहत है, केवल वह दशांगुल परिमित स्थान ही अनाहत है । साधनक्रममें वायु जब वह सुमेरु भेद करके सहस्रारमें जाती है, तबही दीर्घघण्टा-निनादवत् अकम्पन महाशङ्ख-ध्वनि सुननेमें आती है; वही भीमकी शङ्खध्वनि है ।

"युधिष्ठिर"—(युद्ध करके जिसको कोई हटा नहीं

सकता) =आकाश-तत्व । आकाश सदा काल स्थिर है; मट्टी-जल-तेज--वायुकी प्रबल ताड़नासे भी आकाशमें किसी प्रकारकी चंचलता नहीं आती; इसीलिये आकाश-तत्वका नाम युधिष्ठिर है । इनका स्थान विशुद्ध चक्र है; साधनक्रममें इस चक्रसे मेघ-गर्जन-शब्दवत् शब्द उठता है ; इसीको अनंतविजय-शङ्खध्वनि कहते हैं, क्योंकि इस शब्दको दूसरा कोई शब्द अतिक्रम कर नहीं सकता । इस शब्दमें मन मिला देनेसे सर्ववृत्तिशून्य असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था आती है ।

"नकुल" = रसतत्व । जितने प्रकारका रस है, भोग करके उसका शेष कोई कर नहीं सकता, अर्थात् भोगसे रसका पार (सीमा) मिलती नहीं; इस कारण रस-तत्वका नाम नकुल है । इनका स्थान लिङ्गमूलस्थ स्वाधिष्ठान चक्र है । साधन क्रममें यहांसे वेणु शब्दवत् शब्द उठता है; तिसका नाम सुघोष शङ्ख ध्वनि है, यह निश्चयात्मिका वृत्ति वा सविचार सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था है ।

"सहदेव"=पृथ्वीतत्व । (सह = सहित, देव = जो खेलता रहता है) । पृथ्वीके साथ ही जीवका खेल, अर्थात् पांच भूतोंके भीतर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच गुणयुक्त पार्थिवाणुके साथही जीवका घनिष्ठ सम्बन्ध अधिक है; इसलिये पृथ्वी-तत्वका नाम सहदेव

है; इस घनिष्ठताके कारण ही (स्थूल) शरीराभिमान प्रबल है । मूलाधार चक्र इस पृथ्वीतत्वका स्थान है; साधन क्रमसे यहांसे मत्तभृंगशब्दवत् शब्द उठता है; यही मणिपुष्पक शङ्ख ध्वनि है, यह संशयात्मिका वृत्ति वा सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था है ।

कूटस्थ लक्ष्य करके ही क्रिया करनेका उपदेश है । आज्ञाचक्रमें अकम्पन स्थिति लाभ करनेसे ही ज्ञान विज्ञानविद् हुआ जाता है; क्योंकि यहां अति सूक्ष्माकार-से पंचतत्व ही वर्त्तमान रहता है, इसलिये मूलाधारादि पंच चक्रका जानने वाला विषय समूह यहां ही मालूम हो जाता है; फिर तत्वातीत निरंजन पुरुष भी वहां विद्यमान हैं, इससे उनके संस्पर्श के लिये "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "तत्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि महावाक्य समूह का अर्थ प्रत्यक्ष करके, पश्चात् ब्राह्मीस्थिति लाभ करके "सर्व खलु इदं ब्रह्म" ज्ञानमें जीवन्मुक्त हो करके विचरण किया जाता है । क्रियाकालमें क्रिया करते करते कूटस्थ में मनस्थिर होते होते एक वायु नीचेसे ऊर्द्ध दिशामें सरासर तीव्रवेगसे उठती रहती है, और उसीके साथ एक शब्दका भी उत्थान होता है, उसी शब्दको 'नाद' कहते हैं । किन्तु कूटस्थमें लक्ष्य रखके मनस्थिर होनेके समय, उस वायुका धक्का (शब्दकी ध्वनि) पहिले

आज्ञाचक्रमें ही अनुभव होता है। वह नाद एकाग्र मन कर सुननेसे समझमें आता है कि, भिन्न भिन्न बहुत सा स्वर इकट्ठा मिले हुये एक स्वतन्त्र शब्द सरीखे बज रहा है; वही शब्द ही हृषीकेशका पांचजन्य शंखध्वनि है। तब (गुरुपदेशके मतसे) मानस क्रिया से उस ध्वनिके भीतर प्रवेश करनेके लिये चेष्टा करनी पड़ती है। चेष्टा मात्रसे ही, उस वायुके शक्तिसंचार के कारण-स्वरूप मणिपुरस्थ तेज-तत्वका आविर्भाव होने पर उस ध्वनिके ठीक बीचमें एक तेजोमय ज्योति खिल आती है ("ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः"), वैसे साथही साथ ध्वनिका भी परिवर्तन होता है; तब ठीक झंकारके साथ वीणा-शब्दवत् शब्द बज उठता है। यह शब्द ही अर्जुन का "देवदत्त" शंखनाद है। उस वीणा-शब्दके भीतर मनको प्रवेश कराते जाओ तो, उस ऊर्द्धगामी वायुके धक्कामें वायुतत्वका प्रकाश प्रत्यक्षमें आता है, और साथ ही साथ शब्द भी बदलकर दीर्घघण्टानिनादवत् ध्वनि श्रुतिमें आती है। यही शब्द भीमका पौण्ड्रनामा महा शंखध्वनि है। इस शब्दके भीतर मनको प्रवेश करानेसे, तीव्र वैद्युदिक शक्ति उत्पन्न हो मनको विशुद्ध में उठाकर आकाशव्यापी करदेती है। बाहर भी शरीर में रोमाञ्च होता है, और मेघगर्जन सदृश शब्द सुनने

में आता है; वही शब्द युधिष्ठिरका अनंतविजय-शङ्ख ध्वनि है। विशुद्ध कमलमें पहुंच करके उस वायुका वेग एकदम निस्तेज हो जाता है। पांचभौतिकका अवलम्बन न पानेसे वह और ऊपर उठ नहीं सकता, तब धीरे धीरे नीचे की तरफ विस्तार होता रहता है; निम्नगति होनेसे ही उसका धक्का (कोई प्रकार बाधा न पाके) एकदम स्वाधिष्ठानमें पहुंचते ही सुमधुर वेणु शब्दवत् शब्द उठता है, वही शब्द नकुलका सुघोष-शङ्खरव है। इस समयमें एक प्रकार अपार आनन्दरसके प्रकाशसे मन विभोर हो जाता है; किन्तु उस वायुका वेग, नीचेकी तरफ क्रमानुसार प्रबलसे प्रबलतर होनेपर, स्वाधिष्ठानको स्पर्श करके ही मूलाधार में आ जाती है; क्रम अनुसार उसका वेग जैसा स्थिर होता है; वैसाही ठीक मत्तभृङ्गके शब्द सदृश शब्द उठता है; जिसका नाम सहदेवका मणिपुष्पक-शङ्खध्वनि है। इस शब्दमें साधकका मन बड़ा मतवाला हो जाता है; जैसे मतवाला होना, वैसे ही चंचलताका प्रकाश, उस चंचलताको आश्रय करके मन बाहर में आ पहुंचता है। इस समय साधकको निमिष के भीतर "पृथक् पृथक्" बहुतसा शब्द एकादिक्रम से सुननेमें आता है। इन सब शब्दोंका विषय १७। १८ श्लोकमें लिखा है। किन्तु मनके चंचलता हेतु उन सब

शब्दोंके क्षणस्थायी और अपरिस्फुट होनेसे वह अच्छी तरह धारणामें नहीं आता।

साधकके क्रियाकालमें प्रवृत्ति और निवृत्तिके ताड़नमें अभिभूत होकर कूटस्थकी तरफ लक्ष्य फेंकने में बाध्य होने पर साधक क्रमान्वय नाना प्रकारके रंग विरंगे रूप देखते और नाना प्रकार बारीक मोटा स्वर सुनते हैं। उन सबकी बात इन कई श्लोकोंमें कही गई॥ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

अन्वयः) सः तुमुलः घोषः (शब्दः) नभश्च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन् (प्रतिध्वनिभिः आपुरयन्) धार्त्तराष्ट्राणां (दुर्योधनादीनां) हृदयानि व्यदारयत् (विदारितवान्) ॥ १९ ॥

अनुवाद। उस तुमुल शब्दने आकाश और पृथिवीको अपनी प्रतिध्वनिसे विशेष प्रकारसे परिपूर्ण कर धार्त्तराष्ट्रोंके हृदयको (मानो) विदीर्ण किया ॥ १९ ॥

व्याख्या। वैसे स्वरसमूह जब सुननेमें आते हैं, तब साधकका अन्तःकरण अवश हो करके उसी तरफ आकृष्ट होता है। पृथिवी (मूलाधार) और आकाश (विशुद्ध) पर्य्यन्त समस्त स्थान ही नादसे परिपूर्ण हो जाता है । परन्तु तब उनके मनमें वासना-वृत्तिके

प्रबल रहनेसे भला बुरा समझमें न आनेके कारण उन सब शब्दोंको उपद्रव-जनक समझकर साधक उसे परित्याग करनेकी चेष्टा करते हैं, लेकिन कर नहीं सकते । हृदयमें एक प्रकारकी व्याकुलता आ जाती है, जिससे मालूम होता है कि हृदय मानो विदीर्ण हो गया। साधनक्रममें, सर्व प्रथम नाद उठना प्रारम्भ होनेसे ही ऐसी ऐसी अवस्था होती है। यह सब स्वयं ही समझा जाता है, कहकर समझाया नहीं जा सकता ।

उद्वेगके समय मनमें एक बुरा भाव उठनेसे उसके बाद ही स्वभावतः अच्छे भावका उदय होता है; यह अभ्रान्त सत्य है । इसलिये साधकके मनमें इस प्रकार "धृतराष्ट्र" भावके उदय होनेके बाद ही (२० श्लोकमें लिखा हुआ) "पाण्डव" भाव उठता है । किन्तु वासनाके प्रबल रहनेसे जैसे ज्ञानकी बातें भी अज्ञानतासे पूर्ण हो जाती हैं; २१ श्लोकसे अर्जुन के कथन समूह भी उसी प्रकारके हैं ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥२०॥

अन्वयः । हे महीपते ! अथ [महाशब्दानन्तरं] शस्त्रसम्पाते

प्रवृत्ते [सति] तदा कपिध्वजः पाण्डवः [अर्जुनः] व्यवस्थितान् (युद्धोद्योगे अवस्थितान्) धार्त्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा धनुः उद्यम्य (उत्तोल्य) हृषीकेशं इदं वाक्यं आह ॥ २० ॥

अनुवाद । हे महाराज ! अनन्तर शस्त्र सम्पातमें प्रवृत्त होने पर, कपिध्वज अर्जुनने युद्धोद्योगके लिये अवस्थित धार्त्तराष्ट्रोंको देखके धनु उठाकर हृषीकेशसे यह बात कही ॥ २० ॥

व्याख्या । "कपिध्वज"—क्रियाकालमें जुबानको उलट कर नासारन्ध्रके ऊपर श्लेष्माके स्थानको अतिक्रम करके डगला थोड़ासा बांई तरफ हिलाकर (आपही हिल जाता है) रखना होता है, इसीको साधककी कपिध्वज अवस्था कहते हैं ।

"धनुरुद्यम"—मेरुदण्ड अर्थात् पीठकी रीढ़का नाम धनु है। "समं कायशिरोग्रीवं" होनेसे ही पीठकी रीढ़ धनुषाकार में पिछाड़ीकी तरफ झुक जाती है । छातीको चितकर मस्तकको सीधा उठा चिबुकको कण्ठकूपकी तरफ़ संयत कर रखनेसे ही मेरुदण्ड उस प्रकार आकार धारण करता है। इसलिये उस प्रकार बैठनेका नाम "धनुरुद्यमन" है । ऐसे समय प्रवृत्तिका दल छिद्र पाते मात्र विषयकी ओर दौड़ता है । और निवृत्तिका दल भी साधक को आत्मामें मिलानेके लिये आत्मसुखमें ले जाता है,—

इस प्रकारसे समस्त वृत्तियां भी अपना अपना काम सबसे पहले करनेके लिये स्थिर और प्रस्तुत होके रहती हैं; इस प्रकारकी अवस्थाको ही "प्रवृत्ते शस्त्र-सम्पाते" कहकर व्यक्त किया गया ।

इसी अवस्थामें ही हृषीकेशका (हृषिका = इन्द्रियां, ईश=नियन्ता) आविर्भाव होता है; अर्थात् समुदाय इन्द्रिय वृत्तिके निज निज कार्य्यमें उन्मुख रहनेसे उन सबके ऊपर, आधिपत्य करानेकी शक्ति साधकमें आती है, उसी संयम-शक्तिका नाम हृषीकेश है ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ॥

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथंस्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अन्वयः । हे अच्युत ! उभयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय; अहं योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान्—अस्मिन् रणसमुद्यमे कैः सह मया योद्धव्यं (तत् च) यावत् (साकल्यं) निरीक्षे । [अपिच] युद्धे दुर्बुद्धेः धार्त्तराष्ट्रस्य (दुर्य्योधनस्य) प्रियचिकीर्षवः (हितं इच्छन्तः

सन्तः) ये एते अत्र समागताः, अहं तान् योत्स्यमानान् (युद्धार्थीन्) अवेक्षे ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं । हे अच्युत ! हमारा रथ दोनों सेनाके ठीक बीचमें (सन्धिस्थलमें) रखिये । युद्धेच्छा करके यह जो सैन्य समूह खड़ी हुई हैं, इस युद्धमें इनमें किसके किसके साथ मुझे युद्ध करना पड़ेगा, उसे अच्छी तरहसे मैं देख लूं । और भी इस युद्धमें दुर्बुद्धि दुर्योधनकी हित कामना करके जो जो यहां आये हैं, उन सब युद्धार्थीयोंका भी मैं दर्शन कर लूं ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

व्याख्या ।"अर्जुन उवाच"–अब श्रीकृष्णार्जुन सम्बाद प्रारम्भ हुआ । इसलिये कहा गया "अर्जुन उवाच" = अर्जुन कहते हैं । अर्जुन (अ+रज्जु+न, ८ म अध्याय का १ म श्लोककी व्याख्या देखिये)-जो पाश मुक्त नहीं है; अर्थात् साधकके संसाराबद्ध जीवावस्थाका नाम अर्जुन है। यहां साधकको ही अर्जुन कहा गया है । साधकको साधनाके जीवनमें भिन्न भिन्न अवस्थाओंका भोग करना पड़ता है; उस एक एक अवस्थामें उनका एक एक नाम भी पड़ता है । योगशास्त्रका सारभूत इस गीताको समझनेके लिये साधारणतः साधककी तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया जा सकता है। पहली अवस्था—दीक्षा-संस्कारसे द्विजत्व ले करके क्रियाके प्रथमसे प्रारम्भ करके मृणालतन्तु सदृश अति सूक्ष्म सुषुम्ना-पथके प्रवेश-द्वारमें आने पर्य्यन्त होती है। यह अवस्था एकदम चंचलतामय

है । यही साधककी बालक अवस्था है । इस अवस्थामें केवल गुरुकृपाबलसे कूटस्थज्योतिसे उन्मना (ऊर्द्ध्वमें आकृष्ट मन) होकर क्रिया करते करते साधकके हृदयमें बलका संचय होता रहता है। यही अवस्था महाभारतमें पाण्डवोंके बनबास-कालके नामसे वर्णित हुई है ।

इसके बाद द्वितीय अवस्था है। क्रिया द्वारा मनकी प्रबल चञ्चलताको नष्ट तथा बाहरका ज्ञान क्षीण करके सुषुम्नामें उस सूक्ष्मातिसूक्ष्मतम छिद्रपथमें मनको प्रवेश कराना ही साधककी द्वितीयावस्था है । उस समय शरीरकी जो जो अवस्था होती, और मनमें जो जो भाव उठते, तथा जो जो दर्शनमें और सुननेमें आते हैं, वही समस्त श्रीकृष्णार्जुनसम्बाद कहकर "गीता" के नामसे वर्णन किया गया है। इस अवस्थामें साधकको केवल अर्जुन नामसे अभिहित किया गया । क्योंकि, वासना क्षय न होनेसे कर्म्मबन्धन रहनेसे भी, रजः सत्वगुण करके क्रियाशील रहनेसे उनसे सर्वदा निर्म्मल कर्म्म ही सम्पादन होता रहता है ।(महाभारतमें भी लिखा हुआ है कि, सदाकाल निर्म्मल कर्म्म करनेसे ही तृतीय पाण्डवका नाम "अर्जुन" हुआ था)। इस अवस्थाको प्राप्त (प्रथम श्लोक कथित धर्म्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रमें आगत) साधक को केवल अर्जुन नाममें निर्देश करनेपर भी, गीताके

बहुत ही स्थानमें उनको पार्थ, धनञ्जय, पाण्डव, कौन्तेय, सव्यसाची आदि नामोंसे सम्बोधन किया गया है, क्योंकि देखा जाता है धर्म्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रमें उपस्थित होने से भी उनके मनमें प्रथमतः माया-ममतादि रूप दुर्बलता का प्रकाश, फिर बीच बीचमें विराग भाव भी प्रकाशित हुआ, उनके उस समयके मनकी अवस्था समूहको प्रकाश कर देनेके लिये ही भिन्न भिन्न नामसे उनको सम्बोधन किया गया है। और भी एक बात है,—साधकके इस अवस्थामें आ पहुंचनेसे सामने चालक स्वरूप कूटस्थचैतन्य "श्रीकृष्ण" आय खड़े होते हैं, इसलिये कृष्ण सारथि हैं; इस समय साधकके मनमें जाननेके लिये जो जो इच्छायें होती हैं, कूटस्थचैतन्यकी तेजोमय ज्योतिसे उसका उत्तर स्वरूप उनके मनमें आपही आप उसका मीमांसा प्रकाश पाती रहती है, और नाना प्रकार आकाशसम्भवा (अशरीरी) वाणी भी वह सुनते रहते हैं। वही सब दर्शन, श्रवण करके साधक अवाक् हो करके स्तम्भित हो जाते हैं। (११ श अः में यही सब व्यक्त हुआ है)।

इसके बाद तृतीयावस्था है। उस द्वितीयावस्थामें क्रिया करते करते सुषुम्नाके भीतर ब्रह्मनाड़ी से ऊंचे तरफ उठते उठते जब भीष्मरूप अविद्यायुक्त अहंत्व (देहात्माभिमान) निष्क्रिय हो जाता है, तब साधककी

एक प्रकारकी समाधि होती है । समाधिके भोग काल में उनकी साधनाकी चेष्टाके स्थिर होजाने पर विकर्म रूप सञ्चित कर्म्म राशि फल देनेके लिये उनको बार बार खींच करके अनजान् भावमें नीचे उतारकर एक दम बाहरके विषयमें लगा देती है। सुतरां तब उनको मनो-धर्म्मशील होना पड़ता है। उस समय चैतन्यज्योतिका प्रकाश न रहने से, स्मृतिशक्ति के सहारेसे अन्ध-वत् क्रिया करके साधनलब्ध अनुभवात्मिकी दिव्य दृक्शक्तिसे आमूल अपना साधन-प्रकरण उनको देखना पड़ता है। इस अवस्था-प्राप्त साधकको गीतामें धृतराष्ट्र कहा गया है।

महाभारतमें लिखा है, धृतराष्ट्र अर्जुनके ज्येष्ठतात हैं। अतएव एकही साधकको एकदफे अर्जुन और एकदफे धृतराष्ट्र कहना विसदृश जान पड़ता है । किन्तु मनमें रखना उचित है कि, गीता योगशास्त्र है। २४ तत्त्वोंके जिस तत्वमें जब चेतना शक्ति खेलती रहती है, उस समयमें वही तत्व चेतनायुक्त हो करके अपना काम करती रहती है। जो कुछ काम काज है वह एक ही शरीरमें वृत्ति-भेद करके भिन्न भिन्न भावमें होता रहता है। इसीसे यहां पिता-पुत्र-आत्मीय-स्वजनादिवत् कोई सम्बन्ध ही नहीं। रूपककी वर्णना करनेसे उन्हीं सब सम्बन्धोंको ले गपोड़ा बांधना

पड़ता है। योगशास्त्रसे इतिहासकी यही पृथकता है ।

द्रष्टव्य (१) गीताको समझनेके लिये तीन अवस्थाओंको अवश्य समझना चाहिये । इन तीन अवस्थाओंको छोड़ करके साधककी और भी अनेक अवस्थायें हैं । उसकी अन्तकी अवस्था महाप्रस्थान-काल है । जिसका उपाय ८ म अध्यायमें वर्णित किया गया है । वह सब विषय यहां कहना बेप्रयोजन है ।

द्रष्टव्य (२) द्वितीय अवस्था "श्रीकृष्णार्जुन-सम्बाद" है। इसलीये गीतामें अर्जुन और भगवान्की उक्ति समस्त को इस अवस्थाको लक्ष्य करके ही समझना चाहिये । और तृतीय अवस्था "धृतराष्ट्र-संजय-सम्बाद" है; इसलिये संजयकी उक्ति समूहको साधककी तृतीय अवस्थाको लक्ष्य करके समझना होगा । अब २१ । २२ । २३ श्लोकका अर्थ कहा जाता है—

साधक सुषुम्नाके प्रवेश-द्वारके ठीक भीतर पहुंच कर देखते हैं—कूटस्थके स्निग्ध तेजकी ज्योति "अच्युत" अर्थात स्थिर, धीर अथच आकर्षण शक्तिसे युक्त है। उसमें साधककी दृक्शक्ति सम्पूर्ण रूपसे आकृष्ट हो जाने पर फिर दूसरी तरफ नहीं जाती, स्थिर हो रहती है; (यही अच्युत अवस्था है)। साधककी दृष्टि इस प्रकार स्थिर होनेसे भी, विषयवासनाका क्षय न होनेसे उनको चंचलता-

ग्रस्त भी होना होता है; किन्तु गुरुपदेशके अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति या आकर्षण-विकर्षण शक्ति-दोनोंके मध्य स्थानमें (सेनयोरुभयोर्म्मध्ये) रहनेकी चेष्टा भी बलवती रहती है। यही भाव २१ श श्लोकमें व्यक्त हुआ है, इस समय साधकके मनमें स्मृति उठती है—एकदफे देख लूं! कौन कौन वृत्तियां अब परस्पर प्रतिद्वन्द्वि भाव करके वर्त्तमान हैं; किसके साथ मुझको युद्ध करना पड़ेगा(२२ श श्लोक) वा विषय-वासना वृत्तियोंको बलवत् रखनेके लिये कौन कौन वृत्तियां मनमें उदय हुए हैं (२३ श श्लोक) ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

अन्वयः । हे भारत ! गुडाकेशेन (जितनिद्रेणार्जुनेन) एवं (उक्त प्रकारेण) उक्तः (सन्) हृषीकेशः (श्रीकृष्णः) उभयोः सेनयोः मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतः (भीष्मद्रोणयोः सम्मुखे) सर्वेषां च महीक्षिताम् (राज्ञां सम्मुखे) रथोत्तमं स्थापयित्वा—हे पार्थ ! एतान् समवेतान् कुरून् पश्य इति उवाच ॥ २४ ॥ २५ ॥

अनुवाद । संजय कहते हैं ।—हे भारत! जितनिद्र अर्जुन कर्तृक इस प्रकार उक्त होने पर हृषीकेशने उभय सेनाके मध्यस्थलमें भीष्म,

ड़ोखा एवं समुदय राजन्य वर्गोंके सन्मुखमें उत्तम रथ स्थापन करके "पार्थ ! ये सब समवेत कौरवोंको अवलोकन करो" यह कहा ॥ २४ ॥ २५ ॥

व्याख्या। साधक पूर्व कथित प्रकारसे क्रिया विशेषके बाद नीचे उतर करके मनोधर्म्मी हो कर के दिव्यदृष्टिमें पुनः जो देखते हैं, वही "संजय उवाच" है। और मनोधर्म्मी हो करके साधक जो आत्मचिन्ता करते हैं, वही उनकी "भारत" अवस्था है। भारत— भा=दीप्ति, प्रकाश; उसमें रति=आसक्ति जिनकी, वही भारत हैं। एक मात्र चैतन्य ही प्रकाश, और चतुर्विंशति तत्वात्मिका प्रकृति ही अप्रकाश है। एवम् प्रकार प्राकृतिक अधिकारमें रह करके जो आत्मज्योति लक्ष्य करते हैं, वही भारत हैं।

"गुड़ाकेश" (गुड़ाका=निद्रा, अलसता; ईश= नियन्ता)=निद्राजयी। अनलस साधकको ही गुड़ाकेश कहते हैं; अविश्रान्त क्रियमान अवस्था ही गुड़ाकेश अवस्था है। निद्राजयी होनेसे ही "अच्युत" लाभ होता है। वही निद्राजयी, जो अज्ञानज निद्राको दमन करके ज्ञानज निद्राका (समाधि-विश्रामका) आश्रय लेनेमें समर्थ हैं; अर्थात् जो साधक क्रिया कालमें निद्राके लिये अवसन्नता तथा चंचलतामें न पड़ करके प्रकाशमय स्थितिलाभ कर सकते हैं। विषय-चिन्ता करते करते उससे

उत्पन्न अवसन्नतामें अभिभूत हो करके रहनेका नाम अज्ञानज निद्रा वा "निद्रा" है। और आत्मलक्ष्य करते करते अपनेसे विषय-वृत्ति मिटजाने पर मनका जो अकम्पन विश्राम होता है, उसीका नाम ज्ञानज निद्रा, आत्मनिष्ठा वा "समाधि" है। इस गुड़ाकेश अवस्थामें मनमें किसी प्रकार की इच्छा उपस्थित होनेसे उस इच्छानुसार मानसेन्द्रियको चलानेकी शक्ति आती है, वह शक्ति कूटस्थसे ही प्रकाश पाती है, इसलिये "अच्युत" को तब हृषीकेश (इन्द्रिय समूहका नियन्ता ईश्वर) कहा है। ये अवस्था समूह सूक्ष्म होनेसे भी साधन-मार्ग में थोड़ीसी चेष्टा करनेसे ही सहजमें समझमें आ जाती है। उस प्रकार (२१ श श्लोकके लिखे अनुसार) मध्यस्थलमें रहनेकी इच्छा होनेसे ही गुरुकृपालब्ध हृषीकेश (इन्द्रियोंके ऊपर आधिपत्य करनेकी शक्ति) द्वारा साधक अपना उत्तम रथ उभय सेनाके ऐन बीच स्थानमें स्थापन करते हैं।

"रथोत्तम"—रथ कहते हैं जिसमें चढ़के जाया जाता है, अर्थात् जो चलनेवाला बैठनेका वा स्थितिका स्थान है। मूलाधारसे आज्ञाचक्र पर्य्यन्त तीन स्थितिका स्थान है- "दं" मूलाधार और स्वाधिष्ठानके मध्यस्थल कामपुर में, "यं" अनाहतमें, और "पं" विशुद्ध कमलके ऊपर

और आज्ञाके नीचे मस्तक-ग्रन्थिमें। मनोमय शरीर "द" स्थानमें रखनेसे केवल मूलाधारका ज्ञान होता है; "य" स्थानमें रखनसे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, और अनाहत, यह चार चक्रका ज्ञान होता है; और "प" स्थानमें रखनेसे षट्चक्रका मूलस्वरूप अपंचीकृत सूक्ष्म तत्व समूह कारणके साथ प्रत्यक्ष होता है। और भी वह "प" स्थानमें रहनसे साधकको कपिध्वज तथा कृष्णसारथी होना होता है। इसीलिये साधन-कालमें उस स्थानको "रथोत्तम" कहा है॥

"उभय सेना"- प्रवृत्ति (संसारमुखी वृत्ति और निवृत्ति--(असंसारमुखी वृत्ति)। "प्रवृत्ति"-वैषयिक अहंकार वा आभास-चैतन्य (भीष्म), एवं बिषय-संस्कारज व्यभिचारी बुद्धि (द्रोण) द्वारा चालित वासनायुक्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता आदि, और इनही सबका पोषक निद्रा, तन्द्रा, संशय, भय, आलस्य, दीर्घसूत्रता प्रभृति साधन-प्रतिकूल विविध वृत्ति समूह है। "निवृत्ति"-विवेक, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, श्रद्धा, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समाधान, मुमुक्षुत्त्व प्रभृति साधनाके अनुकूल वृत्ति समूह हैं।

कूटस्थमें लक्ष्य रख करके चैतन्य ज्योतिको सन्मुख में प्राप्त हो करके "उत्तम" स्थान अधिकार करके विषय-

मुखी और आत्ममुखी दोनों वृत्तिके ठीक बीचमें रहने सेभी, जनमके प्रारम्भ दिनसे आज पर्य्यन्त वर्द्धित विषय-संस्कार इस समयमें अति सूक्ष्म होकरके सर्वतो-मुखी हो जाता है; इसलिये साधक के मनमें "अहं ममत्व" भाव प्रबलतर हो उठता है। यह "अहंममत्व" भाव जीवका अपने प्रकृतिसे ही प्रकाश पाता है; प्रकृति ही जननी है। इसलिये साधकके उस अवस्थाको 'पार्थ' कहा गया है। पार्थ=पृथाका पुत्र अर्थात् मातृभावापन्न साधक। प्रथ्=विख्यात होना, अ=कर्त्तृवाचक-शब्द; अर्थात् जो आपही आप विख्याता या स्वनामख्याता है, उन्हींको "पृथा" कहते है। प्रकृति खुदही स्वनामख्याता है। इस प्रकृतिसे उत्पन्न हो करके स्वनामख्यात जो सब है, उन्हीको ही पार्थ कहते हैं। (आकाश=युधिष्ठिर, वायु=भीम, तेज=अर्जुन, इन सभों को भी इसीलिये पार्थ कहा है; क्योंकि मातृभाव प्रकाश करके ये सब प्रकाशित होते हैं)। साधक इस समयमें आपही आप गुरूपदेश-क्रमसे पूर्वमूखी रहनेसे, प्रतिपक्षीय भीष्म, द्रोण तथा प्रधान प्रधान वृत्ति समूहको (यद्वारा मही-अर्थात् पार्थिवसुख भोग किया जाय) सन्मुखमें देखते रहते हैं। तब "इन सब समवेत कौरवोंको दर्शन करो" इस प्रकार का ज्ञान उनके हृदयमें उठता है ॥ २४ ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्य्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥२६॥

अन्वयः। अथ पार्थः (अर्जुनः) तत्र उभयोः सेनयोः अपि पितृन् पितामहान् आचार्य्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् तथा सखीन् श्वशुरान् सुहृदश्च एव स्थितान् (उपस्थितान्) अपश्यत् ॥ २६ ॥

अनुवाद। अनन्तर अर्जुनने उक्त स्थानमें दोनों सेनाओंके पितृगण, पितामहगण, आचार्य्यगण, मातुलगण, भ्रातृगण, पुत्रगण, पौत्रगण, तथा सखा-श्वशुर-सुहृदगण—सबको उपस्थित देखा ॥ २६ ॥

व्याख्या। तब वह मातृभावापन्न साधक साधनके अनुकुल प्रतिकूल आमूल वृत्ति समूहको प्रत्यक्ष करते हैं। मनुष्यके शरीरमें साधनाका साहाय्य करनेवाली हजारों नाड़ियां हैं, उन्हीं सब नाड़ियोंसे मन-बुद्धिके सहयोगसे नाना प्रकारकी वृत्ति उठती हैं, पुनश्च एक वृत्ति उठनेसे उसमेंसे बहुत सी नवीन वृत्तियोंकी सृष्टि होती रहती है, इस प्रकारसे वृत्ति समूह मिश्र अमिश्र रूप करके अनन्त आकारमें उठती रहती हैं। शरीर-तत्वविद् भगवत्परायण आर्य्यऋषीगणने उन्हीं सबको रूपकमें परिणत करके संसारवाले नाता सम्बन्ध से सजाकर व्यक्त कीया है। इसीलिये यहां पिता पितामह प्रभृति शब्दोंके प्रयोग है ॥ २६ ॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्व्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥२७॥

अन्वयः । सः कौन्तेयः (अर्जुनः) तान् सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् समीक्ष्य परया कृपया (दयया) आविष्टः (गृहीतः) विषीदन् (सन्) इदम् अब्रवीत् ॥ २७ ॥

अनुवाद । उन कुन्तीपुत्र (अर्जुन) ने उन समस्त बन्धुगणको रणस्थलमें अवस्थित देख करके, अतिशय करुणाविष्ट तथा विषण्ण हो कर यह बात कही ॥ २७ ॥

व्याख्या । साधक गुरूपदेश प्राप्त कर कैवल्य-स्थिति लेनेके समय देखते हैं कि, विषय-भोगकी समूची वृत्तियों को नष्ट करना पड़ेगा; किन्तु कैवल्य-स्थितिके ऊपर लोभ रहनेसे भी विषय-भोगकी इच्छा तब भी प्रबल रहनेके कारण साधक भोग-साधन वृत्तियोंको अधिक तरह से अपना विचार, ममतापरायण हो, गुरूपदेशकी कठोरताको थोड़ासा ढीला करके अपना इच्छाके अनुसार उसको बना लेनेके लिये, वशीकरण मन्त्र स्वरूप निष्फल रोलाई रोते रहते हैं,—“विषय भोग भी करूंगा, योग भी करूंगा, साधु भी होउंगा”—ऐसा होनेसे ही मानो मनके माफिक होगा। साधकके इस प्रकार अपने वशमें रहने की चेष्टाको ही-“कौन्तेय” शब्द द्वारा प्रकाश किया गया है। कुन्ती आकर्षणी मन्त्र द्वारा अपनी इच्छानुसार

देवताओंको अपने वशमें लाई थीं । अर्जुन भी माताके स्वभावका अनुकरण करके कृष्णको (गुरुको) अपने वशमें लाकरके एकही साथ भोगी तथा योगी दोनो ही होनेकी चेष्टा करते हैं ।

गुरुने उपदेश दिया है विषय-वासनाको एकदम त्याग करनेके लिये; किन्तु शिष्य उस वासनाको ही प्राणका प्राण मान करके उसके ऊपर अत्यन्त कृपा-परवश(आसक्त) होते हैं । पश्चात् इस प्रकार अवस्थापन्न होनेसे मनमें जिस जिस भावका उदय होता है वह वही कहते हैं ॥२७॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥२८॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ॥२९॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे कृष्ण ! इमान् स्वजनान् (बन्धुजनान्) युयुत्सून् समवस्थितान् (योद्धुम् इच्छन्तः पुरतः सम्यगवस्थितान्) दृष्ट्वा मम गात्राणि (करचरणादीनि) सीदन्ति (विशीर्यन्ते) मुखं च परिशुष्यति; मे शरीरे वेपथुश्च रोमहर्षश्च जायते, हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते, त्वक् च एव परिदह्यते ॥ २८ ॥ २९ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं—हे कृष्ण ! युद्धेच्छु ये सब अपने जनों

को सामने उपस्थित दर्शन करके हमारा सकल अंग अवसन्न और मुख परिशुष्क होता है, हमारा शरीर विशेष करके कम्पायमान तथा रोमाञ्चित होता है, हाथकी मुट्ठीकी ढिलाईसे गाण्डीव गिरा पड़ता है, एवं हमारे सर्व शरीरमें जैसे एक ज्वालासी जान पड़ता है ॥ २८ ॥ २९ ॥

व्याख्या ।——इस अवस्थामें साधककी मानसिक चंचलता अधिकसे अधिक होने पर, शरीरसे पसीना निकलता, मुख सूखता, तमाम शरीर कांपता, और रोमाञ्चित् होता है । हाथकी मुट्ठी ढीली होनेसे गाण्डीव (धनुष) हाथसे खिसका पड़ता है, और सर्व शरीरके भीतर बाहर एक ज्वाला जैसी मालूम पड़ती है। इन सब अवस्थाओंको साधक मात्र ही स्वतः अनुभव करते हैं, इसलिये अधिक समझानेका और प्रयोजन नहीं। किन्तु मुट्ठी से गाण्डीव खिसक पड़ने के सम्बन्धमें थोड़ासा समझाना होगा । "समं-कायशिरोग्रीवं" हो करके बैठनेसे साधकका मेरु-दण्ड (पीठकी रीढ़) पीठके तरफ संकोच हो करके पीठको डोंगा सरिस बना देती है; इस अवस्थामें स्थित मेरुदण्डको गाण्डीव कहते हैं । साधकके मनमें चंच-लता आनेसे ही शरीरमें कम्पादि उपस्थित हो करके सर्व शरीर टन् टन् झन् झन् करके साधकको और सीधा रहने नहीं देता। शरीर ढीला होनेसे

ज्ञानमुद्राका बन्धन भी खुल जाता है। इस अवस्थाको "गाण्डीव गिरपड़ा" कह कर व्यक्त किया गया है ॥ २८ ॥ २९ ॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥३०॥

अन्वयः । अवस्थातुं न च शक्नोमि, मे मनः च भ्रमति इव। हे केशव ! विपरीतानि निमित्तानि च (अनिष्टसूचकानि लक्षणानि) पश्यामि॥३०॥

अनुवाद । मैं और बैठ नहीं सकता, मेरा मन चक्र घूमनेकी तरह घूमता है; केशव ! मैं विपरीत दुर्लक्षण समूहको देखता हूं॥३०॥

व्याख्या। इस अवस्थामें साधक बड़े व्याकुल हो पड़ते हैं, साधनामें एक पगभी आगे बढ़ नहीं सकते; मन अत्यन्त चंचल हो करके भ्रमणशील अवस्थाको पहुंचता है, और तमाम विपरीत् लक्षण भी प्रकाश पाते रहते हैं। इसलिये साधक कहनेमें बाध्य होता है--कहां कैवल्य-स्थिति पाकर शान्तिलाभके उद्देशसे योग, सो ऐसा न होकरके, हे केशव ! (१० म अध्यायके १४ श श्लोकमें केशव पदका अर्थ देखिये) यह तो देखता हूं ठीक विपरीत---प्राणको संशयमें डालनेवाली यन्त्रणामय नरक-भोगके निमित्त है। मैं तो और स्थिर रह नहीं सकता ॥ ३० ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

अन्वयः । हे कृष्ण ! आहवे (युद्धे) स्वजनं हत्वा श्रेयः (कल्याणं) न च अनुपश्यामि; विजयं च न कांक्षे; राज्यं सुखानि च न (कांक्षे)॥३१॥

अनुवाद । हे कृष्ण ! युद्ध करके अपने स्वजनके मारनेसे मैं तो कोई शुभफल नहीं देखता; मैं विजय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता, सुख भी नहीं चाहता ॥ ३१ ॥

व्याख्या। इन सब श्लोकोंमें "कृष्ण" शब्दका व्यवहार होनेसे समयोचित यथार्थ भाव प्रकाश हुआ है। कृष्ण कूटस्थ चैतन्य हैं। "कृषि र्भूःवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्ति वाचकः। तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते"। कृषि=कर्षणे, भूः वाचक शब्द; ण=निर्वृत्तिवाचक शब्द, मुक्ति इच्छा न रहनेसे भी जो महापुरुष खींच ला करके निर्वाणको प्राप्त करा देते हैं, वही कृष्ण हैं। साधकके मनमें विषय-वासना प्रबल होनेसे मन चंचल हो करके नीचेकी तरफ उतरना चाहता है, शरीर भी शिथिल होता रहता है; किन्तु कूटस्थका वही मन मतवाला करने वाली मोहिनी रूप उसको खींच रखती है, उतरनेकी इच्छा होनेसे भी मानो उतरने नहीं देती । साधककी यह अवस्था ठीक सर्पका छुछुन्दरी पकड़नेके सदृश है, अगरचे छोड़दे तो अन्धा

हो, अर्थात् मन मतवाला वह मोहिनी रूप और देखने न पाता; यदि निगल जावे (उस ज्योति को यदि अपने अन्तः-करणमें रख ले) तो ऐसा होनेसे मर जावे, अर्थात् उनकी वह वासना समूह नष्ट हो जावे । अब उनको उभय संकट आ पहुंचा । इसलिये कहते हैं कि, हे कृष्ण! इस समरमें अर्थात् प्राणायाम क्रिया द्वारा इस वृत्ति समूहको नष्ट करनेसे किसी प्रकार कल्याण दिखाई नहीं देता (क्योंकि शान्तिके बदलेमें केवल अशान्ति ही आती है); विजय मैं नहीं चाहता, राज्य सुख भी नहीं चाहता । "विजय" = संयम; "राज्यं सुखानिच" =योगसिद्धि ॥ ३१ ॥

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।
आचार्य्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥३३॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥३४॥

अन्वयः । हे गोविन्द ! नः (अस्माकम्) राज्येन किं (किं प्रयोजनं), भोगैः जीवितेन वा किं ? येषां अर्थे नः (अस्माकम्) राज्यं भोगाः सुखानि च कांक्षितं, ते इमे आचार्य्याः पितरः पुत्राः तथा एव च

पितामहाः मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा (प्राणधनादित्यागं अंगीकृत्य युद्धार्थं) युद्धे अवस्थिताः । हे मधुसूदन ! घ्नतः अपि (अस्मान् मारयतः अपि) एतान् हन्तुम् न इच्छामि ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

अनुवाद । हे गोविन्द ! राज्यसे अस्मदादिका क्या प्रयोजन ? भोग सुखसे भी क्या प्रयोजन ? जीवन से भी प्रयोजन क्या ? जिन लोगोंके लिये हम सबको राज्य, भोग और सुखकी प्रार्थना है, वही सब तो यह आचार्य्यगण, पितृगण, पुत्रगण और ऐसे कि पितामहगण, श्वशुरगण, पौत्रगण, श्यालकगण, तथा कुटुम्बगण धन और प्राणकी आशा छोड़ करके मरने मारनेके लिये इस युद्धमें उपस्थित हुये हैं । हे मधुसूदन ! हम लोग इन लोगों द्वारा बध होनेसे भी इन लोगों का विनाश करनेकी मैं इच्छा नहीं करता ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

व्याख्या । "गोविन्द" ।-गो शब्दमें पृथिवी; इस पृथिवीको जो पालन करता है, वही गोविन्द हैं । साधक अब देखते हैं, कि इस शरीर रूप क्षेत्रमें साधककी जो कुछ अन्तःकरणवृत्ति है, समस्त ही कूटस्थचैतन्य द्वारा प्रकाश पा रही है; वह अच्छी तरह समझते हैं कि किसीके ऊपर उनका अपना कुछ कर्त्तृत्व नहीं, जो कुछ है वह समस्त चेतना-शक्तिसे ही होता है; तथापि मायाके विपाकमें पड़ करके "अपने-पराये" का भ्रम उनका नहीं मिटता । इसलिये साधक ज्ञान के प्रकाशके समयमें कूटस्थचैतन्यको गोविन्द करके भी जानते हैं, फिर मातृभाव (अहं-ममत्व-ज्ञान

करके विषयासक्ति) ले करके कहते हैं-राज्य लेके अस्मदादिका क्या होवेगा ? भोगमें प्रयोजन क्या ? जिन्दा रहनेसे आवश्यक क्या ? जिन लोगोंको लेकरके इच्छा करता हूं कि राज्य-भोग सुख-भोग करूंगा, वही सबतो इस युद्धमें धन-प्राणत्याग करेंगे ऐसा ही दिखाई देता है। हे मधुसूदन ! मैं आपही मरूं सो भी अच्छा है, इन सबको नष्ट (त्याग) करनेमें मैं राजी नहीं हूं।

अब देखना चाहिये--"राज्य, भोग, सुख" ये सब कौन चीज हैं ? साधनका उद्देश्य है कि जन्म-मरण रूप संसार-बन्धन से मुक्त होना, अर्थात् मरत्व परित्याग करके अमरत्व लाभ करना । शरीर षट्विकार-सम्पन्न है। "अस्ति, जायते, बर्द्धते, विपारिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति इति षट् विकाराः" । अज्ञानता करके पहिलेसे ही साधककी धारणा है कि साधना करनेसे ही शरीरके वह विकार समूह नष्ट हो जावेंगे, और यह शरीर रूप राज्य उनके स्वायत्त होगा, जितने दिनों इच्छा हो यह राज्य अपने इच्छा अनुसार भोगते रहेंगे और सुखी होवेंगे; जल स्थल अन्तरीक्षमें रह करके विषय-संगके साथ ब्रह्मानन्द-सुख भोग करते रहेंगे। किन्तु हाथ हथियार

करके साधना में प्रवृत्त हो करके देखते हैं कि, सब ही विपरीत है; पहिले ही उनको बड़े प्यारका भोग-वासना त्याग करना पड़ता है, बाद अहंकारको जन्म भरके लिये बिदा देना पड़ेगा, और विषय-बुद्धिको एक दम जलांजली देनी होगी; और भी देखते हैं कि, चक्षु-कर्ण-नासिकादि इन्द्रिय-समूहको संयत करके सर्वद्वार निरुद्ध करना होगा, ऐसे कि मनको भी हृदय में अवरोध करके प्राणको मस्तकमें स्थापन करना पड़ेगा। ऐसे ही सब काम करनेके लिये जब वह गये, तब देखते हैं कि, प्राणान्त करनेवाली शारीरिक यातना है । तब मनमें होता है कि, जीवन्मुक्तिके सुख भोगकी कोई आवश्यकता नहीं, मैं जैसे हूं वैसे ही अच्छा। मरजाऊं तो भी अच्छा है, तथापि भोग-वासना नष्ट करना अच्छा नहीं; संसार में वासना पूरण नहीं होता, केवल अभाव भोग करना पड़ता है। वह भी अच्छा है, तथापि इस प्रकार कष्ट सहा नहीं जाता; चक्षुकर्णादि संयत करनेसे अन्धा-बहिर होना पड़ेगा ऐसा होनेसे यह शरीररूप मांसपिण्ड बहन करके व्यर्थ जीवन्मुक्त नाम लेके घूमनेका प्रयोजन नहीं। और भी इस प्रकारकी अवस्थामें भोग-वासना त्याग करके जीवित रहनेसे कौन प्रयोजन सिद्ध होवेगा?

मरना ही अच्छा है। (अज्ञानताके लिये पहिले पहिले साधन कष्टसे अधीर होकरके साधक के मनमें इस प्रकारके सोच का तरंग उठता रहता है। साधन-मार्गमें थोड़ीसी चेष्टा करनेसे ही यह सब अनुभव प्रत्यक्ष होता है)।

"मधुसूदन"।—शरीरकी तथा मनकी यन्त्रणा [आधिब्याधि] में अधीर होकर के अपनेको नितान्त विपदग्रस्त समझके साधक "विपत्तेमधुसूदनः" इस वचनको स्मरण करके कूटस्थके तरफ लक्ष्य करके मधुसूदन शब्द उच्चारण करते रहते हैं। क्योंकि अशुभ नष्ट करते हैं कहकरके हरि का नाम मधुसूदन है। यथा—

"मधुक्लीवं च माध्वीके कृतकर्म्म शुभाशुभे।
भक्तानां कर्म्मणाञ्चैव सूदनं मधुसूदनः॥
परिणामाशुभं कर्म्म भ्रान्तानां मधुरं मधु।
करोति सूदनं योहि स एव मधुसूदनः॥

"आचार्य्याः पितरः पुत्राः" इत्यादि।—नाड़ी-चक्रके भीतर स्थिर वायुकी क्रिया द्वारा साधकमें जिस जिस प्रकार शक्ति लाभ होती हैं, और उस उस शक्तिसे जिस जिस प्रकारकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबको इत्याकार जानिये। जो महाभाग क्रिया करके क्रियामें प्रतिष्ठा लाभ करते हैं, वही

पुरुष अपने आप यह सब समझते हैं । इस प्रकार निजबोध रूप ज्ञानको भाषामें व्यक्त करनेकी चेष्टा करना विड़म्बनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं ।३२।३३।३४॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्द्दन ।३५।

अन्वयः । त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः (प्राप्त्यर्थं) अपि (हन्तुं न इच्छामि); किन्तु (किं पुनः) महीकृते (महीमात्र प्राप्तये) । हे जनार्द्दन ! धार्त्तराष्ट्रान् निहत्य नः (अस्माकम्) का प्रीतिः स्यात् ? ॥३५॥

अनुवाद । सामान्य पृथिवी का क्या बात है, त्रिभुवनका राजत्व प्राप्त होनेसे भी मैं इन लोगों को मारनेकी इच्छा नहीं करता हूं; हे जनार्द्दन ! धार्त्तराष्ट्रों को विनाश करके हम सबको क्या सुख लाभ होवेगा ? ॥ ३५ ॥

व्याख्या । जनार्द्दन= (जन+ अर्द=याच्ञा करना+ अनट्) पुरुषार्थ लाभके लिये जनों से जो याचित होते हैं । जनार्द्दन-शब्द प्रयोग से साधक का यह मनोभाव प्रकाश पाता है कि,- हे गुरो ! दया कीजिये ! इस प्रकार कठोरता स्वीकार हमसे हो नहीं सकता; मुझसे जो हो सकता है, जिसमें मेरा भोग भी रहे और योग भी हो, ऐसा कोई उपाय कहिये । (अब साधक सांसारिक बुद्धिसे परिचालित होकरके अथच धर्म्मभाव अवलम्बन करके अपनेही जिद बजाय रखनेकी चेष्टा करते हैं) ॥३५॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् सबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३६॥

अन्वयः । एतान् (आत्मीयगुरुजनसमन्वितान्) आततायिनः* (शत्रून्) हत्वा अस्मान् पापं एव आश्रयेत् तस्मात् सबान्धवान् धार्त्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं न अर्हाः (योग्याः) हे माधव! स्वजनं हि हत्वा कथं सुखिनः स्याम ॥ ३६ ॥

अनुवाद । इन लोगोंके आततायी (शत्रु) होनेसे भी इन लोगों का प्राण लेनेसे हम लोग पापभागी होवेंगे, कारण सबान्धव दुर्य्योधनादि को विनाश करना अस्मदादि को उचित नहीं। हे माधव! स्वजन वध करके अस्मदादि को क्या सुख मिलेगा? ॥ ३६ ॥

व्याख्या। "माधव"-मा = लक्ष्मी, धव = स्वामी। साधकके मनमें उठता है कि, जो त्रिलोकके नियन्ता हैं, वही माधव—लक्ष्मीपति हैं; फिर वही महापुरुष योगाचार्य भी हैं, उनमें तो भोग, योग, दोनों ही वर्त्तमान हैं; तब उन्हींका अनुकरण करना अच्छा है। यह सब सोचते हैं कि,—ये सब वृत्ति मेरे अन्तःकरणमें हैं इस करके मैं साधनाके रास्तामें बाधा पाता हूं सही, किन्तु इन सबके नष्ट करनेसे ही हम में धर्म्म कहां रहता है? हमारा

* अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्र दारापहारी च षड़ेते आततायिनः ॥

शरीर रूप संसार इन्द्रियोंके सहारा बिना क्षणमात्र भी चल नहीं सकता। इन्द्रियोंका काम काज बन्द करना ही यदि योग हो, तब पाप और किसको कहूंगा? इन्द्रियोंके काम काज बन्द होनेसे शरीरमें व्याधि (आत्म-पीड़न) उपस्थित जरूर होवेगी; सो कदापि धर्म्म हो नहीं सकता; स्वजन बध करनेका पाप होहीगा, सुख क्या मिलेगा? अतएव हे गुरो! इन सबकी रक्षा करके अगर योगका उपाय हो तो मुझसे कहिये, नहीं तो इन सब पाप कर्म्ममें हमारी प्रवृत्ति नहीं होती ॥३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३७॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्द्दन ॥३८॥

अन्वयः। हे जनार्द्दन! यद्यपि एते (धार्त्तराष्ट्राः) लोभोपहतचेतसः (राज्यलोभेन भ्रष्टविवेकाः सन्तः) कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकं न पश्यन्ति, कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्त्तितुं कथं न ज्ञेयं? (निवृत्तावेव बुद्धिः कर्त्तव्या इत्यर्थः) ३७॥३८॥

अनुवादः। यदि लोभके मारे चेतना गँवाकर धार्त्तराष्ट्रगण कुलक्षयकृत दोष और मित्रद्रोहके पाप देख नहीं रहे हैं, किन्तु हे जनार्द्दन! हम लोग कुलक्षयकृत दोष को प्रत्यक्ष करके इस पाप कार्य्य से निवृत्त क्यों न होवें? ३७॥३८॥

व्याख्या। ६ष्ठ अध्याय के ५म श्लोकमें है, "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" अर्थात् आप ही अपने बन्धु आप ही अपने शत्रु हैं। इस शरीर रुप राज्यमें मनुष्य जब वासनाधीन रहते हैं तब वह आपही कभी भोगी, कामी वा चोर इस प्रकार नाना साजमें सजते रहते हैं। इस समय में भले भावको उनका मन छूताही नहीं; मनमें भला भाव आनेसे भी, असह्यकर समझ करके उस भावको मनसे भगा देते है। फिर उसी मनुष्यका जब कोई सत काम काज वा सत् चिन्ता करने वाला समय आ जाता है, तब मन्द भावको भी उनका मन छूता नहीं। मन्द भाव मनमें उठनेसे उसको शत्रु समझ करके मनसे दूर कर देते हैं। फिर आपही आप अपने मनको बुरे भावसे अलग होते, और भले काममें लगे रहनेका उपदेश करते हैं; आपही अपने उपदेष्टा, आपही अपने शिष्य होते हैं। मनुष्य मात्रको यह अवस्था मालूम है। साधनामें भी ऐसाही है। एक साधक ही, एक बार धृतराष्ट्र होते हैं, एक बार दुर्य्योधनादि होते हैं, फिर भीष्म, द्रोण, कर्ण प्रभृति भी सज करके दर्शन देते हैं, वासनाके वशवर्त्ती होकर मनमें जब जो भाव उठता है, तब वह आकार ही धर लेते है। फिर जब वासना क्षय करनेका समय आता है वा चेष्टा करते हैं, तब भी मनमें जो जो भाव उठता

रहता है, उसी उसी भावके अनुसार अपनेको उसी भावका भावुक आकारसे गढ़ लेते हैं। उसके फलसे कभी अपने ही कर्त्ता कभी उपदेष्टा, कभी आत्मज्योतिके पूर्ण विकाशमें पड़ करके कूटस्थचैतन्यमें मिलके गुरु बन जाते हैं। पुनश्च कूटस्थसे उतर आ करके जीव सजके अर्जुन बन करके प्रश्न करते रहते हैं। बात यह है कि, एक ही साधक साधन क्रममें जैसी जैसी अवस्थामें आ पड़ते हैं, उसी उसी भावापन्न हो करके कार्य्य करते रहते हैं। यह एकलेसाई-पनाही गीताका मूल तत्त्व है।

इस ३७। ३८ श्लोकका अन्तर्गत भाव भी ठीक इसी अनुरूप है। साधक अपने प्रतिकूल वृत्तियोंको चेतना-सम्पन्न मनमें निश्चय करके आप ही आप बोलते रहते हैं। एकही अन्तःकरणसे समुदय वृत्तियां उत्पन्न हुई हैं, इसलिये ये सब एकही कुल-सम्भूत हैं। इन सबका कार्य्य है, आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त विश्वब्रह्माण्डका ज्ञान ला करके चित्त-पटमें पहुंचा देना; अतएव यह सब (एकक्रिय) मित्र हैं। प्रभेद का विषय यह है कि, इन सब के भीतर एक अंश केवल मात्र ब्रह्मज्ञानको ला करके चित्तको प्रकाशमान् करते हैं, और दूसरे अंश केवल मात्र विषय-ज्ञानको लाकरके चित्तको आवरित करते हैं। साधक ब्रह्मज्ञानकी तरफका एक (अर्जुन) बन करके

अपना बनाया हुआ गुरु स्वरूप अपनेको अर्थात् कूटस्थ-चैतन्य (जनार्दन) को कहते हैं, यह विषय-ज्ञानके दल समूह लोभके मारे हत-बुद्धि होगये हैं, इस युद्ध के प्रारम्भ होनेसे दोनों पत्तके त्तयहेतु कुलक्षय का दोष, और मित्रबध का पाप होवेहीगा, वह इन सबकी नजरमें आता ही नहीं; किन्तु हम लोग जान सुनके इन पापोंसे निवृत्त क्यों न हों ? ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः ।
धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्म्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

अन्वयः । कुलक्षय (सति) सनातनाः (परम्पराप्राप्ताः) कुलधर्म्माः प्रणश्यन्ति, धर्म्मे नष्टे (सति) अधर्म्मः कृतस्नं कुलं उत (अपि) अभिभवति (आप्नोति) ॥ ३९ ॥

अनुवाद । कुलक्षये होनेसे सनातन कुलधर्म्म नष्ट होवेगा, धर्म्म नष्ट होनेसे समस्त कुल अधर्म्मसे परिपूर्ण हो जावेगा ॥ ३९ ॥

व्याख्या । कुलत्तय--"कु"=शब्दस्पर्शादि विषय "ल"=भोगवासना । विषयभोगवासनाका नाम "कुल" है । विषय दो प्रकारके हैं । बाहरके आंख, कान, नाक आदिसे जो शब्दस्पर्शादि भोग होता है, वह भी विषय है; और सर्वद्वार संयम करके आत्म-सुखमें जो रूप-रस-शब्दादि उपभोग किया जाता है,

वह भी विषय है। प्रथम वाला बहिर्विषय है, इसलिये स्थूल; दूसरा अन्तर्विषय है इसलिये सूक्ष्म है। वहिर्विषय-भोगसे विषयमें लपटना, और अन्तर्विषय-भोगसे विषय त्यागके लिये विषय से अलग होना पड़ता है। यह स्थूल-सूक्ष्म विषय-भोग सप्तदश कलासे ही होता है। दश इन्द्रिय, पंच प्राण, मन और बुद्धि यही सब सप्तदश कला हैं; वासना, वैराग्य प्रभृति जो कुछ वृत्तियां हैं, वह सप्तदश कलासे ही उत्पन्न होती हैं। यही समुदय "कुल" है। आत्म-युद्धमें ये समस्त क्षयको प्राप्त होती हैं। इन सबके प्रत्येकका एक एक गुण वा धर्म्म है,—जैसे चक्षुका धर्म्म देखना, कानका धर्म्म सुनना, मनका धर्म्म संकल्प-विकल्प करना इत्यादि। ये धर्म्म, शरीरके साथ ही साथ जन्म ले करके, शरीरान्त पर्य्यन्त सर्वकाल विद्यमान रहते हैं। इसलिये सनातन अर्थात् (सर्वके) चिरन्तन। उस कुलक्षयके होनेसे, ये सनातन धर्म्म नष्ट हो जाता है, जैसे चक्षु निस्तेज होनेसे अच्छा दर्शन होता नहीं, कानके निस्तेज होनेसे सुनाता नहीं, मन दुर्बल होनेसे संकल्प-विकल्प की लहर घट जाती है इत्यादि। इस प्रकार क्षय अर्थात् नष्ट होने पर भी जो कुछ अवशिष्ट रहेगा, वह सब अधर्म्मसे अभिभूत होवेगा, अर्थात् समस्त उलट्-पलट् हो जावेगा,—जैसे धान कहनेमें कान सुनना, पित्तरोग-

ग्रस्त रोगीयोंके आंखसे सुफेद रंगको जरद दिखाई पड़ना, इत्यादि ॥ ३९ ॥

अधर्म्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४०॥

अन्वयः । हे कृष्ण ! अधर्म्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति; हे वार्ष्णेय ! स्त्रीषु दुष्टासु (सतीषु) वर्णसंकरः जायते ॥ ४० ॥

अनुवादः । हे कृष्ण ! अधर्म्मका प्रादुर्भाव होनेसे कुलस्त्रियां दूषिता होवेंगी; हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दुष्टा होनेसे वर्णसंकर उत्पन्न होवेंगे ॥४०॥

व्याख्या । इस प्रकार अधर्म्म अर्थात् विपर्य्यय होनेसे कुलस्त्री दूषित होवेगी । जिसके गर्भमें सन्तान उत्पत्ति होती है, उसीको स्त्री कहते हैं । चैतन्य-संयोगसे भीतर और बाहरकी इन्द्रिय समूह सुख, दुःख, वासना, बैराग्य राग, द्वेष प्रभृति विविध वृत्तियां उत्पन्न करतीहैं; इसीलिये ये शरीर और इन्द्रिय सब ही स्त्री हैं । ये स्त्री सकल दूषिता होवेगी अर्थात् शरीर व्याधि-ग्रस्त होवेगा । और व्याधि-ग्रस्त होनेसे ही वर्णदोष अर्थात् शरीरका रूप-लावण्यादि नष्ट होवेगा तथा शारीरिक यन्त्रादियों का काम करनेवाली शक्ति भी बदल जावेगी स्व स्व रूपमें नहीं रहेंगी ॥ ४० ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरोह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४१॥

अन्वयः । संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नरकाय एव (भवति), एषां (कुलघ्नानां) पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः नरके) पतन्ति हि ॥ ४१ ॥

अनुवाद । वर्णसंकर कुलनाशकोंके तथा कुलके नरकके निमित्त होवेगा; इन लोगोंके पितृगण लुप्तपिण्डोदक हो करके निश्चय (नरकमें) पतित होवेंगे ॥ ४१ ॥

व्याख्या । व्याधिवाले शरीरके मनोभावमें ब्रह्मज्योति प्रकाश पा ही नहीं सकता; सर्वदा दुश्चिन्ता, मन्द दिशा में रति मति है इसलिये दश दिशामें शरीरका क्षय होता रहता है; सुस्थ अवस्थामें क्रिया करते करते अनुभवके (अणु होनेके) समय जिन सब महापुरुषोंके साथ साक्षात् होता है, जो ब्रह्मज्योति (पिण्ड) दर्शन होता है तथा सहस्रारसे जो सुधा (उदक) क्षरण होकर सकलकी पुष्टि साधन करता है, वह लोप हो जाता है, ठीक रास्ते में प्राणायाम (क्रिया) होती ही नहीं, इसलिये अनुभव नष्ट होता है । इस अनुभवके समयमें स्थूल शरीरका कुछ ज्ञान रहता नहीं, अथच सूक्ष्मशरीरकी क्रिया जाग्रत अवस्थाके सदृश चलती रहती है । मृत्युके पश्चात् पितृलोग भी तैजस-आकार धारण कर छायाशून्य सूक्ष्म

शरीरमें क्रिया फल भोगते रहते हैं, प्रत्यक्ष होता है। पितृ अवस्था और इस अनुभवकी अवस्था कार्य्यतः एक ही है, केवल स्थूल शरीरके पात न होनेके लिये थोड़ासा फरक रहता है मात्र। उस अनुभव अवस्थका उदय बन्द हो जाता है, इस कारण पितृ-लोगोंका पतन और पिण्ड, उदक तथा क्रियाका लोप, कहा गया ॥ ४१ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः॥४२॥

अन्वयः । कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः जातिधर्म्माः शाश्वताः कुलधर्म्माः च उत्साद्यन्ते (लुप्यन्ते) ॥ ४२ ॥

अनुवाद । कुलनाशकोंके वर्णसंकरकरनेवाले इन समस्त दोषोंमें जातिधर्म्म तथा सनातन कुलधर्म्म लुप्त होगा ॥ ४२ ॥

व्याख्या । वर्णसंकरके उत्पादक शारीरिक विकार से शरीर कामलायक नहीं रहता। जिस जातिका जिस कुलका जो सनातन धर्म्म है, वह भी उस वर्णसंकर शरीर से सम्पादन हो नहीं सकता, इसलिये उत्सन्न होता है॥४२॥

उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्द्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

अन्वयः । हे जनार्द्दन ! उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां नियतं नरके वासः भवति इति अनुशुश्रुम (वयं श्रुतवन्तः) ॥ ४३॥

अनुवाद । हे जनार्द्दन ! जिन सब मनुष्यों का कुलधर्म्म नष्ट होता है, वे लोग नियत नरकमें वास करते हैं, ऐसा हमने सुना है॥४३॥

व्याख्या । "जनार्द्दन"--जन = जन्म, अर्द्दन = पीड़न; जन्मको जो पीड़ित करते हैं अर्थात् जो मुक्ति देते हैं, उन्हींको जनार्द्दन कहा जाता है । यहां कूटस्थ-चैतन्यको ही लक्ष्य करके कहा जाता है कि- हे जनार्द्दन ! सुनने में आता है कि जिन लोगोंके मनोधर्म्म हैं, अगर चे उन सबका तमाम शरीर-धर्म्म दूषित होकर उनके शरीरपातका उपक्रम होवे, तो उन सबके मनमें ऊच्च चिन्ता-आभिलाषादि और नहीं आती, किसी प्रकार प्रायश्चित्त करने वाली (क्रिया विशेषके द्वारा चित्तकी शुद्धि-सम्पादित करने की) शक्ति नहीं रहती; वो सब निरन्तर निदारुण कष्ट भोगते हुये नीच-चिन्तासे शरीर पात करते हैं ॥४३॥

अहो बत महत् पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥

अन्वयः । अहोबत (महत् कष्टं) यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः (सन्तः) वयं महत् पापं कर्त्तुं व्यवसिताः अध्यवसायं कृतवन्तः) ॥ ४४ ॥

अनुवाद । अहो क्या सर्वनाश है ! राज्यसुखके लोभके मारे स्वजनका विनाश करनेके लिये उद्यत होकर हमलोग महत् पाप करनेका उद्योग करते हैं ॥ ४४ ॥

व्याख्या। हरि! हरि! मैं योगके कुहक जालमें पड़कर अपने सहजात शरीरको नष्ट कर योग-राज्य पानेके लिये हाथ बढ़ाता हूं। हाय! हाय! क्या महापाप करता हूं; अपने शरीरको आपही नष्ट करता हूं, आत्महत्या करता हूं। कैसा सुखका लोभ है, छि! छि!! छि!!!

पहिले पहिले साधक योगमें प्रवृत्त होकर अज्ञानताके मारे योगका तत्त्व न समझके जब अवसन्न तथा हताश हो पड़ते हैं; तब मनके भीतर इस प्रकार आप ही आप धिक्कार आता है॥ ४४॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥४५॥

अन्वयः। यदि शस्त्रपाणयः धार्त्तराष्ट्राः रणे अशस्त्रं अप्रतीकारं (अकृतप्रतीकारं तुष्णीं उपविष्टं) मां हन्युः (हनिष्यन्ति), (तर्हि) तत् (हननं) मे (मम) क्षेमतरं (अत्यन्त हितं) भवेत्॥ ४५॥

अनुवाद। अगर वे शस्त्रधारी धार्त्तराष्ट्रगण रणमें हमें अशस्त्र तथा अप्रतीकारक दर्शन करके भी हनन करें, तो भी हमारा परम कल्याणकर होवेगा। ॥ ४५॥

व्याख्या। मनमें जब धिक्कार आता है तब साधक सोचते रहते हैं कि—जाने दो, अब मैं योगक्रिया

न करूंगा; विषय वृत्तिके आकर्षणका नाश करने के लिये प्राणायाम रूपशस्त्र ग्रहण न करूंगा, कोई प्रती-कार भी न करूंगा । इसमें यदि मुझको धार्त्तराष्ट्र-वृत्ति अर्थात् संसारमुखी-वृत्ति समूहसे आक्रान्त होकर ज्वाला-मय संसार यन्त्रणामें जन्म जन्म जल मरना हो तो वह भी भला, तथापि भोग त्याग करके तमाम इन्द्रिय-वृत्ति नष्ट करनेवाले उपायसे विकलांग होकर जीवन्मृतवत् होकर जीवन्मुक्त नाम खरीदना अच्छा नहीं । इस प्रकार योगानुष्ठान कर ब्रह्मराज्यका मुझे कुछ दरकार नहीं॥४५॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४६ ॥

अन्वयः । संजयः उवाच । अर्जुनः एवं उक्त्वा शोकसंविग्नमानसः (शोकाकुलितचित्तः सन्) संख्ये (युद्धे) सशरं चापं (धनुः) विसृज्य (परित्यज्य) रथोपस्थे (रथोपरि) उपाविशत् ॥ ४६ ॥

अनुवाद । संजय कहते हैं । शोकाकुलितचित्त अर्जुन, युद्ध स्थल में ऐसा कहकर सशर धनुष परित्याग कर रथके ऊपर बैठ गये ॥ ४६ ॥

व्याख्या । इस प्रकार कहके तब साधक शोकमें आकुल होकर धनु फेंक देते हैं, अर्थात् मेरुदण्डको शिथिल कर देते हैं, उसे फिर सीधा नहीं रखते। मेरुदण्ड सीधा न

रहनेसे प्राण (शर) भी फिर सरल राहकी ओर उठ नहीं सकता, टेढ़ीगति पकड़ता है (गर्हित पथमें चरण करता है)। इस समय साधक केवल चिन्ताकुल होकर (रथोपस्थे *) कूटस्थकी तरफ देखकर चुपचाप बैठ रहते हैं।

जिन लोगोंने साधन-मार्गमें केवल मात्र अग्र-सर होना आरम्भ किया है, सुषुम्नाके भीतर प्रवेश करके स्थिर आत्म-ज्योतिके प्रकाशित करनेकी शक्ति पाई नहीं है, वह साधक थोड़ासा प्राणायाम करनेसे ही इस अवस्थाको समझ सकेंगे; क्योंकि पक्का अभ्यास न होनेसे सब शरीर, विशेष करके घुटने, कमर, और पीठ पिराते रहते हैं, और स्थिर रह नहीं सकते। दोनों पैर लम्बा कर देते हैं, शरीर ढीला कर डालते हैं, तथा साधन विषय में हताश हो कर उदास मनसे चुप् चाप बैठ रहते हैं॥ ४६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे अर्जुनविषाद-
योगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ ॐ॥

---

* रथोपस्थे बैठनेका अर्थ द्वितीय अध्याय ३ य श्लोक की व्याख्या में देखिये॥ ४६॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अन्वयः । संजयः उवाच । मधुसूदनः तथा कृपया आविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तं (अर्जुनं) इदं वाक्यं उवाच ॥ १ ॥

अनुवाद । संजय कहते हैं । मधुसूदनने तादृश कृपाविष्ट अश्रुपूर्णाकुलित-लोचन विषादग्रस्त अर्जुनसे यह बात कही ॥ १ ॥

व्याख्या । दृश्यमान परिणामी पंच महाभूतोंके ऊपर उठनेसे ही सम्यक् जय करना होता है; वह सम्यक् जय करनेके पश्चात् जो दिव्य दृष्टिका प्रकाश होता है, उसीको संजय (सं = सम्यक् + जय) कहते हैं; और उस दिव्यदृष्टिमें प्रत्यक्ष करके जो अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है, जिस ज्ञानके विरुद्धमें सन्देहका कारण पर्य्यन्त भी नहीं रहता, उस ज्ञानमें जो समझमें आता है, उसीको संजयकी उक्ति कहते हैं ।

"विष" कहते हैं जिसमें व्यापन-शक्ति है, आ = आसक्ति, द = दान करना; व्याप्तिमें आसक्ति देनेका

नाम "विषाद" है। जीव जिसके नाम-रूप दिया है उस मायामय विश्वमें जैसी व्यापकता है, जीव जिसको ब्रह्म कहता है उस ब्रह्म-शब्दके अर्थमें भी उसी प्रकारकी एक व्यापकता है। ब्रह्मकी व्यापकत्वमें आसक्ति देनेसे मायांश विलोप होकरके ब्रह्मत्व प्राप्त करा देती है, और मायाके (विश्वके) व्यापकत्वमें आसक्ति देनेसे शोचनामें पड़ना होता है। साधक ब्रह्मकी व्यापकतामें मिलनेके लिये गये तो अभ्यास के दोष करके, मायाकी व्यापकतामें आसक्ति दे करके, "हमारा" शब्दके अर्थमें जो जो सब खड़ा होता है, वही सबको लेकरके माया योगमें आ करके कूपामें फंस गए। यही "विषाद योग है"। इसलिये माया से चक्षुमें जल आकर बाहरकी दृष्टि शक्ति आवरण हुई। जैसे बाह्य-दृष्टिका अवरोध हुआ, वैसेही अन्तर्लक्ष्यका पर्दा खुल गया, और रोमांच-करी अनुभवका उदय। वो अनुभव ही मधुसूदनका उक्ति है अर्थात् अपने प्रश्नका उत्तर निजबोधरूप आत्म-ज्ञानमें आपही आप अपनी मीमांसा करता है "मधु" कहते हैं, अति मिष्ट द्रव्यको; जीवकी संसार-भोग-वासना ही मिठी चीज है। उसी वासना-रूप मधुका जो सूदन (विनाशक) है, अर्थात् जो प्रभु जीवको संसार विपाकसे मुक्त करते हैं, वही "मधुसूदन" (कूटस्थ तारकब्रह्म) हैं। उनमें ज्ञान वैरा-

ग्यादि समस्त ऐश्वर्य्य ही सर्वदा विराजमान हैं, इसलिये वह भगवान है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! विषमे (एतादृश संकटे) त्वा (त्वां) इदं अनार्य्यजुष्टं (आर्य्यैरसेवितं) अस्वर्ग्यं अकीर्त्तिकरं कश्मलं कुतः समुपस्थितम् ? ॥२॥

अनुवाद । श्रीभगवान् कहते हैं—अर्जुन ! एतादृश विषम-समयमें तुममें ये अनार्य्यसेवित अस्वर्गकर तथा अकीर्त्तिकर कश्मल कैसे उपस्थित् हो गये ? ॥ २ ॥

व्याख्या । सम कहते हैं ऊंचे नीचे (हिलने डोलने) से विहीन अवस्थाको । "मैं-मेरा" ज्ञान न रहनेसे वासनाका लेशमात्र नहीं रहता । "हमही हम" रूप क्या जाने कैसे अस्तित्व-बोधक भाव रहता है मात्र। साधन-चतुष्टय-सिद्ध होकर ये अवस्था भोग करके नीचे उतर आकर संसार बीज नष्ट करनेके लिये अग्रसर होते ही "विषम" अर्थात् असमान अवस्थाका चरम विकाश होता है। तब "मैं" "मेरा" "पर" इन तीनोंका ज्ञान प्रबल होकर, धर्म्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रमें चरम क्षत्रिय-बल प्रकाशकर

रजोगुण खिल आता है; उसीसे "मेरा" की रक्षा करने और "पर" के नष्ट करनेका वेग तीव्रतम होता है, किन्तु अनवधानतासे दूरत्यया मायाके चक्रमें पड़ने से ही हृदयमें अर्थात् कूटस्थमें दृश्य और द्रष्टाके ठीक बीचमें स्रुति सरिसे फूट फूट गोल गोलाकार सीधी टेढ़ी रंग बेरंगके न जाने कितने गिज बिज करते हुये देखनेमें आते हैं; उसी का नाम "कश्मल" है। उस समय बुद्धि अविद्याके वशमें आकरके भ्रममें पड़ती है, इसलिये "पर" को अपना समझ मन मान लेता है। मनका यह विकृत भाव भी "कश्मल" है। कश्मल—अनार्य्यसेवित, अस्वर्ग्य और अकीर्त्तिकर है।

"अनार्य्यसेवित"।— जो साधक मनको सूक्ष्मावलम्बी कर चैतन्यमय जगत्में समदर्शी होते हैं, वही आर्य्य हैं। और जो जड़जगत्में जड़त्वके झमेलेमें पड़कर समताको खोते हैं, वही अनार्य्य हैं। मायाके खिंचावमें पड़नेसे ही विषमतामें पहुंचकर अनार्य्य होना पड़ता है; तब अन्तराकाश कश्मलमें ढक जानेसे कश्मल ही कश्मल दर्शनमें आते हैं, अर्थात् केवल कश्मलकी ही सेवा करनी पड़ती है।

"अस्वर्ग्य"।— स्वर्ग=स्+व+र्+ग; "स"=सूक्ष्मश्वास, "व"=शून्य, "र"=तेज, "ग"=गति। सूक्ष्मश्वासके

शून्य होनेके पश्चात् जो तेजोमयगति होवे, वही स्वर्ग अर्थात् आत्मज्योति-प्राप्ति है । " य " (ष्यण्) प्रत्यय करने से ही होता है स्वर्ग्य अर्थात् आत्मज्योति-प्रापक। वह आत्मज्योति-प्राप्ति जिसमें नहीं होता है, वोही अस्वर्ग्य (अ=अभाव+स्वर्ग्य) है । मायाके खिंचावमें पड़नेसे ही अधोगति होती है, तत्क्षणात् कश्मल आ पहुंचता है, और स्वर्ग (आत्मज्योति) दिखाई नहीं देती, क्रमशः अधिकतर तमसाच्छन्न होना पड़ता है । इसलिये कश्मल अस्वर्ग्य है ।

अकीर्त्तिकर" ।— कर्म्मकी सिद्धि हो जानेके पश्चात् जो ख्याति होती है, उसीका नाम कीर्त्ति है,— जैसे संसार ग्रहण करनेसे संसारी, धनको आयत्ताधीन करनेसे धनी, ज्ञान लाभ करनेसे ज्ञानी, विज्ञान जाननेसे वैज्ञानिक, योगमें अभ्यस्त होनेसे योगी, कर्म्मकी परिसमाप्ति करनेसे सन्न्यासी इत्यादि। कर्म्मकी परिसमाप्ति ही ब्रह्मत्व है; किन्तु परिसमाप्तिके पूर्वमें इसके भिन्न भिन्न स्तर हैं, उन उन स्तरों को एक एक कीर्त्तिका स्थान कहते हैं । जो साधक समस्त स्तर अतिक्रम कर चरम ऊर्द्ध स्तरमें पहुंचे हैं, वही कीर्त्तिमान हैं , वही जीवन्मुक्त हैं, विदेह-मुक्ति उनके "हस्तामलकवत्" आयत्त (इच्छाधीन) हैं । जो साधक वीर हैं, किसी प्रकारसे जो मायाके वशमें नहीं आते, दश दिशामें

मायाका खिंचाव रहनेसे भी जो अपना उजान (उर्द्ध) गति नहीं छोड़ते, वही पुरुष अबाधतः कीर्त्ति शिखरमें उठते रहते हैं। कदाचित् शिखरमें पहुंचनेके पूर्व समयमें भी कालके वशमें उनका शरीर-त्याग हो जावे, तब भी उसके लिये उनको अवसन्न होना नहीं पड़ता, उनकी साधन-लब्ध आकर्षणी शक्ति तब अति प्रबल हो करके विद्युत्-वेगसे निमिष-मध्यमें उनको सकल स्तर पार कराके दूर ऊपरमें ले जाता है,—वह भी अनन्तजीवन पाते है, अर्थात् अपुनरावृत्ति-स्थिति लाभ करते हैं। इसीलिये प्रवाद है कि, "कीर्त्तिर्यस्य स जीवति"। किन्तु जो वीरत्व-परिशून्य होकर मायाकी खिंचाईसे उजान गति नहीं ले सक्के, अटक पड़ते हैं, उनके सामनेमें कश्मल आ करके चिदाकाशको कुयासावृत (कुज्झटिकावृत) करके दिव्य मानस दृष्टि ढांक देती है; तब वह राहभूले दिशाभूले बनकर मायाके आवर्त्तमें पड़के चक्र खाते रहते हैं, उसे फिर कीर्त्तिलाभ नहीं होती, अकीर्त्ति ही होती है; क्योंकि निष्फल कर्म्म तथा असत् कर्म्मका नाम ही अकीर्त्ति है। इस प्रकार अकीर्त्तिमान् साधकको जीवन-प्राप्ति नहीं होती अथवा अनेक देरसे होती है; कारण यह कि, शरीर-त्यागके समयमें कीर्त्ति जैसे जीव को कर्म्म सीमा अतिक्रम करा देता है अकीर्त्ति वैसी उनको अनेक नीचे स्तरमें फेंक देती है, अथवा खींच

रखकर सीमा पार होने नहीं देती इसलिये उनको जन्म-मरणके वशमें पड़ना पड़ता है।

इसीलिये भगवान् कहते हैं,-इस प्रकार कश्मल तुममें कैसे आये ? आत्म-प्रभा-शक्तिसे तुमने जो "भूर्भुव" आदि सर्वजयी होकर स्वर्ग भ्रमण किया है अर्थात् सहस्रारके सहस्र दलमें विचरण किया है, महादेवके प्रसाद से पाशुपत अस्त्र पाया है, अर्थात् सहस्रार कर्णिकाके मध्यगत ब्रह्म-बिन्दुमें आत्मोत्सर्ग करके निमेष मध्यमें सकल अशुभ-नष्टकरनेवाले शिव-पदमें प्रतिष्ठित होनेकी शक्ति पाई है ! वैसे तुममें तो इस प्रकारकी मोह-प्राप्ति शोभा नहीं देती !! ॥ २ ॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अन्वयः । हे पार्थ ! क्लैब्यं मास्म गमः, एतत् त्वयि न उपपद्यते (योग्यं न भवति); हे परन्तप ! क्षुद्रं (तुच्छं) हृदयदौर्बल्यं (कातर्य्यं) त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ॥ ३ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! क्लीवताको ग्रहण न करना; यह तुममें शोभा नहीं पाती; हे परन्तप ! हृदयका तुच्छ दुर्बलताको छोड़कर उत्थित होओ ॥ ३ ॥

व्याख्या । तुम पृथाके पुत्रहो ! तुम्हारी माता पृथा (पृथ्=क्षेपणे; क्षेपण-शक्ति, साधकका साधन-जीवनकी

जननी है) अपने गुणकर्म्म-विभाग-शक्ति-बलसे स्वेच्छा, परेच्छासे बराबर अपनी पूर्व पूर्वावस्थाको त्याग करती हुई चली आई,--ऐसी कि अपने जन्मदाता पिता शूरसेनको त्याग करके उनको कुन्तिभोजकी कन्या भी होनी पड़ी थी। वही मातृगुण तुममें भी विद्यमान् हैं। तुम भी इच्छा करनेसे उसी मातृशक्तिके बलसे मायिक भाव परित्याग कर ब्रह्म भाव लेनेमें शक्तिमान् हो। इसलिये कहता हूं कि, इस प्रकार क्लीवताका आश्रय न करना। क्लैव्य कहते हैं क्लीवके भावको। क्लीव (हिजड़ा) जैसे संसारमें स्त्री-पुरुषत्व-विहीन होकरके केवल मात्र संसार-क्लेश ही भोगती रहती है; तैसे साधन-मार्गमें आकर जो मायाकी खिंचाईमें पड़कर पौरुष-विहीन होता है, ऊंचेमें भी आसक्ता नहीं, तथा आशा बलवती रहती है, इसलिये इच्छा करके नीचेमें भी नहीं आ सकता; केवल मात्र साधन-क्लेश ही उनको सार होता है। तुम परन्तप (पराया-शक्तिको जो तापित करता है अर्थात् प्रकृति-वशी-शक्ति-सम्पन्न) अर्थात् सूक्ष्म प्राणायामसे प्राकृतिक चंचलताको नष्टकर योगारूढ़ होनेमें समर्थ हो; अतएव तुममें इस प्रकार क्लीवत्व (पौरुष-हीनता) शोभा नहीं पाती । हृदयकी यह तुच्छ दुर्बलता त्यागकर (उत्) ऊर्द्ध्वमें (तिष्ठ) स्थित हो जाओ। "द" "य" "प"

"उ" ये चार स्थिति के स्थानके भीतर साधन-समयमें "प" स्थानमें स्थिर रह करके शाम्भवी-मुद्रासे कूट भेद करना पड़ता है। यह "प" आज्ञाके नीचे विशुद्धके ऊपरमें स्कन्ध और मस्तकके सन्धिस्थलमें अवस्थित है; पंचतत्वोंके ऊपर है इसलिये उत् (ऊर्द्ध)। जिह्वाको उलट् कर दाढ़ी खींचकर बाहर वाले कण्ठ-कूपमें लगाकर छातीमें जोर देकर बैठके, मेरुदण्ड (पीठकी रीढ़) स्कन्ध और मस्तकको समान और सीधा करनेसे नस समूहके खिंचावसे, मस्तक-ग्रन्थि "प" और आज्ञाचक्र ये दोनों केन्द्रही समसूत्र होते हैं। वह समसूत्र अवस्था ही कपिध्वज-अवस्था है (१ म अः २० श्लोकका व्याख्या देखो)। मायिक विषय मनमें आनेसे ही ग्रन्थि शिथिल होकर दोनों केन्द्र फिर उस सम-सूत्रमें रहता नहीं, "प" थोड़ी नीचे और आज्ञाचक्र ऊंचेमें आ जाता है। इसी अवस्थाको रथोपस्थमें बैठना कहते हैं। संसार बीज नष्ट करना हो तो कातरताको परित्याग करके उस प्रकार "प" और आज्ञाचक्रको समसूत्रमें रखना पड़ता है; तब शाम्भवी-प्रयोग करनेसे ही, कूट भेद हो जानेसे, अति सूक्ष्म प्राणाघातसे ही बीज भेद हो जाता हैं फिर अंकुरित नहीं होता अर्थात् श्वासकी ठोकरसे मन मर जानेसे चैतन्य-समाधि लाभ होती है॥३॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अन्वयः । हे अरिसूदन ! हे मधुसूदन ! अहं पूजार्हौ भीष्मं द्रोणं च प्रति संख्ये (युद्धे) इषुभिः कथं योत्स्यामि ॥ ४ ॥

अनुवाद । हे शत्रुदमनकारी मधुसूदन ! इन (पूजार्ह) पूजाके योग्य भीष्म तथा द्रोणके साथ युद्धमें वाण द्वारा किस प्रकार युद्ध करूंगा ? ॥ ४ ॥

व्याख्या । जीवके शरीरमें दो शक्ति निरन्तर क्रिया करती रहती हैं। एक "नर" दूसरी "नारायण"। नर मूलाधारमें रहकर चैतन्य-सत्त्वाको वैषयिक अज्ञानज तमःमें मिला देनेके लिये, और नारायण सहस्रार में रहकर उसी चैतन्य-सत्त्वाको अवैषयिक ज्ञानज तमःमें ला करके पालन करनेकी चेष्टा करते हैं । इस चेष्टाका फलही, अर्थात् उन दो शक्तिका समवाय-जनित बल ही जीव-भाव वा जीवत्व है । चैतन्य-सत्वा अर्थात् मन जैसे उन दोनों शक्तिकी खिंचाईमें पड़ा है, वैसे प्राण भी पड़ा है,—एक दफे भीतर, एक दफे बाहर जोलाहेके कपड़ा विनने (बुनने)

वाली ढरकी की तरह चल रहा है । मन—सूक्ष्म और स्वाधीन है, प्राण—स्थूल और अधीन है, मन--जीवत्व, प्राण--जीवन है; केवल यही प्रभेद है । उस नर-नारायण को माया-ब्रह्म वा मायिकशक्ति-ब्राह्मीशक्ति भी कहा जाता है । माया त्याग करके ब्रह्ममें जानेकी चेष्टा करनेसे ही, माया ततक्षणात् खींचती रहती है । मन तब प्राणका आवागमन रूप (दोलना) सरिस, माया-ब्रह्मके ठीक बीचमें दोलता रहता है, अर्थात् एक दफे आत्म-ज्ञान की शक्तिसे ऊपरमें उठता है, फिर विषय-ज्ञानके दोषसे नीचे उतर पड़ता है । आत्म-ज्ञानमें—"हम ही सबके प्रभव तथा हमसे ही सर्व प्रवर्त्तित" इस प्रकार स्वाधीन-भाव आता है । विषय-ज्ञानमें—"आप सर्वज्ञ गुरू, मैं अज्ञ शिष्य" इस प्रकार अधीन-भाव आता है । इन दोनों भावोंको ही यथा-क्रम करके आत्म-भाव तथा जीव-भाव कहते हैं । जीव-भावका संशय आत्म-भावमें समाधान होता है । यह श्रीकृष्णार्जुनका कथोपकथन ही जीवात्म-भावका संशय-समाधान है । ये दोनों एक ही की भिन्न अवस्थायें हैं; मैं ही समझता हूं, मैं ही समझाता हूं,— माया की खिंचाईमें पड़नेसे ही अर्जुन, और न पड़नेसे ही भगवान् । योग मार्गकी आत्म-कुटीरमें ऐसा ही प्रत्यक्ष होता है । साधक ! अब समझ लो कि—

"अर्जुन उवाच" "श्री भगवानुवाच"। वाक्यका अर्थ क्या है!

"संख्ये"। सं=सम्यक्, ख=आकाश, य=यान, ए=स्थिति, अर्थात् देहाभिमान त्याग करके सम्पूर्णरूप आकाश-यानमें (चिदाकाशमें) स्थित हो करके।

"इषुभिः"। आत्ममन्त्र तथा हंस परस्पर समन्वय करनेसे प्राण अतीव सूक्ष्म तथा तीव्रवेगशाली होता है; इसीका नाम इषु वा वाण-(भेद करनेवाली चीज़) है। इसीसे ही अन्तरावरण समूहका भेद हो जाता है।

साधक (अर्जुन) संसार बीज नष्ट करनेके लिये खड़े हुये हैं, किन्तु मायिक विकलता करके ज्ञान ढक पड़नेसे उनको अनेक संशय हो रहा है; इसीलिये आत्म-भाव मधुसूदनको लक्ष्य करके सोचते हैं,—"देहसे अलग हो करके तथा मनको आकाश-सदृश निर्लिप्त करके, सूक्ष्म-प्राणचालनसे श्वासके टक्करसे मनको कैसे मारूंगा? अर्थात् (भीष्म) मनके अहंत्व, एवं (द्रोण) मन-चालित बुद्धिको नष्ट करूंगा?—उस समयमें "मन्त्र" उत्-चारण-शक्ति संकुचित हो जाता है, प्राणका आकर्षण किस प्रकार सम्भव होवेगा? और भी इस ममत्व करके ही हमारी वृद्धि एवं इस बुद्धिसे ही हमारी समृद्धि या विभूति है; इस ममत्वके बलसे विश्वको मैं-मय (जैसे

इक्षुरसमें चीनी) करता हूं तथा प्राकृतिक बुद्धिबलसे तत्त्व-निरूपणसे विज्ञानविद् होकर विभूतिवान् हुआ हूं,- इसलिये ये दोनों ही तो हमारे पूजन के योग्य हैं, नाश करनेके लिये नहीं !" ऐसा ही भ्रम होता है ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वयः । महानुभावान् गुरून् अहत्वा (गुरुवधमकृत्वा) इह लोके भैक्ष्यम् (भिक्षान्नं) अपि भोक्तुं हि (निश्चितमेव) श्रेयः (उचितं)। गुरून् हत्वा तु इह एव रुधिरप्रदिग्धान् (रुधिरलिप्तान्) अर्थकामान् (अर्थकामात्मकान्) भोगान् भुञ्जीय (अश्नीयाम्) ॥५॥

अनुवाद । इन सकल महानुभव गुरुगणको बिना वध किये अगर चे मुझे इस लोकमें भिक्षान्न भोजन करना हो, तब भी कल्याण-कर है; किन्तु इन लोगोंको निधन करनेसे इस लोकमें ही आत्मीयके रुधिरलिप्त अर्थ कामका उपभोग करना होगा ॥ ५ ॥

व्याख्या । "अतएव अति प्रतापशाली उन दोनों को नष्ट न करके अगर चे इहलोक अर्थात् प्राकृतिक आधिपत्यमें रह कर काम्य-कर्म्मसे अभावको आपूरण करना हो (भैक्ष्य), तब भी अच्छा तथापि

उन दोनोंको नष्ट कर प्रकृतिके ऊपर आधिपत्य मिलना अच्छा नहीं; क्योंकि अहंत्व न रहनेसे संवेद रहता नहीं तथा प्राकृतिक बुद्धि न रहने से, भला, बुरा भी रहता नहीं; उस अवस्थामें विषय-भोग वा शरीर-धारण बिड़म्बना मात्र है, जैसे जिह्वाके ऊपर कांटा जैसा निनवाँ हो जाय तो स्वाद लेनेकी शक्ति न रहनेसे सुखका भोजन जैसे दुःखमय होता है, वैसे ही"। (गुरून् गौरवे बहुवचन) ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अन्वयः। यत् वा जयेम (वयं जेष्यामः) यदि वा नः (अस्मान्) जयेयुः (एते जेष्यन्ति), (एतद्द्वयोर्मध्ये) कतरत् (किं नाम) गरीयः (अधिकतरं भविष्यति) एतत् च न विद्मः। यान् एव हत्वा न जिजीविषामः (जीवितुं न इच्छामः) ते धार्त्तराष्ट्राः प्रमुखे (सम्मुखे) अवास्थिताः ॥ ६ ॥

अनुवाद। यदि हम सब जय लाभ करें, यदि वह सब हम लोगोंको पराजय करें, इन दोनोंके बीचमें कौन हम लोगोंके लिये गुरुतर है, यह भी समझ नहीं सकते। जिन सबको वध करके जीने की इच्छा नहीं करता, वही धार्त्तराष्ट्रगण ही सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या । इस प्रकार भावनाके पश्चात् पुनः भावना होती है,—"भला, कौन अच्छा है? प्रकृतिके वश में रहना अच्छा, कि प्रकृतिको वशमें करना अच्छा, समझमें तो आता ही नहीं ! प्रकृतिके वशमें रहने से संसार-बीज नष्ट नहीं होता, फिर प्रकृतिको वश करने से विषय-भोग नहीं रहता;—जिन सबको लेके विषय-भोग करूंगा—जिन सबको नष्ट करके जीता रहने में कोई फल न रहनेसे जीनेकी इच्छा होती ही नहीं, वही सब मानसिक वृत्ति समूह सामने खड़ी हैं ! अब क्या करूं !!" ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्म्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

अन्वयः । कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (एतान् हत्वा कथं जीविष्याम इति कार्पण्यं, दोषश्च कुलक्षयकृतः, ताभ्यां उपहतः अभिभूतः स्वभावः शौर्य्यलक्षणः यस्य सः अहं) धर्म्मसंमूढ़चेताः (युद्धं त्यक्त्वा भिक्षाटनमपि क्षत्रियस्य धर्म्मोऽधर्म्मं वा इति सन्दिग्धचित्तः सन्) त्वां पृच्छामि, यत् मे श्रेयः स्यात् तत् निश्चितं ब्रूहि; अहं ते शिष्यः, त्वां प्रपन्नं (शरणंगतं) मां शाधि (शिक्षय) ॥ ७ ॥

अनुवाद । आत्मीय विनाश करके कैसे जिऊंगा, इस प्रकार कातरता तथा कुलक्षय करनेसे दोष होगा इस प्रकारके दोषकी चिन्तासे हमारा स्वभाव (शौर्य्य) अभिभूत हुआ है ; और युद्ध त्याग करके क्षत्रियको भिक्षावृत्ति ग्रहण करना धर्म्मसंगत है कि नहीं, इस विषयमें मेरे मनमें सन्देह उपस्थित हुआ है; इसलिये मैं आपसे पूछता हूं, जिससे हमारा श्रेय हो निश्चय करके कहिये मैं आपका शिष्य आपके शरणागत हूं मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

व्याख्या । साधक इस श्लोकमें कर्त्तृत्व अभिमानका एक बारगी त्याग कर गुरुपदमें आत्मसमर्पण करते हैं, कहते हैं "ममतापरायण होनेसे हमारी बोधशक्ति ढक गई, चित्त भी धर्म्म-विषयमें मोहको प्राप्त हुआ है; इसलिये आपसे पूछता हूं कि जो श्रेय हो वह निश्चय कर मुझसे कहिये । मैं शिष्य आपके शरणागत होता हूं, उपदेश दीजिये कि मैं क्या करूं। "—शिष्यत्व स्वीकार करके शरणापन्न न होनेसे, तत्त्व-उपदेश मिल नहीं सकता । यह बात प्रकाश्यमें जैसी वैसी ही भीतरमें भी है । कारण देखा जाता है कि, क्रियाकालमें अहंकार (कर्त्तृत्वभाव) त्याग करके भक्तिपूर्वक गुरुचरणोंमें आत्मसमर्पण न करनेसे और किसी प्रकारसे ही अन्तर्दृष्टि नहीं खुलती, तत्त्वज्ञान लाभ भी नहीं होता । इसलिये सद्गुरुका शिष्यत्व स्वीकार ही इस श्लोकका उपदेश है ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यं ॥ ८ ॥

अन्वयः—भूमौ (पृथिव्यां) असपत्नं (निष्कण्टकं) ऋद्धं (समृद्धं) राज्यं सुराणामपि आधिपत्यं च (सुरेन्द्रत्वंच) अवाप्य (प्राप्य) यत् (यत् कर्म्म) इन्द्रियाणां उच्छोषणं (अतिशोषकरं) मम (मदीयं) शोकं अपनुद्यात् (अपनयेत्), तत् हि न प्रपश्यामि ॥ ८ ॥

अनुवाद । पृथिवीमें निष्कण्टक और समृद्ध राज्य, यहांतक कि देवगणके ऊपर आधिपत्य पानेसे भी यह सुझाई नहीं देता कि जिससे मैं अपनी इन्द्रियोंके शोषक इस शोकको दूर कर सकूं ।

व्याख्या । भूमि=क्षेत्र, यह शरीर है । असपत्न=निःशत्रु । दैवप्रतिकूलता, असत्प्रवृत्ति, तथा प्राकृतिक विकृति *—यही तीनों शत्रु हैं । आसन-प्राणायामादिसे इस शरीरके विषयमें जितना जितना परिज्ञान होता रहे, उतना ही उतना निःशत्रु राज्य होता है; तब विशेष विशेष क्रियासे जो योग-सिद्धि लाभ होती है,

* दैव = पूर्वकृत संचित कर्म्म है । संचित-कर्म्मका क्षय न होनेसे किम्वा पुरुषकारसे उस संचित कर्म्मको अतिक्रम न करनेसे नवीन कर्म्मका फल मिल नहीं सकता । असत्प्रवृत्ति = विषयासक्ति है । प्राकृतिक विकृति=वायु पित्त कफका प्रकोप है ।

उसीको ऋद्धि वा विभूति कहते हैं। योग-सिद्ध हो करके विभूति-भूषण होनेसे ही शरीर असपत्न ऋद्ध राज्य होता है।

सुर (स+उ+र)—स=ईश्वर, "प्राणोहि भगवानीशः" अतएव प्राण; उ=सहस्रार-स्थिति-पद; र=तेज; प्राण सहस्रारमें स्थिर होनेके पश्चात जो तेजोराशि प्रकाश पाती है, वही सुर है। उस तेजके आगे पीछे "नाद विन्दु"में मन समर्पण करनेसे जो शक्ति लाभ होती है, वही सुराणां आधिपत्यं है ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुड़ाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तुष्णीं वभूव ह ॥९॥

अन्वयः । संजयः उवाच । गुड़ाकेशः (जितनिद्रः) परन्तपः (शत्रुतापनः अर्जुनः) हृषीकेशं (इन्द्रियाणां ईश्वरं कृष्णं) एवं (उक्त-प्रकारं) उक्त्वा, "न योत्स्ये" इति गोविन्दं उक्त्वा, तुष्णीं वभूव ह ॥९॥

अनुवाद। संजय कहते हैं,—गुड़ाकेश परन्तप अर्जुनने हृषिकेशसे ऐसा कहकर फिर कहा कि "हे गोविन्द! मैं युद्ध न करूंगा"; और फिर चुप हो रहे।

व्याख्या। गुड़ाकेश परन्तप अर्जुन (साधक) जब पूर्वोक्त प्रकारसे कह रहे थे, तब वह कूटस्थ-चैतन्यको

हृषीकेश रूप करके प्रत्यक्ष करते थे, अर्थात् देखते थे, कि कूटस्थ-चैतन्य ही इन्द्रिय-समूहके नियन्तारूपसे विराज रहे हैं। इसके बाद जैसे ही उन्होंने स्थिर किया—और युद्ध (क्रिया) न करूंगा (जो होनेको हो), वैसे ही गोविन्द रूपका प्रकाश होता है (गो=विश्व-समूह, पंचकोष-समन्वित यह शरीर है; विद्=जानना। जो विश्वका ज्ञाता, साक्षी, धाता है वही पुरुष गोविन्द है।) अर्थात् साधक कूटस्थ-ब्रह्मको इस विश्व-कोषके सर्व-साक्षी धाता-स्वरूपसे देख करके उनको ही "सर्व्वस्व पुरुष" प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार होनेसे ही अनासक्ति भाव खिलता है; तब साधकमें एकदम तुष्णींभाव आ जाता है। निस्तब्ध अवस्थाको तुष्णींभाव कहते हैं। इस अवस्थामें इन्द्रिय समूह अपने अपने कामसे अवसर लेते हैं, मन चेष्टा शून्य हो करके कुछ अवलम्बन न करने से अपनेमें आप रहता है। यह तुष्णीम्भाव—गुड़ाकेश एवं परन्तप न होने से हो नहीं सकता। जिन्होंने निद्राको (अलसताको) जीतलिया—जो निद्राको भी निद्रित करना सीखे हैं—जो निद्राको सम्पूर्ण रूपसे अपने अधीन कर प्रयोजनके अनुसार निद्रा-भोग कालमें भी माया चक्र से स्वप्न कुहकमें नहीं पड़ते अर्थात् ज़ाग्रत-स्वप्नमें जो सर्वदा आत्म-चैतन्य में रहते हैं, वह पुरुष

ही गुड़ाकेश हैं। और जो आसन सिद्ध हुये हैं, अर्थात् शिरा-प्रशिराका पथ क्रूर वायु-पित्त-कफ करके आवद्ध रहनेके लिये पहले पहले आसन-कालमें घुटना, कटि, पीठ, पीठके रीढ़ आदि स्थानोंके दर्द करनेसे जैसा विघ्न उत्पन्न होता था, दृढ़ अभ्याससे वह सब कष्ट नष्ट करके अनायास स्थिरासनमें जो बहुत देर तक रह सकते हैं, किसी प्रकार कातरताका अनुभव नहीं करते; वरंच आसन करके बैठनेसे लम्बे-पड़ने-वाला-आराम सरिस आरामका अनुभव करते हैं,—एक बातमें कहनेसे कहना होता है कि प्राकृतिक सैन्यका कोई भी जिनका उद्यम भंग नहीं कर सकता, वही पुरुष परन्तप हैं ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदंवचः ॥१०॥

अन्वयः । हे भारत ! हृषीकेशः प्रहसन् इव (प्रसन्नमुखः सन्) उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं (विषादग्रस्तं) तं (अर्जुनं) इदं वचः उवाच ॥ १० ॥

अनुवाद । हे भारत ! हृषीकेशने हंसते हुये दोनों सेनाके ठीक बीचमें स्थित विषादग्रस्त अर्जुनसे ये बात कही ॥ १० ॥

व्याख्या । हृदयमें उस प्रकार तुष्णीम्भाव आने से ही हृषीकेश प्रहसन् होते हैं, अर्थात् स्निग्धोज्ज्वल

बिजलीकी छटासे अन्तराकाश ज्योतिर्म्मय हो पड़ता है, चित्त पुलक करके भर जाता है। (वह ज्योति—वह आनन्द भाषामें व्यक्त हो नहीं सकती, जो भाग्यवान् साधक ६।७ श्लोकके अनुसार कर्त्तृत्वाभिमान परित्याग करके अन्ध शिष्य बनके उस तुष्णीम्भाव अवस्थामें आ सकते हैं, वही समझते हैं)। किन्तु, दो अंशमें विभक्त प्रत्यक्ष वृत्ति समूहके मध्यभागमें मन अपनेमें आप रहनेसे, विषयविवर्ज्जित विषण्ण-भाव रह जाता है; तब कूटस्थ-श्रीबिन्दुसे निम्न-प्रकार वाक्यका उच्चारण होता है*(भावका स्फुरण होता है)। जिन महाभागने उस अवस्थामें पहुंच कर उस वाक्यको सुने हैं, वह धन्य हैं, उनका जीवन सार्थक है, और पुरुष पद वाच्य भी वही हैं ॥ १० ॥

---

* सात्त्विक आहार, सात्त्विक व्यवहारका आश्रय करके सात्त्विक भावमें गुरूपदेश पालन करते रहनेसे शीघ्र ही गीता-गायत्री आपही आप उच्चारित होती रहती है, जो सुननेमें आती है। इसलिये वेद तथा उपनिषद्को "श्रुति" कहते हैं । भगवद् वाक्य किसी मनुष्यके रचित नहीं हैं। ऐकान्तिक विश्वाससे जो पुरुष सद्गुरूपदिष्ट पथमें विचरते हैं, वह महात्मा इसकी सत्यता समझते हैं, तथा जो भाग्यवान् विचरेंगे, वह भी समझेंगे । भाषा तथा अनुमानसे समझा या समझाया जा नहीं सकता। भुक्तभोगी न होनेसे इस अवस्थाका परिज्ञान होताही नहीं ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

शोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
तासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अन्वयः । त्वं अशोच्यान् (शोकस्य अविषयीभूतान्) अन्वशोचः (अनुशोचितवान्), च (पुनश्च) प्रज्ञावादान् (पण्डितानां शब्दान्) ाषसे ; (किन्तु) पण्डिताः (विवेकिनः) गतासून् (गतप्राणान्) गतासूंश्च (जीवतोऽपि) न अनुशोचन्ति ॥ ११ ॥

अनुवाद । तुम अशोच्य विषय में शोक करते हो. फिर पण्डित रिस वचन भी बोलते हो, किन्तु क्या मृत क्या जीवित किसीके लिये पण्डितगण शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

व्याख्या । जो जो साधक क्रियाके परावस्थामें हते हैं, उन उन साधकके अन्तःकरणमें चांचल्य तथा स्थिरत्व (जीवित और मृत) कुछ भी प्रकाश नहीं पाता। म यह स्थितिपदमें न रह करके भी स्थितिपदमें हने सरिस बचनका भाषण करते हो, अथच सर्वदा चल तथा अस्थिर अवस्थामें अवस्थित रहते हो ॥११॥

नत्वेवाहं जातुनासं नत्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्व्वे वयमतः परम् ॥१२॥

अन्वयः । अहं जातु(कदाचित्)न आसं इति तु न एव; त्वं न आसीः इति न, इमे जनाधिपाः (नृपाः) न आसन् इति तु न अतःपरं वयं सर्वे न भविष्यामः (न स्थास्यामः) इति च न एव ॥ १२ ॥

अनुवाद । मैं जो कभी न था ऐसा नहीं, तुम जो न थे ऐसा भी नहीं; ये राजन्यवर्ग जो कभी नहीं थे वह भी नहीं, इसके पश्चात् हम सब फिर न रहेंगे ऐसा भी नहीं ॥ १२ ॥

व्याख्या । "मैं"—आत्मभाव वा परमात्महूं; "तुम"—जीवभाव; "जनाधिप"—जन=अन्तःकरण-वृत्ति समूह, अधिप=इन सबके भीतर जो जो प्रधान हैं । जीवभाव एवं आत्मभावके समवायसे यह जो चेतनशरीर है, इस शरीरके पूर्वमें यह जीव तथा आत्मभाव था, अन्तर्वृत्ति भी था; न रहनेसे अभीका (वर्तमान कालका) यह समवाय नहीं होता;—क्योंकि; अतीत तथा वर्त्तमान कर्म्म-सूत्रमें बंधा हुआ है । वह बन्धन न खुलनेसे, भविष्यत में भी ये समवाय रहेगा, अर्थात् फिर "मैं" "तुम" "ये" सब उत्पन्न होगें ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

अन्वयः । देहिनः (देहाभिमानिनः जीवस्य) अस्मिन् देहे (स्थूल-शरीरे) कौमारं यौवनं जरा (इति अवस्था परिवर्त्तनं) यथा भवति, देहान्तरप्राप्तिः (एकदेहनाशे अन्यदेहप्राप्तिरपि) तथा भवति; धीरः (धीमान्) तत्र (देहनाशोत्पत्तौ) न मुह्यति (आत्मा एव मृतो जातश्च इति न मन्यते) ॥ १३ ॥

अनुवाद । जीवके इस (स्थूल) देहमें कौमार यौवन जरा

आदिकी अवस्थाका परिवर्त्तन जैसा होता है, वैसीही देहान्तर प्राप्ति भी है अतएव धीर व्यक्ति उससे मोहित नहीं होते ॥ १३ ॥

व्याख्या । इस शरीरमें जैसे कौमार यौवन जरा करके भिन्न भिन्न अवस्थायें आती हैं (किन्तु देही का कोई परिवर्त्तन नहीं होता वह ज्यों का त्यों ही रहता है), जीवकी भिन्न भिन्न देह प्राप्ति भी उसी प्रकार (अवस्था एवं आवरणका परिवर्त्तन मात्र) है। इसमें धीर *(धी—बुद्धि, रा धातु—ग्रहण करना) अर्थात् जो साधक बुद्धिक्षेत्रमें स्थिति लाभ करते हैं, वह मोहित नहीं होते । वह महाशय निश्चयात्मिका वृत्तिद्वारा सत् असत् को पहचानकर सत्का ही आश्रय करते हैं असत्के मोहमें नहीं पड़ते ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

---

* "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।" अर्थात् विकारका हेतु रहनेसे भी जो विकारग्रस्त नहीं होते उन्हें ही "धीर" कहते हैं ॥ १३ ॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः तु (इन्द्रियवृत्तीनां विषयेषु सम्बन्धाः) शीतोष्णसुखदुःखदाः (शीतोष्णादिप्रदाः) आगमापायिनः (आगमापायशीलाः) अतएव अनित्याः; हे भारत ! तान् तितिक्षस्व (सहस्व) । हे पुरुषर्षभ ! एते (मात्रास्पर्शाः) यं समदुःखसुखं धीरं (धीमन्तं) पुरुषं न व्यथयन्ति (न अभिभवन्ति) सः हि अमृतत्वाय (मोक्षाय) कल्पते (योग्यो भवति)॥ १४ ॥ १५ ॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्श सकल (विषयमें इन्द्रिय-वृत्ति के संयोग) शीत-उष्ण-सुख दुःख प्रदान करते हैं; वह सब आगमापायि (उत्पत्तिनाशधर्म्मी) अतएव अनित्य हैं । हे भारत! (तुम उन सभोंको सहन करते चलो । हे पुरुषर्षभ ! ये सब (मात्रास्पर्श), सुख दुःख समान ज्ञान करने वाला जिस धीर पुरुषको व्यथित नहीं कर सकते वही पुरुष अमृतत्व (मोक्ष) पानेके योग्य हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

व्याख्या । मन-आदि ग्यारह इन्द्रियोंके वृत्तियां मात्रा कही जाती हैं; इन सबके साथ विषयके टक्कर (छुआ छूत होने) लगनेका नाम मात्रास्पर्श है । उस टक्करसे ही शीत उष्ण, सुख, दुःख उत्पन्न होता है; यह सब भी फिर उत्पत्ति विनाश शील होनेके कारण अनित्य है । इसी लिये उन सबको तितिक्षासे अर्थात् "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः" हो करके सहन करना होता है । सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ी धरके प्रति चक्रमें "मामनुस्मरन्" करते करते उठनेके समय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पांचो विषय साधकको भोग देनेके लिये नाना मोहिनी रूप धारण कर उपस्थित होते हैं;

मोहित होकर उसमें मन स्पर्श करनेसे ही फंसना होता है; किन्तु भोग चिरकाल नहीं रहता, समय आने से ही क्षयको प्राप्त होता है, रह जाता है केवल संस्कार-बन्धन । उन सब विषयोंकी ओर भ्रूक्षेप न कर मनको संयत कर सूच्यग्र परिमित कूटस्थ-विन्दुमें लक्ष्य स्थिर करके तन्मय होनेसे, अमृत पद पाया जाता है ॥१४॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

अन्वयः । असतः भावः न विद्यते, सतः अभावः न विद्यते; तत्त्वदर्शिभिः तु अनयोः उभयोः अपि अन्तः दृष्टः ॥ १६ ॥

अनुवाद । असत्का अस्तित्व नहीं है, सत् वस्तुकी अविद्यमानता भी नहीं है । तत्त्वदर्शिगण इन दोनोंकाही अन्त देख चुके हैं ॥१६ ॥

व्याख्या । तत्त्व—वस्तुका स्वरूप है। वस्तु दो प्रकार के हैं, सत् और असत् । सत्—आत्मा; असत्—आत्माको छोड़ करके और सब, अर्थात् २४ अंशमें विभक्ता प्रकृति है । असत् वस्तुको अवस्तु भी कहते हैं। दर्शन दो प्रकार के हैं,—अनुलोम और विलोम । मूलसे डगला देखना विलोम दर्शन; यही सृष्टि-प्रकरण है। डगलासे मूल देखना अनुलोम-दर्शन है, यही मुक्ति-प्रकरण है ! सृष्टि-प्रकरण में दृष्टि डगलेकी ओर रहनेसे विविध विषय-तरंगके

आलोड़नमें अज्ञानके अंधियारेमें आच्छन्न होता है, स्वरूप दर्शन होता नहीं । मुक्ति-प्रकरणमें कार्य्यसे कारणका अनुसन्धान होता है, इससे दृष्टि एकमात्र मूलमें ही आवद्ध रहती है, इसलिये ज्ञानालोक करके स्वरूप दर्शन होता रहता है; तब पञ्चीकृत एवं अपञ्चीकृत पंच महाभूत स्थूलसे सूक्ष्मतम हो करके कैसे पृथिवी जल, जल तेज, तेज वायु, वायु आकाश, आकाश तन्मात्रा इत्यादि हो करके इन सकलका पृथक् अस्तित्व मिट कर केवल मात्र "कारण" अवशिष्ट रहता है, वह देखनेमें आता है। यह कारण ही बीज है; उसका और कोई कारण नहीं है, किसी प्रकारके क्षय-वृद्धि-परिवर्त्तन भी नहीं है। यह बीज ही सत् है। जो महाशयगण मुक्ति-प्रकरणमें तत्त्वदर्शी होते हैं, वह सत् और असत् इन दोनोंका ही अन्त जानते हैं, अर्थात् जानते हैं कि असत् का पृथक् अस्तित्त्व नहीं है, अस्तित्त्व सत्‌काही है ॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति॥१७॥

अन्वय । येन इदं सर्वं (जगत्) ततं (व्याप्तं) तत् तु अविनाशि विद्धि; कश्चित् अस्य अव्ययस्य विनाशं कर्त्तुं न अर्हति ॥ १७ ॥

अनुवाद । जगत्‌व्यापी होकर जो महदात्मा हैं, उनको अविनाशि के रूपमें जानना । इस अव्ययको कोई विनष्ट कर नहीं सकता ॥१७॥

व्याख्या । जैसे एक मृण्मय घटका अणु परमाणु मट्टीके अतिरिक्त और कुछ नहीं, घड़ेको फोड़ देनेसे जो मट्टी है वही मट्टी ही रह जाती है, आत्मा और यह विश्व भी वैसा ही है; विश्वके टूटने फूटनेसे आत्माका कुछ नहीं होता, आत्मा जैसीकी तैसी ही रहती है। यह विश्व आत्मामय है, जैसे जलमें रस, इसलिये आत्मा छोड़ करके विश्वका कोई स्थान वर्त्तमान नहीं। जैसे एक जल का कठिन, तरल, वाष्पीय तीन प्रकार आकार करके तीन प्रकार नाम होनेसे भी वस्तु एक ही एक रहता है, केवल अवस्था भेद करके नाम-भेद हो जाता है। तद्रूप जीव, माया, ब्रह्म एक आत्माकी ही अवस्था और नाम का भेदमात्र । इसलिये किसी स्थानसे आत्माको हटा कर आत्माशून्य किया नहीं जाता, सदैव आत्मापरि-पूर्ण रहता है । इसलिये आत्मा अव्यय अर्थात् व्यय-विहीन है । अतएव ऐसे अक्षयको, किस रीतिसे क्षय करोगे ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥१८॥

अन्वयः । अनाशिनः अप्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः (आत्मनः) इमे देहाः अंतवंतः (नश्वराः) उक्ताः ; हे भारत ! तस्मात् युध्यस्व॥१८॥

अनुवाद । अविनाशि, अप्रमेय, नित्य, आत्माके ये समस्त देह अनित्य (विनाशशील) कहे जाते हैं; अतएव हे भारत ! तुम युद्ध करो ॥ १८ ॥

व्याख्या । पूर्व दो श्लोकमें वृहत् ब्रह्माण्डकी बात कह करके, अब शरीर-शरीरि अर्थात् क्षुद्र ब्रह्माण्डकी बात विशेष करके कही जाती है । इन दोनों ब्रह्माण्डके सम्बन्ध में यदि कहना हो तो कहा जाता है कि जैसे जलराशिमें वायुके संयोगसे अनन्त तरंग-फेन-वुद्‌वुद् हो करके (जो जल उसी वायुके ही स्थूल आकारके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं) बहुत क्षणके बाद (बायुका प्रशमन करके) शान्त हो जाता है, उसका जलीयांश जलमें, वायुका अंश वायुमें जाता है, दृष्टिका धोखा उत्ताल-तरंग रहता नहीं, विषमता-शून्य बराबर समान रहता है; ठीक वैसे इस ब्रह्माण्डमें चैतन्य संयोग करके प्रत्येक शरीर उत्पन्न एवं पश्चात् (चैतन्यवियोग करके) विनष्ट होता है । शरीरी अर्थात् चैतन्य अनन्त एवं उपमा-रहित; और यह शरीर मायाके विकार होनेके कारण परिवर्त्तनशील (अन्तवन्त) तथा अनित्य है; यही सिद्धान्तकी बातें (उक्तवा) है । अतएव इस अनित्य शरीरके ऊपर ममतापरायण न होकर युद्ध करो, अर्थात् लय योगमें प्रवृत्त हो जाओ ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

अन्वय । यः एनं (आत्मानं) हन्तारं वेत्ति, यः च एनं हतं मन्यते, तौ उभौ न विजानीतः (न ज्ञातवन्तौ); अयं न हन्ति, न हन्यते॥१९॥

अनुवाद । मनमें इस आत्माको जो हन्ता मान लेते हैं, एवं इनको जो हत मानते हैं, उन दोनोंको ही—प्रकृत तत्त्व मालूम नहीं, क्योंकि यह आत्मा किसीको हनन भी नहीं करता, एवं किसीसे हत भी नहीं होता ॥ १९ ॥

व्याख्या । साधक ! तुम ऊपरमें उठ करके देखो, आत्मा पूर्ण एवं एक है, आत्मा ही जगत है; दो न होनेसे वह हन्ता तथा हत कुछ भी हो नहीं सकता ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अन्वयः । अयं (आत्मा) कदाचित् न जायते न म्रियते वा, भूत्वा वा भूयः न भविता; अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः, शरीरे हन्यमाने न हन्यते ॥ २ ॥

अनुवाद । यह आत्मा कदापि जन्म भी नहीं लेता मरता भी नहीं, अथवा उत्पन्न होकर पुनराय उत्पन्न होवेगा भी नहीं । यह अज, नित्य,

शाश्वत तथा पुराना है ; शरीरके विनाश होनेसे इसका विनाश नहीं होता ॥ २० ॥

व्याख्या । अज=जो कभी जन्मता नहीं, नित्य=जो सर्बकालमें विद्यमान् रहता है, शाश्वत=अविनश्वर, पुराण= जो सृष्टिके पहले, और संहारके पश्चात् विद्यमान रहता है । आत्मा इस रूप स्वभाव सम्पन्न होनेके कारण वह शरीर हत होनेसे भी हत नहीं होता । शरीरका नाम कोष है; कोष पांच हैं,— अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय । प्रथम वाले स्थूल, द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ वाले सूक्ष्म, एवं पंचम अर्थात् शेष वाले कारण शरीर हैं । एकके नष्ट होनेसे, वह लय योग करके सूक्ष्मत्व लेके दूसरेमें परिणत हो करके, अन्तमें "सर्वलय होनेके पश्चात्" सत् सत्त्वामें मिलता है; जैसे "जलका बिम्ब जलमें उदय होकर, उस जलमें ही मिल जाता है" ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयाति हन्ति कम् ॥२१॥

अन्वयः । हे पार्थ ! यः एनं (आत्मानं) अजं अव्ययं नित्यं अविनाशिनं वेद, सः पुरुषः कथं कं घातयति, कं हन्ति ? ॥ २१ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! जो आत्माको जन्मरहित, क्षयरहित, नित्य

तथा अविनाशि जानते हैं, वह पुरुष किस प्रकारसे किसके हाथ किसका हनन करावेंगे, और किस रूपसे किसको हनन करेंगे ? ॥ २१ ॥

व्याख्या । जो (क्रिया विशेषका अनुष्ठान करके) आत्माको अविनाशि, नित्य, अज, एवं अव्यय (क्षय-शून्य) जानते हैं (प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं), वह पुरुषको अर्थात् "अव्यक्तात् परः" जो परागति है, उसको ही प्राप्त होते हैं । तिनमें (सबहीके एक हो जानेके कारण) किसीके हाथ किसीको वध करानेकी वा वध करनेकी युक्ति दिखाई नहीं देती; क्योंकि करने धरने वाला कोई रहता नहीं ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

अन्वयः । यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि गृह्णाति, तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय अन्यानि नवानि संयाति ॥ २२ ॥

अनुवाद । मनुष्य जैसे जीर्ण वस्त्रको परित्याग करके दूसरे नवीन वस्त्रको ग्रहण करते हैं, आत्मा भी वैसे ही जीर्णशरीरको परित्याग कर दूसरे नवीन शरीरको ग्रहण करता है ॥ २२ ॥

व्याख्या । संसारमें जो जन्म मरण देखनमें आता है, वह केवल पुराना कपड़ा छोड़ कर दूसरा नवीन वस्त्र पहिननेके सदृश आवरण परिवर्त्तन मात्र है; पुराने अपटु देहको छोड़ करके, जीव दूसरी एक नवीन पटु देहको ग्रहण करता है ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
च चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अन्यवः । शस्त्राणि एनं (आत्मानं) न छिन्दन्ति, पावकः (अग्निः) एनं न दहति, आपः (जलं) एनं न च क्लेदयन्ति, मारुतः (एनं) न शोषयति । अयम् (आत्मा) अच्छेद्यः, अयम् अदाह्यः, अक्लेद्यः, अशोष्यः एव च; अयम् नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः (स्थिरस्वभावः रूपान्तरापत्तिशून्यः), अचलः (पूर्वरूपापरित्यागी), सनातनः (अनादिः) ॥ २३ ॥ २४ ॥

अनुवाद । इस आत्माको शस्त्र समूह छेदन कर नहीं सकता, अग्नि इनको दहन कर नहीं सकती, जल इनको भिगो नहीं सकता, वायु इनका शोषण कर नहीं सकता, इसी कारण यह (आत्मा) अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, तथा अशोष्य है, आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थाणु (स्थिर स्वभाव), अचल (सदा एकरूप) एवं सनातन [अनादि] है ॥२३॥२४॥

व्याख्या। मायिक विकारसे उत्पन्न हुआ भूत समूह निर्विकारके ऊपर किसी शक्तिका प्रयोग कर नहीं सकता। अस्त्रशस्त्र, अग्नि, जल, वायु--ये समस्त प्रकृति, प्रकृति-विकृति, और विकार हैं। इसलिये आत्मा को अस्त्रशस्त्रसे टुकड़े टुकड़े करना, अग्निसे जलाना, जलसे भिगोना, वायुसे शोषण करना हो नहीं सकता; इसी कारण यह (आत्मा) अच्छेद्य. अदाह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य है। आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, ठूठे बृक्ष सरिस अटल, अचल, एवं अनादि है॥ २३॥ २४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

अन्वयः। अयम् अव्यक्तः अयम् अचिन्त्यः अयम् अविकार्य्यःउच्यते तस्मात् एनं एवं (यथोक्तप्रकारेण) विदित्वा अनुशोचितुं न अर्हसि॥२५॥

अनुवाद। यह आत्मा अव्यक्त. अचिन्त्य तथा अविकार्य्य कहा जाता है। अतएव इसका स्वरूप जानकर निश्चय ही तुम्हारा शोक करना उचित नहीं॥ २५॥

व्याख्या। २३ श्लोकमें कहा हुआ है कि--आत्मा, पृथ्वी अग्नि तथा वायुसे स्पृष्ट--(स्पर्शदोष सम्पन्न) होता नहीं। फिर इस श्लोकमें कहा जाता है कि-आकाश भी आत्माको छू नहीं सकता, क्योंकि आत्मा-'अव्यक्त'

अर्थात् अति सूक्ष्म होनेके कारण शब्दसे भी अप्रकाश्य हैं; अन्तःकरण इनको धारण कर नहीं सकता, क्योंकि यह "अचिन्त्य" अर्थात् चिन्ताके भी विषय नहीं हैं, यह "अविकार्य्य" अर्थात् मायातीत (विकार मायामें ही है, आत्मामें नहीं, जैसे आकाशमें मट्टीका प्रलेप)। इन अवस्था-समूहका तुमने आनुष्ठानिक अनुभव करके अर्थात् कूटस्थके उपर उठ करके निजबोध द्वारा जान करके बाणीमें प्रकाश किया है (उच्यते)। अतएव आत्माको इस प्रकार जान करके शोक करना तुम्हारे लिये उपयुक्त नहीं ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्य्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

अन्वयः । अथ (यद्यपि) च एनं (आत्मानं) नित्यजातं नित्यं मृतं वा मन्यसे, तथापि हे महाबाहो ! त्वं एनं शोचितुं न अर्हसि, हि (यस्मात्) जातस्य मृत्युः ध्रुवः (निश्चितः) मृतस्य च जन्मध्रुवं, तस्मात् अपरिहार्य्ये (अवश्यम्भाविनि) अर्थे त्वं शोचितुं न अर्हसि ॥ २६ ॥ २७ ॥

अनुवाद। और यदि इनको (आत्माको) नित्यजात वा नित्यमृत मनमें मानलो तो हे महाबाहो! ऐसा होनेसे भी तुम इनके लिये शोक कर नहीं सकते; क्योंकि जिसने जन्म लिया है उसका मरण अवश्य है तथा मरनेसे भी जन्म लेना अवधारित है। अतएव इस अपरिहार्य्य विषयके लिये शोक करना तुम्हारे लिये उचित नहीं ॥ २६ ॥ २७ ॥

व्याख्या। अपना साधनलब्ध निजबोधरूप ज्ञान छोड़ करके भी यदि तुम सांसारिक नियमको ले इनको (आत्माको) नित्यजात एवं नित्यमृत मनमें निश्चय कर लो, तो ऐसा होनेसे भी तुम्हारा शोक करना उचित नहीं; क्योंकि जन्म लेनेसे ही मरना होता है, फिर मरनेसे ही जन्म लेना पड़ता है; यह एक बिलकुल ही सच्ची बात है। जन्म और मरण क्या?—चैतन्यके नाम-रूपका आवरण ग्रहण करनेका नाम जन्म, और आवरण विहीन होनेका नाम मुक्ति है, फिर पलटा आवरण लेनेके लिये असावधान हो करके शेष निश्वास त्याग करनेका नाम मरण है। उस आवरण कोही शरीर कहते हैं। वह शरीर तीन प्रकारके हैं—स्थूल सूक्ष्म, और कारण। पंचीकृत-पंचमहाभूत-निर्म्मित, षड्-विकार-सम्पन्न जो भोगायतन है वही स्थूल शरीर है, अर्थात् अस्थिमांसादि-गठित शरीर है। सूक्ष्म शरीर अपंचीकृत-पंचमहाभूत-निर्म्मित, भोगसाधन, एवं सप्तदशकलायुक्त

है । (पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्म्मेन्द्रिय, पंचप्राण, मन, और बुद्धि इन सप्तदशको सप्तदश कला कहते हैं।) निद्राकालमें स्थूल शरीरके बिछौनेके ऊपर बेखबर पड़नेसे भी स्वप्नयोगमें जो शरीरमें क्रिया होती है, उसीका नाम सूक्ष्म शरीर है। और कारण शरीर इन दोनों शरीरका अविद्यारूप कारण मात्र वा बीज है। मृत्युके ठीक पहले जीव वाह्यज्ञान-शून्य होकर सूक्ष्म शरीरमें रहता है, तब उसका समुदय कृतकर्म्म सामने उपस्थित हो करके फल देनेके लिये प्रस्तुत होता है । साधनसिद्ध योगीके सत्कर्म्म समूह चिज्ज्योति विकाश कर (सूर्य्यतेजसे जैसे कुज्झटिका) समुदय आवरण नष्ट करा देनेसे उनको मुक्ति-पदकी प्राप्ति होती है, अर्थात् उनके स्थूल शरीर त्यागके साथही साथ तीनों शरीरका ही त्याग हो जाता है, और फिर शरीर धारण करना नहीं पड़ता। किन्तु असाधक किम्बा असिद्ध साधक कर्म्ममें आबद्ध रहने से, चिज्ज्योतिका दर्शन न पा कर केवल शब्द-स्पर्शादि बिषयोंका दर्शन करते रहते हैं, आवरण भेद वा नष्ट कर नहीं सकते, इसलिये स्थूल शरीर त्याग होनेसे भी सूक्ष्म और कारण शरीर लेके रह जाते हैं। तब, स्वप्न-कालमें समुदय इन्द्रिय वृत्ति और संस्कारके साथ भ्रमण सदृश, सूक्ष्म शरीरमें "आकाशस्थ निरालम्ब वायुभूत" होकरके समुदय वृत्ति और संस्कारके साथ विचरण करते

रहते हैं; इसीका नाम मृत्युकी पर अवस्था है। किन्तु बीज जैसे क्षेत्रमें पड़करके काल साहाय्यसे वृक्षाकार धारण करता है, वैसे ही वो सूक्ष्म और कारण शरीर-रूप क्षेत्रस्थ चैतन्य यथाकालमें स्वसंस्कारवशमें अर्थात् जिस भावका स्मरण करके मृत्यु हुई थी, उसी भावके अनुसार स्थूल शरीर धारण करते हैं;--इसीका नाम जन्म है। अतएव जब तक कर्म्मक्षय हो करके आवरण दूर न होय, तबतक उसी प्रकार शरीर ग्रहण और त्याग अर्थात् जन्म और मरण होता रहता है। ये जन्म-मरण दो प्रकारके हैं,—श्वासगत और शरीरगत। श्वास ग्रहण करके उससे जीवन रक्षा करके भोगके पश्चात् उस श्वासको त्याग करना पड़ता है; श्वासके इस ग्रहण और त्यागको ही श्वासगत जन्म और मृत्यु कहा जाता है। जबतक जीवन है तबतक ये श्वासगत जन्ममृत्यु-प्रवाह बहता रहता है। ठीक इसी प्रकार जीवत्व जितने दिन है, शरीरगत जन्ममृत्यु-प्रवाह भी उतने दिन है,--जीव एकदेह धारण करके, भोगके शेषमें उसको त्याग करके, संचित कर्म्मराशि भोग करनेके लिये फिर दूसरी एक नवीन देह ग्रहण करते हैं। जैसे जीवन धारण करनेसे जीवनका शेष न होने तक श्वासका ग्रहण और त्याग करना ही पड़ता है; तैसे (संचित कर्म्मराशिका क्षय हो करके) जीवत्वका

शेष न होने तक शरीरका ग्रहण और त्याग करना ही पड़ता है;—ये अनिवार्य्य हैं। अतएव अपरिहार्य्य विषय में शोक करना तुम्हें उचित नहीं ॥ २६ ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अन्वयः। हे भारत ! भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि एव; तत्र परिदेवना का ? ॥ २८ ॥

अनुवाद। भूत सकल (प्राणीगण) आदिमें (सृष्टिके पहले) अव्यक्त (अप्रकाश), मध्यमें (कुछ कालके निमित्त) व्यक्त (प्रकाश), तथा मृत्युके पश्चात् फिर अव्यक्त ही हो जाते हैं; अतएव इसमें दुःखका विषय क्या है ॥ २८॥

व्याख्या । आदि-अन्त-मध्य विशिष्ट जो कुछ है वही भूत है। अतएव ये भोगायतन शरीर, अन्तःकरण एवं नाना वृत्तियोंका आधार स्वरूप विभिन्न मिश्रामिश्र शिरा प्रशिरा की क्रिया—सबही भूत है। यह सब भूत उत्पत्ति (जन्म) होनेसे पहले कैसी अवस्थामें रहते थे, वह किसीके दर्शनमें आता नहीं; फिर लयके (मरणके बाद) पश्चात् किस प्रकारकी अवस्था प्राप्त होती है, वह भी कोई नहीं जानता;—ये दोनों ही अव्यक्त हैं।

केवल उस उत्पत्ति-लयकी मध्यावस्था व्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंके ग्रहणीय--नियमित चंचलताका विकाश, गुण-त्रयकी क्रिया है। यह तीनों ही प्राकृतिक नियमके अधीन-अवश्यम्भावी हैं; इसके लिये दुःख करना, रोना, पीटना फिर शोक करना काहेको? और भी देखो! तुम "भारत" (भा=दीप्ति, आत्मज्योति+रत=आसक्त) अर्थात् योगा-नुष्ठानमें आत्मज्योति प्रत्यक्ष करके उसमें युक्त हुये हो, और उसी ज्योतिके सहारेसे योगमार्गमें अन्तर्लक्ष्यमें प्रत्यक्ष देख चुके हो कि, ब्रह्माश्रया माया,* जो अव्यक्त-मूल है, उनसे ही त्रिगुणात्मक चौबीस कला-विशिष्ट ये प्राकृतिक जगत् सृष्ट हुआ है (१४ श अः देखो);--लय-योगमें ये सब ही पुनः मकड़ीके जालका सुति मकड़ीसे मकड़ीमें मिला लेनेके सदृश, उस अव्यक्तमें ही मिल जाता है;--केवल सृष्टिके प्रारम्भसे लयके पूर्व पर्य्यन्त मध्यवर्त्ती कालकी क्रियात्मक अवस्था ही व्यक्त है;--इसका आदि भी वही अव्यक्त, अन्त भी सोइ अव्यक्त है। इसका स्वरूप प्रत्यक्ष करके भी तुम इसमें क्यों शोक करते हो? ऐसा न करना चाहिये। इच्छा करके शोकसे अपने गलेमें फांसी नहीं डालना ॥ २८ ॥

---

* जैसे सत्य प्रत्यक्षका अवसर न रहनेसे भी मिथ्या अप्रत्यक्ष कल्पना करके उसको मानलेना, वैसे ही ब्रह्ममें माया भी है ॥ २८ ॥

आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्य्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

अन्वयः । कश्चित् एनं आश्चर्य्यवत् पश्यति, तथा एव च अन्यः आश्चर्य्यवत् वदति, अन्यश्च एनं आश्चर्य्यवत् शृणोति, कश्चित् श्रुत्वा अपि एनं न च एव वेद ॥ २९ ॥

अनुवाद । कोई कोई इसको (प्रोक्तविषयोंको) आश्चर्य्य सरिस देखते हैं, कोई कोई आश्चर्य्यवत् इसको कहते हैं, कोई कोई इसको आश्चर्य्य हो करके श्रवण करते हैं, फिर कोई कोई श्रवण करके भी इसको जान (समझ) नहीं सकते ॥ २९ ॥

व्याख्या । साधक ! जिस रोज सद्गुरुकी कृपासे तुमने अपनेको प्रथम दर्शन किया था, उस दिन तुमने आप ही आप मनमें आश्चर्य (जो नहीं जानते हैं वही आश्चर्य्य है) मान लिया था कि नहीं ? उस अपरूप रूपकी बात जब तुमने वाणीमें कहने की चेष्टा पाई थी, उस रूपको प्रकाश करने वाली भाषा न पा करके, व्यक्त करनेमें अशक्त हो करके, आपही आप तुमने अपनेको आश्चर्य्यमें पाया था कि नहीं ? फिर स्मरण करो--उसी प्रणवके गर्भमें नाद, नादके गर्भमें विन्दु; उसी अर्द्धनारी-

श्वर बिन्दु से (बिन्दुखिल करके जब एकसे दो बिन्दु हो कर) एक बिन्दु प्रकृति नामको लेकरके जब नाचते नाचते प्रथम बाहर हुये, उसके साथही साथ पुरुष भी (स्थिर विन्दु) नाचते रहगये (दोनों बिन्दुके ही कम्पन); पुरुषका कम्पन अति अधिक दर्शनमें आनेके कारण उसका नाम हुआ "ताण्डव" और प्रकृति का कम्पन धारणा में आनेके कारण उसका नाम हुवा "लास्य"। इसलिये ताण्डवका "ता" और लास्यका "ल" दोनों मिल करके शब्द हुवा "ताल"। अखण्ड-नादके गर्भमें ये प्रकृति देवीका ताल क्रममें पादचारण करनेसे जो व्यञ्जन-मिलन होता है, उसीको छन्द कहते हैं; वो छन्द फिर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत उच्चारणके लघु, गुरु भंगिमासे सात स्वरमें सुनाई देती है। जब तुमने उस शब्दको प्रथम सुनाथा तब तुम घबराके आश्चर्य्य भावमे डूबेथे या नहीं? अच्छा! फिर जब तुम इसके बाद भावके अधिकतासे भावके सागरमें डूब कर वितल तलमें चले गये थे, तुम्हारा "अहंत्व" मिट गया था, क्या तब तुम कुछ मालूम कर सकते थे?—तब और तुम्हारे जानने लायक विषय कुछ नहीं था, कोई ज्ञान भी नहीं था, उस समय जानने और न जाननेका विषय कुछ नहीं रहता, सब समझका शेष हो जाता है। "अहंत्व" बोध भी जब न रहे, तब कौन

किसको जाने ? इस श्लोकमें तुम अपनी कई अवस्थाओंको मिला देखो ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अन्वयः । हे भारत ! अवध्यः अयं देही (आत्मा) सर्वस्य देहे नित्यं [भवति]; तस्मात् त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि ॥३०॥

अनुवाद । हे भारत ! अवध्य ये जो देही (आत्मा) है वह सर्व देहमें नित्य वर्तमान हैं; अतएव तुम सर्व भुतोंके लिये शोक न करना ॥ ३० ॥

व्याख्या । तुम भारत---आत्मज्योति-निविष्टचित्त हो; तुम जानते हो और अभी प्रत्यक्ष देख भी चुके हो, ये जो देहस्थ चैतन्य आत्मा (देही) है, वह अवध्य तथा सर्व शरीरमें (जगत्के भीतर आयतन विशिष्ट जो कुछ सब शरीर—चेतन ही हो या अचेतन ही हो और उद्भिद भी होय) नित्य वर्त्तमान है । अतएव इस नित्य वर्त्तमानको छोड़ करके अनित्य-देह जो भूत है ,उसके लिये तुम शोक न करना, ऐसा शोक करनेसे तुम्हारी शोभा नहीं होती ॥ ॥ ३० ॥

स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

अन्वयः। अपिच स्वधर्म्मं अवक्ष्य विकम्पितुं न अर्हसि; हि(यस्मात्) क्षत्रियस्य धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः न विद्यते ॥ ३१ ॥

अनुबाद। और भी स्वधर्म्म को देख करके विकम्पित होना तुम्हारे लिये उचित नहीं; क्योंकि क्षत्रियोंके पक्षमें धर्म्मयुद्धके अतिरिक्त श्रेयस्कर दूसरा और कुछ नहीं है ॥ ३१ ॥

व्याख्या। स्वधर्म्म = आत्मधर्म्म। आत्मक्षेत्र बुद्धि-क्षेत्रके * ऊपर है। लययोगका आश्रय करके इस क्षेत्रमें आपहुंचनेसे, (अनुलोमकी गतिमें) केवल अहंकारका आविर्भाव करके, हम ही सब, मैं ही मैं हूं--इस प्रकार स्थिर धीर अतिस्निग्धोज्वल तड़ित्पुञ्जवत् प्रकाशमय "मैं" रूपकी एक-रस अवस्था आती है;--उसीको स्वधर्म जानना चाहिये। साधक! तुमने गुरूपदेश-प्राप्त सहस्रार के क्रियायोगसे ध्वनिके अन्तर्गत ज्योति भेद तथा मन को विलय करके, विष्णुपदमें मिल कर स्वधर्म्मको प्रत्यक्ष अनुभव किये हो--समझ भी चुके हो; समझनेके पश्चात् तुम्हारा इस प्रकार कम्पित होना ठीक नहीं। तुम क्षत्रिय--आत्मराज्यसंस्थापनेच्छु हो; उस आत्म-धर्म्मके हेतु शम-दमादिके साथ आत्म निग्रहके लिये (शरीर ही "मैं" हूं, ये अभिमान नष्ट करनेके लिये)

*"यो बुद्धेः परतस्तु सः"—३य अः २४ श्लोक। "मनसस्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मा"—श्रुतिः ॥ ३१ ॥

युद्ध (प्राणायाम) बिना तुम्हारा और दूसरा श्रेयः है ही नहीं ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः । हे पार्थ ! यदृच्छया च (अप्रार्थितमपि) उपपन्नं (प्राप्तं) अपावृतं (उन्मुक्तं) स्वर्गद्वारं (इव) ईदृशं युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते ॥ ३२ ॥

अनुवाद । हे पार्थ आपही आप उपस्थित उन्मुक्त स्वर्गद्वार-स्वरूप ईदृश युद्ध सुखी क्षत्रियगणको ही प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

व्याख्या । सुख--सु=सुन्दर, शुभ; ख=शून्य । क्षिति अप, तेज, मरुत्, व्योम--ये पांचही 'कुछ' हैं; जिसका आदि-अन्त-मध्य है, उसीको ही कुछ कहते हैं; वो कुछ न रहना ही "शून्य" अर्थात् अविषय है । अभाव का आपूरण ही अर्थात् प्राप्तिका प्राप्ति या आकांक्षा मिटजाना ही "शुभ" है । शान्तिके लिये ही आकांक्षा है । अविच्छिन्न निस्त्रैगुण्य अवस्थाही शान्ति है । मात्रास्पर्श समूह के (२ य अः १४ श्लोक) उत्पत्ति-विनाश शील और अनित्य होनेके कारण शान्ति नहीं आती । किन्तु आत्मा के नित्य होनेके कारण, विषय छोड़ करके आत्मामें आ पड़ने से ही शान्तिमय आत्मानन्द लाभ होता है । इस विषय-शून्य शान्तिमय अवस्थाकोही सुख कहते हैं । जो यह

सुख भोगते हैं वह भाग्यवान् पुरुष ही सुखी है। जो क्षत्रिय अर्थात् आत्मज्योतिके प्रकाश का रक्षा के लिये वीर्यशील हैं, तथा सुखी हैं वह पुरुषरत्न इस प्रकार युद्धलाभ करते हैं; क्योंकि यह युद्ध अनायास-लब्ध है। क्षत्रियवृत्ति-सम्पन्न सुखी साधक दिव्य दृष्टि करके देखते हैं कि, मानासिक वृत्ति सकल आपही आप (किसी प्रकार का चेष्टा न करने से भी) नाना विषय में दौड़ता हुआ उनको (साधक को) आत्मपदसे हटादेनेके लिये चेष्टा कर रही हैं; इसीलिये यह युद्ध अनायास लब्ध है। और भी यह युद्ध स्वर्गका उन्मुक्त द्वार स्वरूप अर्थात् आत्म-गति का खुला हुवा दरवाजा है; क्योंकि जो साधक ऊंचे स्तरमें उठ गये हैं वह जानते हैं कि देहात्माभिमान नाश करने वाला सूक्ष्म प्राण-चालन ठीक होने से ही एक प्रस्फुटित मणिमय (हीराके तेज सरिस ज्योतिसदृश) अवकाश वा छिद्रसे "कोटीसूर्य्यप्रतीकाशं चन्द्रकोटी सुशीतलं" आत्मज्योति खिलती हुई बाहर निकल आती है, दर्शनमें आती है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ! बड़े भाग्य से इस युद्ध (क्रिया) मिलता है ॥३२॥

अथचेत् त्वमिमं धर्म्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्म्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अन्वय । अथचेत् (यदि) त्वम् इमं धर्म्म्यं (धर्म्मविहितं) संग्रामं न करिष्यसि, ततः स्वधर्म्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापं अवाप्स्यसि ॥३३॥

अनुवाद । अभी अगरचे तुम यह धर्म्म युद्ध न करोगे तो ऐसा होनेसे स्वधर्म्म तथा कीर्त्ति परित्याग करके तुम पापको प्राप्त होंगे ॥३३॥

व्याख्या । साधक की उस सुखकी अवस्था के आते ही साधक सामने शुद्ध चैतन्यमय श्रीकृष्ण परमात्माका दर्शन करते हैं, और क्षत्रिय वृत्ति रहनेसे प्रवृत्ति-निवृत्ति की क्रिया समूह साधक में प्रत्यक्ष होती है । इस लिये कहागया—सुखी क्षत्रिय हो करके यदि तुम अभी यह आत्मधर्म्म-विषयक प्रवृत्तिनाशक युद्ध (प्राणायामादि साधना) न करोगे तो उससे स्वधर्म्म (ब्राह्मी स्थिति) और कीर्त्ति (ब्राह्मीस्थिति पात होने की चेष्टा में अनुष्ठित कर्म्म में जो एक एक सिद्धि लाभ होने के पश्चात् आत्मख्याति अथात् अपने सामर्थके प्रति अपनी विशुद्ध प्रशंसा और विश्वास होता है, वही) परित्याग करके तुमको पापमें अथात् प्राकृतिक चंचलता में—जन्म मृत्युके प्रवाह में पड़ना होवगा ॥ ३३ ॥

अकीर्त्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अन्वयः । अपिच भूतानि ते अव्ययां अकीर्त्तिं कथयिष्यन्ति; सम्भावितस्य (बहुमतस्य) अकीर्त्तिः मरणात् अतिरिच्यते (अधिका भवति)॥३४॥

अनुवाद। और भी भूतगण तुम्हारे अक्षय अकीर्त्तिमें घोष करेंगे; समर्थ पुरुषकी अकीर्त्ति मृत्युसे भी अधिक होती है॥ ३४॥

व्याख्या। साधक! यदि तुम क्रियामें इतनी दूर अग्रसर होनेके पश्चात् अभी कातरता कर प्राणायामादि क्रिया (युद्ध) त्याग करो तो, जिस कर्म्ममें तुम अकृत-कार्य्य हुए हो कर्म्मप्रारम्भ करके सिद्धि लाभ करने की शक्ति हुई नहीं, वही तुम्हारी अकीर्त्ति। यह अकीर्त्ति केवल इसी जन्म में तुम्हारे मनमें अनुशोचना का उद्रेक करके निरस्त होवेगी ऐसा नहीं; यह अकीर्त्ति तुम्हारे लिये अव्यय अक्षय होकरके रहेगी। क्योंकि भूत सकल (अपंचीकृत पंचमहाभूतनिर्म्मित सूक्ष्मावयव मन-आदि सप्तदश कला) तुम्हारी इस अकीर्त्तिकी घोषणा करके अव्यय करेगा अर्थात् अति उन्नति की अति अवनति कारण करके बारबार तुमको जन्म मृत्युके प्रवाहमें डाल कर पूर्वकृत कर्म्मकी स्मृति संस्कारके हाथसे तुमको निष्कृति पाने न देगा; तब, (संसारवाही मूढ़ लोग कष्ट भोग करके जैसे कहता रहता है "जनम जनम मैं कितने पाप किये है--कितनी गोहत्या, नरहत्या, स्त्रीहत्या की है, अब उसीका फल भोग रहा हूं" इसी प्रकार करके) घोर संस्कार के रूपामें तुम्हारे ही मुखसे ऐसी ऐसी बातें निकलेंगी;--इसीकोही घोषणा जानिये। फिर वह समस्त कार्य्य भी संस्कारमें परिणत हो कर तुम्हारी भावी उन्नति

का कण्टक होवेगा । इसलिये कहता हूं कि साधक! तुम सम्भावित (बहुमत, पूजित) अर्थात् मन बुद्धि प्रभृति सप्तदश कलाके श्रेष्ठ हो; तुम इच्छा करके यदि यह अकीर्त्ति लेओगे, तो यह तुम्हारे मरणसे भी अधिक होवेगी । क्योंकि मरनेसे शरीर का विच्छेद होनेके पश्चात् कृतकर्म्मका संस्कारही रह जाता है, प्राकृतिक यन्त्रणा रहती नहीं, वह शरीर के साथही साथ मिट जाती है सही किन्तु इस करके पर जन्मके शरीर में दूनासे भी अधिक परिमाण यन्त्रणा भोग करना पड़ती है ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अन्वयः । महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं (निवृत्तं) मंस्यन्ते (मन्येरन्); येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा लाघवं यास्यसि ॥ ३५ ॥

अनुवाद । महारथ समूह मनमें समझेंगे कि भय करके तुम युद्धसे प्रतिनिवृत्त हुये हो; जो लोग तुमको अनेक श्रेष्ठ कह करके मानते हैं, उन लोगोंके पास तुम बहुत छोटे हो जावोगे ॥ ३५ ॥

व्याख्या । अकृतकार्य्य होनेसे केवल बाहर के ही सामर्थ्यवान् लोग तुम्हारी अवज्ञा और घृणा करते हैं, ऐसा नहीं; अन्तःकरणके भीतर भी प्रवृत्ति-निवृत्तिके

भीतर प्रधान प्रधान वृत्ति समूह (महारथाः) मनमें उदय हो करके आत्मग्लानि उत्पन्न करती हैं; तब मनमें होता है, हाय हाय !! डरके मारे उपरत (पीछेपांव) हुआ हूं !—मुझको धिक है ! उस प्रकार, पहले पहले जिन सब वृत्तियों के ऊपर एक शक्ति रहने से आत्ममान बनी रहती है, पश्चात् उन सबके प्रधान हो उठनेसे आप ही आप अन्तःकरणमें थोड़ासा लघु होना पड़ता है, पहले सरिस मन और उतना तेज धर नहीं सकते। साधक ! तुम अपना सब प्रकार का अभिज्ञता के साथ मिलाके देखलो, सब मिल जावेगा ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अन्वयः । तव अहिताः (शत्रवः) तवसामर्थ्यं निन्दन्तः बहून (अनेक प्रकारान्) अवाच्यवादान् च वदिष्यन्ति; ततः दुःखतरं किं नु ? ॥ ३६ ॥

अनुवाद । शत्रुपक्ष तुम्हारी शक्ति सामर्थ्यकी निन्दा करके बहुत ही अकथ्य कथनका प्रयोग करेगा; दुखका विषय इससे अधिक और क्या हो सक्ता है ॥ ३६ ॥

व्याख्या । अहितों अर्थात् शत्रु समूह * (रिपु

---

* शत्रु—२य अः ८ म श्लोक का व्याख्यामें देखो ॥ ३६ ॥

और इन्द्रियगण) तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे, अनेक अनिष्ट की बातें भी कहेंगे, अर्थात् तुम आपही आप मनही मनमें अपनी अनेक प्रकार निन्दा ग्लानि करते रहोगे । इससे अधिक दुःखदायी और क्या है ? "धिक्जीवितं व्यर्थमनोरथस्य" ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! हतो वा स्वर्गं प्राप्स्यसि, जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे; तस्मात् युद्धाय कृतनिश्चयः (सन्) उत्तिष्ठ ॥ ३७ ॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! यदि मरोतो स्वर्ग लाभ करो,—यदि जयी होओ तो पृथिवी भोगकर सकोगे; अतएव युद्धके लिये कृतनिश्चय हो करके उठ बैठो ॥ ३७ ॥

व्याख्या । यह साधन-समर करते करते मरजाने से भी तुमको स्वर्ग (आत्मगति लाभ) होवेगी; क्योंकि सत् कर्म्म करते करते शरीर त्याग होनेसे, मृत्यु सन्धि में अभ्यास के बल करके मनमें सत् वस्तु ही उदय होवेगा; जिसमें सद्गति प्राप्ति अवश्यम्भावी है (६ ष्ठ अः ४०-४६ श्लोक देखो)। और यदि जय लाभ कर सकोगे तो "महीं भोक्ष्यसे" अर्थात् असपत्न ऋद्ध राज्य भोगते

रहोगे (८ म श्लोक देखो) अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाओगे। अतएव युद्धके लिये कृतनिश्चय होकरके ऊर्द्धमें स्थित होजाओ (उत्-तिष्ठ) (३ य श्लोक देखो) ॥ ३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

अन्वयः । सुखदुःखे समे (तुल्ये)कृत्वा, तथा लाभालाभौ जयाजयौ (समौ कृत्वा) ततः युद्धाय युज्यस्व (सन्नद्धोभव) एवं (युद्धं कुर्वन्) पापं न अवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अनुवाद । सुख-दुःख, लाभ-अलाभ तथा जय-पराजय समान ज्ञान करके युद्धमें युक्त (प्रस्तुत) हो जावो; इस प्रकारसे (युद्ध करनेसे) तुम पापको प्राप्त न होओगे ॥ ३८ ॥

व्याख्या । सुख १२ श्लोकमें व्याख्या की गई है। दुःख—दुः=कलुषित, ख=आकाश; वासना रहनेसे ही अन्तराकाश आवरण-शक्ति करके ढक जाता है, तब अभावपूर्ण शून्यमय अंधियारी से भरी हुई एक अवस्था आती है; सुन्दर जो आत्मज्योति है, उसकी रेखा मात्रका भी दर्शन नहीं मिलता, प्राण आंय चांय करता है, मन व्याकुल होता है,—वही दुःख है। सुख-दुःख लाभ-अलाभ, जय-पराजय समान करके अर्थात् "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" होकरके, युद्धके लिये ही (गुरु कहते हैं बोल करके) युद्ध करता हूं, इस

प्रकार से फलाकांक्षा छोड़ देके कर्त्तव्य ज्ञान करके युद्ध अर्थात् प्रवृत्ति-निग्रह में यत्न करो । ऐसा करने से और तुमको पाप (चंचलता, जिसमें साधक को अवश करके स्थान और लक्ष्य भ्रष्ट होना पड़ता है) स्पर्श न करेगा अर्थात् कर्म्म-अकर्म्म-विकर्म्म जिसमें रहोगे निरन्तर ब्राह्मीस्थिति पावोगे ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अन्वयः । हे पार्थ ! सांख्ये (परमार्थ वस्तु विवेक विषये) एषा बुद्धिः ते (तुभ्यं) अभिहिता (कथिता); योगे तु (कर्म्मयोगेतु) इमां बुद्धिं शृणु यया बुद्धया युक्तः (सन्) कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि (प्रकर्षेण त्यक्ष्यसि) ॥ ३९ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! मैंने सांख्यमत सिद्ध यह ज्ञान तुमसे कहा, अब योगमत करके इस ज्ञान का विषय कहता हूं श्रवण करो, जिस ज्ञानमें युक्त होनेसे तुम कर्म्म बन्धनको परित्याग कर सकोगे ॥ ३९ ॥

व्याख्या । साधक ! यह जो निश्चय करने वाली बुद्धि तुमसे कही गई, वही सांख्यका मत है; किन्तु योगका मतमें वह बुद्धि किस प्रकार होती है, सुनो,— जिसके युक्त होनेसे तुम सम्पूर्ण रूपसे कर्म्म बन्धनको त्याग कर सकोगे ।

सांख्य क्या ? संख्या द्वारा वस्तुतत्व निरूपण कर

लेने का नाम सांख्य है। इसमें प्राकृतिक २४ तत्व और पुरुष एक, ये २५ पदार्थ की गणना करके विश्वकोष की सच्चा समझी जाती है;--यह अनुमान और अनुभवसिद्ध * समष्टि ज्ञान है, इसीलिये सांख्य शब्दमें ज्ञानको समझाते हैं। और योग? एकको और एक वस्तुके साथ मिला कर तदाकार कर देने का नाम योग है; यह योग सम्पूर्ण अनुष्ठानसिद्ध है। जैसे पृथिवी-तत्वको लय करके रस-तत्त्वमें मिला कर एक करना योग है, रसको ऐसेही तेजके साथ मिलाना योग है, तद्वत् तेज वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश तन्मात्रामें, तन्मात्रा मनमें, मन बुद्धिमें, बुद्धि अहंकारमें, अहंकार महत्त्वतत्वमें वा चित्तमें चित्त अव्यक्त वा मूल-प्रकृतिमें, सबके पश्चात् प्रकृति को पुरुष में मिला देने का नाम योग है। किन्तु पूर्व पूर्व योग शेष योगके क्रम बिना और कुछ नहीं है, इसलिये उस क्रमका नाम योग-मार्ग तथा क्रम की परिसमाप्तिका नाम योग है। साधक यह योग प्राप्त होने से ही योगी, और नीचेके स्तरमें रहने से ही योगाभ्यासी हैं। योगी हो करके योगावस्था छोड़के नीचे वाले स्तरमें उतर आनेसे जो ज्ञान होता है, वह भी सांख्य है। अतएव योगका प्रथम भी सांख्य

---

* अनु=सूक्ष्म, भव=होना; ज्ञातव्यके साथ तदाकारत्व प्राप्ति ॥२१॥

शेष भी सांख्य; योगका मूल भी सांख्य, फल भी सांख्य है। जो मूल है, वह सम्पूर्ण आनुमानिक वा उपदेश प्राप्त ज्ञान--"सांख्य-योग"; और जो फल है, वह योगका आनुष्ठानिक ज्ञान "मोक्ष-योग" है;—यही इसमें पृथकता, नहीं तो एकही है।

२४। २५ श्लोकमें जो जो प्रकाश हुआ है, वही सांख्य मतकी बुद्धि वा ज्ञान है; इसमें पृथिवीसे आत्मा पर्य्यन्त समुदयकी सत्वा प्रत्यक्ष होती रहती है। किन्तु योगमें जो ज्ञान होता है उसमें नीचे वाले स्तर समूहका लय होता चला आता है, जिससे नीचे वाला ज्ञान एक दम मिट कर क्रम अनुसार ऊंचे में उठकर एकहीमें परिणत हो जाता है। यह जो विषय से समेट ले आना आत्ममुखी बुद्धि है, इस बुद्धि द्वारा युक्त होनेसे ही (एक मात्र प्राणायामसे ही उस प्रकार होता है, उसका प्रकरण गुरूपदेशगम्य है) प्रारब्ध, संचित जो कुछ कर्म्मबन्धन है, समस्त ही सम्पूर्ण रूपसे छूट जाता है॥ ३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

अन्वयः। इह (मोक्षमार्गे कर्म्मयोगे) अभिक्रमनाशः (प्रारम्भस्य नाशो

निष्फलत्वं) न अस्ति प्रत्यवायश्च न विद्यते; अस्य धर्म्मस्य (कर्म्मयोगस्य) स्वल्पं अपि (अनुष्ठितं) महतः भयात् [जन्ममरणादिलक्षणात् र-ससा. भयात्] त्रायते (रक्षति) ॥ ४० ॥

अनुवाद। इस कर्म्मयोगमें अभिक्रमका नाश [प्रारम्भकी निष्फलता] नहीं है, प्रत्यवाय भी नहीं है; इस धर्म्मका अल्पमात्र भी अनुष्ठित होनेसे महत् भय (जन्म मृत्युके प्रवाह) से त्राण करता है ॥ ४० ॥

व्याख्या। इस कर्म्मयोगमें अभिक्रम का (अभि= सन्मुखमें, क्रम=गमन करना) अर्थात् आत्माभिमुख गतिका नाश नहीं होता, क्योंकि "तदर्थीय" कर्म्म होने से इसका "अभाव" नहीं होता; वैसेही प्रत्यवाय वा विपरीत गति भी नहीं होती, क्योंकि योगी ६ष्ठ अः ४४ श्लोकके अनुसार परजन्ममें भी पूर्वाभ्यासकी शक्तिसे अवश होकर आत्माभिमुखमें बढ़ते जाते हैं। इस धर्म्मका (योगावलम्बनका) अल्पमात्र भी महत् भयसे त्राण करता है। संसारमें जन्ममृत्यु ही महत् भय है। प्रवृत्तिमार्गमें (विलोम वा संसारमार्गमें) रहने से ही विषयमें लक्ष्य रहता है, किन्तु विषयके अनित्यताके हेतु उसी एक विषयका भोग शेष करके विषयान्तर लेनेके लिये उसका त्याग अनिवार्य्य है; अतएव मृत्यु निश्चय है। मृत्यु होने से ही पुनः जन्म होता है। यह जन्म-मृत्यु बराबर होता ही रहता है, शेष नहीं होता। किन्तु निवृत्तिमार्गमें (अनुलोम वा योगमार्गमें) थोड़ासा भी अग्रसर होने

से अभिक्रमनाश और प्रत्यवाय रहता नहीं इससे लक्ष्य नित्यमें आकृष्ट होता है; इसलिये श्वासगत या शरीरगत चाहे जिस प्रकारकी मृत्यु हो, दो-पांच जन्मके बाद ही जन्म मृत्युके प्रवाहके परपारमें पहुंचा जा सकता है । "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

अन्वयः । हे कुरुनन्दन ! इह (मोक्षमार्गे कर्म्मयोगे) बुद्धिः व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) एका (च भवति) ; हि (किन्तु) अव्यवसायिनाम् (बहिर्मुखानां कामिनां) बुद्धयः बहुशाखाः अनन्ताश्च (भवन्ति) ॥ ४१ ॥

अनुवाद । हे कुरुनन्दन ! इस कर्मयोगमें बुद्धि व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) तथा एक होती है; किन्तु अव्यवसायियोंकी बुद्धि बहुशाखायुक्त और अनन्त होती है ॥ ४१ ॥

व्याख्या । इस कर्म्मयोगसे बुद्धि " व्यवसायात्मिका" (वि=आकाश, चक्षु+अव्=विस्तार+सो=मरण) अर्थात् आकाशमय चक्षुमें विस्तृत हो कर स्थिर हो जाने से स्थिरतामयी वा निश्चयात्मिका होती है, एवं "एका" अर्थात् कूटस्थमध्यस्थ "कोटी-सूर्य्यप्रतीकाशं चन्द्रकोटी

सुशीतलं" तारकके भीतर (तारक नक्षत्रके भीतर) प्रविष्ट होनेके पश्चात् वह एकानन्द वा ब्रह्मानन्दमय हो जाती है। किन्तु अव्यवसायियोंके (अ=निषेधार्थ+वि= विशेष+अव्=निश्चय+सो=उद्योग करना) अर्थात् जो लोग विशेष निश्चयताके साथ उद्योग (उत्=ब्राह्मी-मार्गमें, योग=प्राणायामादि रूप आनुष्ठानिक क्रिया) नहीं करते, उन सबकी (बुद्धयः) बुद्धि एकत्व छोड़ करके नानात्वमें पतित होनेके लिये बहुशाखायुक्त तथा अनन्त होती है। "बहुशाखायुक्त" अर्थात् भिन्न भिन्न विषयके संसर्गमें आकरके भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है; और "अनन्त" अर्थात् विषय-भोगमें आबद्ध रह करके बार बार जन्म-मृत्युके आलोड़नमें वृद्धिको ही प्राप्त होती रहती है, विषय छोड़ करके ब्रह्ममें आके चिरविश्राम नहीं पाती— "निर्वाणपरमां शान्ति" नहीं पाती ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अन्वयः । हे पार्थ ! अविपश्चितः कामात्मानः स्वर्गपराः (ये जनाः) वेदवादरताः (अतएव) अन्यत् न अस्ति इति वादिनः (वदनशीलाः सन्तः) इमां यां जन्मकर्म्मफलप्रदां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां पुष्पितां (विषलतावत् आपातरमणीयां) वाचं प्रवदन्ति, तया (वाचा) अपहृतचेतसां भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां (तेषां) बुद्धिः समाधौ व्यवसायात्मिका न विधीयते (भवति)॥४२॥४३॥४४॥

अनुवाद । हे पार्थ ! जो सब अविवेकि कामात्मा स्वर्गपरायण लोग वेदवादरत हैं अतएव "अन्य कुछ है नहीं" इस प्रकारके वक्ता होकर ये जो जन्मकर्म्मफलदेनेवाला भोगैश्वर्य्य प्राप्तिकी उपाय स्वरूप क्रियाविशेषबहुल मनहरणकरनेवाली वाक्य कहती है, उसी वाक्य द्वारा अपहृतचित्त तथा भोगैश्वर्य्यमें आसक्त होनेसे उन सबकी बुद्धि समाधिमें व्यवसायात्मिका नहीं होती ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

व्याख्या । विपश्चित् (वि+प्र=विप्रकृष्ट+चि = संग्रह करना+क)—जो कोई विप्रकृष्टको अर्थात् दूरवर्त्ती को संग्रह करते हैं । दूर कितने प्रकारका है ? देशगत, कालगत, तथा पात्रगत—ये तीन प्रकारके दूर हैं। देशगत दूरबर्त्तीको हाथ और पैर द्वारा अर्थात् शारीरिक क्रिया द्वारा संग्रह (सम्यक् प्रकार करके ग्रहण) किया जाता है; कालगत दूरवर्त्तीको भूत-भविष्यत्के अनुमान एवं विचार द्वारा अर्थात् अन्तःकरणकी क्रिया द्वारा ग्रहण किया जाता है; तथा पात्रगत दूरवर्त्तीके संग्रह (सम्यक प्रकार करके ग्रहण) अनुभव द्वारा अर्थात् अनु होते होते सबके शेषमें चित्तधर्म्मके पार होनेके बाद

अर्थात् लय योग द्वारा अन्तःकरणवृत्तिका लय करते करते मायिक सब कुछ मिटजानेके बाद आत्मामें आत्मा मिलने पर होता है। जो शरीर, मन और आत्मा—ये तीनों एक करके दूरवर्त्ती (षट्चक्रके पर पारस्थित) नाद बिन्दुको सम्यक् प्रकार ग्रहण कर सकते हैं अर्थात् उसमें मिल जा सकते वा मिलनेकी चेष्टा करते हैं, उसको विपश्चित् कहते हैं। किन्तु जो मनुष्य क्रियायोग करके उस दूरवर्त्तीको संग्रह नहीं करते वा संग्रह करनेकी चेष्टा नहीं करते--निकटवर्त्ती अर्थात् पंचचक्रके भीतर दृश्यमान विषयका ग्रहण करते हैं, उनको अविपश्चित कहते हैं। निष्काम कर्म्मके अनुष्ठानसे ही दूरवर्त्तीका ग्रहण होता है; सकाम कर्म्मसे दूरवर्त्तीका ग्रहण नहीं होता, निकटवर्त्तीका ग्रहण होता है। इसलिये सकाम पुरुष ही अविपश्चित् अर्थात् अविवेकी है। अविवेकि कामना-परवश होकर विषय-सुख भोगोंका सर्वोत्कृष्ट स्थान जो स्वर्ग, उसीको लक्ष्य करता है। स्वर्ग लाभ ही काम्यकर्म्मका सर्वोत्कृष्ट फल है, वेदके कर्म्मकाण्ड में इसी प्रकार विधान है। वह लोग वेदके उन उन वचनोंको लेकर "स्वर्ग लाभ ही श्रेष्ठतम फल है, उसे छोड़ कर और (दूसरा) कुछ नहीं है" ऐसी नाना प्रकारकी साज सज्जावाली मनोहर बातें कहते हैं।

इस प्रकार करनेसे ऐसा होता है कि, वो सब अपने को भूलकर नित्यानित्य-विचार विहीन होकर भोग और ऐश्वर्य्य लेकर ही मतवाले बने रहते हैं, समाधि में व्यवसायात्मिका बुद्धि-युक्त हो नहीं सकते। क्यों नहीं हो सकते उसका विषय खुलासा कहा जाता है—

कर्म्म दो प्रकार के हैं,- सकाम और निष्काम; बहिर्मुखमें स्थूल शरीर और अन्तर्मुखमें सूक्ष्म शरीर द्वारा यह किया जाता है। इसलिये कर्म्मकी एक सीमा है। बाहरमें जैसे अत्यधिक परिश्रम करके शरीरके क्लान्त और अचल होनेसे काम काज कुछ होता नहीं, निश्चेष्ट हो पड़ता है, भीतरमें भी वैसे कर्म्म चरम अवस्थाको प्राप्त होनेसे ही बिलकुल मिट कर एक स्थिर भाव आ जाता है। उस स्थिर भावका नाम ही समाधि है। अतएव यह समाधि, क्रियाकी अवश्यम्भावी फल है। किन्तु कर्म्मके सकाम-निष्कामता हेतु समाधि दो प्रकार की समझना चाहिये। सकाम कर्म्ममें लय होनेके समय कामना वाले विषयकी स्मृति संस्कारको लेकर विश्राम लेना पड़ता है; समाधि भंग होते ही जाग्रत होनेके साथही साथ वो स्मृति भी फिर जाग उठती है; इसीका नाम जड़समाधि है। इसमें विभूति लाभ ही होती है, मुक्ति नहीं होती। निष्काम कर्म्म करके समाधि लेनेके समय

कामना नहीं रहती, इसलिये केवल चैतन्यमें ही लक्ष्य रहती है और उसी चैतन्यमें ही लीन होना पड़ता है; यह अवस्था छूट जानेसे मनमें वृत्ति मात्रही उदय नहीं होती, कदाचित यदि वृत्ति भी आ जाये तो, क्या जाने मैं—कैसे अच्छा रहा, इस प्रकार एक आनन्द-रसका नशासे अन्तःकरण मतवाला रहता है; इसका नाम चैतन्यसमाधि वा ब्राह्मीस्थिति है । इस चैतन्यसमाधिके ग्रहणके पहले ही बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है । इसी-लिये कहा हुआ है कि—आसक्त वालोंकी समाधि होने से भी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती ॥४२॥४३॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः (त्रिगुणान्विताः); (त्वं) निर्द्वन्द्वः नित्यसत्त्वस्थः निर्योगक्षेमः आत्मवान् (भूत्वा) निस्त्रैगुण्यः (त्रैगुण्यातीतः) भव ॥ ४५ ॥

अनुवाद । हे अर्जुन ! वेद सकल त्रैगुण्य विषयक हैं; अतएव निर्द्वन्द्व, नित्यसत्वस्थ, निर्योगक्षेम तथा आत्मवान् होकर त्रिगुणरहित हो जावो ॥ ४५ ॥

व्याख्या । जानना जो कुछ है वह समस्त वेद है। वेद—ऋक्, यजु, साम, अथर्वण् इन चार भागमें विभक्त है।

त्रैगुण्य ही इस वेदका विषय है । रजः सत्त्व तमः-ये तीन गुण हैं; इन गुणके समष्टिका नाम त्रैगुण्य है । रजोगुणका धर्म्म--क्रिया, फल--दुःख, (कारण, काम करते जाने से ही परिश्रम है)। सत्त्वका धर्म्म-प्रकाश (जो आपही आप होता है, निजबोधरूप), फल—सुख है । तमोका धर्म्म --स्थिरता (नाश), फल-मोह है। इन तीनोंका मिश्र धर्म्म--सुख-दुःख-मोहका सामञ्जस्य; फल--आनन्द है । बीजकी अंकुरोत्पादिका शक्ति जैसे जल, वायु, और तेजके सहारे बिना प्रकाश नहीं पाती, वैसे ये तीन गुण परस्पर पृथक रहनेसे अपनी अपनी क्रिया का प्रकाश करके दिखा नहीं सकते ; तीनोंके परस्पर मिश्रणसे ही प्रत्येककी क्रिया खिल कर बाहर निकल आता है। किन्तु उस मिश्रणमें यदि प्रत्येकका अंश समान (बराबर) हो रहे, तो किसी क्रियाका प्रकाश नहीं होता, साम्य भाव आता है; असमान भागसे ही क्रिया खिलती है ।

मूलाधारमें तमःका शेष हो करके सत्त्वका प्रारम्भ तथा रजोका पूर्ण विकाश होता है; स्वाधिष्ठानमें रजः बारह आना, सत्त्व चार आना; मणिपुरमें रजोसत्त्व बरोबर समान समान (तृतीयचित्र देखिये)। ऊंचे दिकमें मणिपुर पार होनेसे ही रजोका परिमाण सत्त्व

से क्रम क्रम करके अधिक से अधिक कम होता रहता है। इसलिये मूलाधारसे मणिपुर पर्य्यन्त ही रजः प्रबल है। आसनमें बैठनेसे पहले ही कर्म्ममय रजः का अवलम्बन करके, अर्थात् स्थूलशरीरगत करण समूहमें बलप्रयोग करके, आसक्ति पूर्वक प्राण-चालन करना पड़ता है; जबतक प्राण सूक्ष्म होकरके मनको लेकर बज्राके भीतर प्रवेश न करे, तबतक प्राण-कर्म्म अति प्रबल,—मन चंचल,—कूटस्थ मेघावृतके समान रहता है; दर्शन करनेके योग्य जो कुछ हैं वह सब दूर दूरमें ईषत्-विद्युत-चमक करके प्रकाशित अस्पष्ट चंचल छाया सदृश, अस्पष्ट रूपसे दर्शन देता रहता है; इसीको ही दुःख कहा जाता है (दुः=दूरमें, खं=शून्य) पश्चात् बज्राके भीतर प्रवेश करके मणिपुर चक्रमें उपस्थित होने से; वहां रजः सत्त्व समान् परिमित होने से भी (दुःखमें) दूर आकाशमें सूर्य्य मण्डलके भीतरसे रक्तवर्णा द्विभुजा अक्षसूत्रकमण्डलुकरा हंसासनसमारूढ़ा कुमारी ब्राह्मी-शक्ति प्रत्यक्ष होती है; तब चारों दिशामें एक प्रकारकी चमक दिखाई देती रहती है; उस चमकके भीतर श्रवण शक्तिको फेंकनेसे मालूम होती है कि, क्या जाने क्या दूर पूर्व दिशामें *

* शरीरके सम्मुखदिक पूर्व, पश्चात्भाग् पश्चिम, दक्षिण तरफ दक्षिण, और वाम भागको उत्तर दिशा समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

उच्चारित होता है, अच्छी तरह समझमें आता नहीं; जैसे एक दिवालके उल्टे तरफके घरके भीतरसे बिना दांतका असल बुड्ढ़ि मुखमें जलदी जलदी क्या जाने कौन क्या कहता है, इस प्रकार बोधमें आता है। मणिपुर पर्य्यन्त यह रजोबहूल कर्म्मप्रधान दुःखमय क्षेत्रमें जो मालूम होता है, वो ही ऋक्‌वेद—"अ"। वो जो शब्दोच्चारण श्रवण में आता है, सो ही गायत्री मन्त्र, और वोही देवी ही ऋक्‌वेदकी अधिष्ठात्री देवी "गायत्री"—गायत्री की प्रथमा मूर्त्ति है।

मणिपुर भेद करके चित्राके भीतर प्रवेश करनेसे ही चित्र विचित्र नाना प्रकारके रंग देखनेमें आते हैं "अष्टधावलयाकारा" स्थान भेद करके (क्रिया गुरूपदेश-गम्य) उठनेसे ही अनाहत चक्र मिलता है। उस अनाहतमें सत्त्व बारह अंश, रजः चार अंश, और विशुद्ध चक्रमें सत्त्व चौदह अंश, रजः दो अंश है; इसलिये रजोका वेग कम हो जानेसे दुःखका परिमाण क्षय हो कर सुखका उदय होता है,—अन्तराकाश भी ज्योति करके उज्वलता से भर जाता है,—मनकी चंचलता—आवेग दूर होता है। इस समय उपासना (उप=समीपे, आसन=स्थिति) होती रहती है, अर्थात् चित्राके विचित्र वर्णसे मन आकृष्ट होनेपर प्राण-क्रियाकी आसक्ति मिट जाती है, इसलिये

दृश्य-द्रष्टाका व्यवधान (फरक) भी कम हो जानेपर चिद् समीपमें अवस्थान होता है । तब द्वादशदलके भीतर दूसरा एक अष्टदल कमल खिल उठता है; उसके ऊपर ज्योतिर्म्मण्डलमध्यस्था कृष्णवर्णा चतुर्भुजा त्रिनयना शंख-चक्र-गदा-पद्महस्ता युवती गरुड़ारूढ़ा वैष्णवीशक्ति प्रत्यक्ष होती है,—उसके साथ ही साथ मृदुमधुर सुस्पष्ट स्वरसे गायत्री मन्त्र निकटमें दक्षिण दिशामें (दहिना कानके पीठकी ओरसे) उच्चारित होती रहती है । तत्पश्चात् अन्तर-शाम्भवीसे वो ज्योति भेद होजाने से निमेष क भीतर विशुद्धमें षोड़शदल कमल खिल उठता है, उसमें वही देवी फिर विद्युत्वर्णमें दर्शन देके ही अन्तर्हिता होती हैं । यह सत्त्व-बहुल उपासना-प्रधान सुखमय अनाहत-विशुद्ध क्षेत्रमें जो जाना जाता है, वही यजुर्वेद—"उ" । वो देवी ही यजुर्वेदकी अधिष्ठात्री देवी "सावित्री"--गायत्रीकी दूसरी मूर्त्ति हैं । यही पहले कृष्णवर्ण करके पश्चात् विद्युत्वर्णसे प्रकाशिता होती हैं; इसलिये यजुर्वेद—कृष्णयजुः और शुक्लयजुः दो अंशमें विभक्त है ।

विशुद्धके ऊपर रजः क्रम अनुसार क्षीणसे क्षीणतम हो कर आज्ञामें शेष होता है । इस आज्ञामें सत्त्वका पूर्ण विकाश और शुद्ध तमोका प्रारम्भ है (३य चित्र देखो)।

तीन गुणके भीतर तमोका ही प्राधान्य देखनेमें आता है; क्योंकि, (अनुलोममें देखा जाता है) विशुद्ध तमोके ठीक ऊपरमें ही जगत्प्रसविनी महामाया—स्थिर आधार के ऊपरमें ही क्रिया, क्रियाकी ही प्रकाश, फिर स्थिर में ही सब का विराम। आज्ञामें उसका प्रारम्भ होनेसे भी * सर्वत्रही इसका प्रभाव विभिन्न परिमाणमें विस्तृत हैं, वह प्रभावही, ऊंचे दिशामें क्रम अनुसार घणीभूत होते हुये, आज्ञामें अपने विशुद्ध सत्त्वामें परिणत होती है। इस स्थानमें एक अपूर्व व्यापारका संघटन देखने में आता है,—पूर्णसत्त्व-प्रकाशके भीतर, नीचे ऊपरसे यथाक्रम करके रजो और तमो अति सूक्ष्माकार करके परस्पर मिलने से, एकाधारमें स्थिरता-चंचलताका समावेश,—रजस्तमका मिलन-मुखसे राग रागिणी युक्त विविध छन्दका शब्द लहरी उत्थित;—झंकार झंकार से सप्रणव गायत्री, वेद और ऋषिवाक्य समूह अतीव सुस्पष्ट और सुललित स्वरके साथ पश्चिम दिशामें

* तीन गुण सर्वत्र ही विद्यमान है, किन्तु दो दोका प्राधान्य दिखाई देता है; जहां रजस्तम प्रधान है, वहां सत्व अभिभूत होकर विलुप्त अवस्थामें रह जाता है; जहां रजःसत्व प्रधान है, तहां तमो विलुप्त है; वैसे जहां सत्वतमो प्रधान है, वहां रजो विलुप्त अवस्थामें रह जाता है ॥ ४९ ॥

उच्चारित,—देवता, गन्धर्व, ऋषि, यक्ष, रक्ष, किन्नर, ग्रह, विग्रह प्रभृति विश्व-प्रपंच सुनियमसे जैसे नाट्यमंच में अभिनीत होता है,—सृष्टिस्थितिलयका उत्स,—मन प्राण मोहित, चांचल्य विलुप्त,—एकवचनमें कहने से कहना होता है कि, "इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं सचराचरं" प्रकटित (मूर्त्तिमान) है। यह तमोप्रभाव युक्त, गान-प्रधान, मोह नहीं अथच मोहमय आज्ञाक्षेत्रमें जो जाना जाता है, वही सामवेद—"म" है। उस रजतमोका संयोग-विन्दुमें लक्ष्य ठीक करनेसेही अतिस्निग्धोज्वला शुक्लवर्णा द्विभुजा त्रिशूल-डमरुकरा वृषभारूढ़ा वृद्धा रौद्री शक्ति प्रत्यक्षा होती हैं; यह महाशक्ति ही सामवेदकी अधिष्ठात्री देवी "सरस्वती"—गायत्रीकी तृतीय मूर्त्ति हैं।

आज्ञास्थित सत्त्वके भीतर रजस्तमोके संयोगस्थलको कूट कहते हैं। उस कूटके भीतर एक अनुपम सुवर्णोज्वल विन्दु लक्ष्य होता है, वो विन्दु ही अनादि विश्वनाथ महेश्वर हैं; उसी स्थानसें ही सरस्वती उत्पन्न हैं। उसी महेश्वर-मुखसे निरन्तर नाद-लहरीयुक्त वेदादि-मन्त्र उच्चारण होता है; वेदादि-मन्त्र से ही आज्ञा-मूलाधार-व्यापिनी गायत्री-सावित्री-सरस्वती-रूपिणी वेदमाता उत्पन्ना,—रजो द्वारा सर्वत्र उत्-चारिता,—तथा प्रकाशमय विशाल सत्वके भीतर अवस्थिता है। इसीलिये यही "महेशवदनोत्पन्ना विष्णोर्हृदयसम्भवा ब्रह्मणा समनुज्ञाता" हैं। आज्ञा

से मूलाधार पर्य्यन्त क्रिय-पदके भीतर यही देवी तीन रूपसे प्रकाशिता तथा सम्पुटित त्रिपाद मन्त्रसे उच्चारिता होती हैं; इसीलिये इनको त्रिपदा कहा जाता है। इनका और एक पाद है; वह चतुर्थ पाद निष्क्रियपद सहस्रारमें अवस्थित है। ब्राह्मण उपनयन समयमें जो गायत्री-मन्त्र शिक्षा करते हैं, वह त्रिपदा है;—संन्यास कालमें जो मन्त्र सीखना पड़ता है, वही गायत्रीका चतुर्थ पाद है। चतुर्थ पादमें संन्यासियोंको ही अधिकार है, कर्म्मीको नहीं; क्योंकि कूटस्थ भेद करके सहस्रारमें न पहुंचनेसे इन्हें पहचाना नहीं जा सकता।

कूटस्थ भेद करके आज्ञा पार होनेसे ही रजः मिट् जानेपर रजः-प्रभाव भी धीरेधीरे मिट् जाता है, प्राण-क्रिया जैसे ही शेष होता है, वैसे ही निष्क्रिय-पद सहस्रार विकशित होता है; तब स्थिर-प्रकाश ज्ञानज्योति खिल उठती है;--उस ज्योतिके प्रभावसे अतीत, अनागत, वर्त्तमान विषय-व्यापार प्रत्यक्ष होता रहता है। इस समय में जगज्जननी त्रिनयना आद्याशक्ति प्रसन्न हो करके कभी पुरुष, कभी प्रकृति रूप धरके, साधकके भ्रमात्मक द्वैतमय मायाजालको छिन्न करके भेदज्ञानका अप-नयन करती है, सचतुर्थपाद गायत्री उच्चारिता होती है (ये सब उत्तर दिशामें सुनाई देता है)। उस चतुर्थ-

पादसे सन्न्यास होता है, अर्थात् शब्द-विन्यास एक प्रणव में ही परिसमाप्त हो करके लहरी-विहीन एक-तान (अकम्पन) अनाहत नादका उत्थान होता है; इस नाद के भीतर से एक ज्योतिर्म्मय विन्दु खिल बाहर आता है; यही बिन्दुही तारक ब्रह्म है, इनका और परिणाम नहीं, मन इनमें अटक जाता है। इस अवस्थामें इन्द्रियवृत्ति क्रिया-विहीन होती है, अर्थात् विषय है, इन्द्रिय भी है, तथापि भोग नहीं—इस प्रकार की अवस्था होता है। तब आप ही आप सम्पादित विश्वव्यापारका द्रष्टा मात्र साक्षी स्वरूप बन करके सदानन्दमय होना पड़ता है। यह आनन्दमय ज्ञानावस्था ही अथर्ववेद—"ॐ" है। उस बिन्दुके भीतरसे एक हिरण्मय मूर्त्तिका प्रकाश होता है; इनहीको परमाशिव—नारायण—क्षेत्रातीत निरंजन पुरुष कहते हैं।

ये जो मूलाधारसे सहास्रार पर्य्यन्त क्षेत्रमें जो जो प्रत्यक्ष होते हैं, वह समस्त शब्दरूपका विन्यास—त्रिगुणकी क्रिया बिना और कुछ भी नहीं; जबतक मन रहता है, तबतक ही वह दृश्य-द्रष्टा भाव रहता है। ये सब ही मायाकी क्रिया है, इसलिये परिणामशील है। इसीलिये श्रीभगवान कहते हैं—"हे अर्जुन! तुम निस्त्रै-गुण्य हो जावो" अर्थात् उस तारक-ब्रह्म निरंजन-पुरुष

में मनके अटक जानेसे विलय प्राप्त होने पर जो होता है, वही हो जावो । वह विलय-अवस्था ही निस्त्रैगुण्य अवस्था—विष्णुका परमपद है । इस निस्त्रैगुण्यका उपाय स्वरूप क्रमिक लक्षण कहते हैं--(१) "आत्मवान्"--आत्माक्षेत्रमें अवस्थित, जब उपासक-मैं तथा उपास्य-"मैं" छोड़ करके और कोई किसी का ज्ञान नहीं रहता; निष्क्रिय अवस्था है । (२) "निर्योगक्षेमः"--उस प्रकार अवस्था आनेके बाद योग अर्थात् प्राप्त होनेके विषय और कुछ नहीं रहता, क्षेम अर्थात् प्राप्त हुवा विषयकी रक्षा भी नहीं रहती; अतीत अनागत मिट करके केवल मात्र वर्त्तमान रहता है । (३) "नित्य सत्त्वस्थः"--सुषुम्नाके भीतर जो ब्रह्मनाड़ी है, उसके भीतरके आकाशको नित्यसत्त्व कहते हैं, यह क्षेत्रातीत तथा क्षेत्रगत नित्यस्थान है; प्राप्त-प्राप्तव्यको एक करके यहां आनेसेही निरंजन पुरुष दर्शन देते हैं । (४) "निर्द्वन्द्वः"—नित्यसत्त्वमें उपस्थित होनेसे ही शीत-उष्ण सुख-दुःख मैं-मेरा, अहं-त्वं--ये द्वैत भाव मिट करके मनका विलय होता है; इसीको ही त्रिगुणातीत विष्णुपद कहते हैं ॥४५॥

यावानार्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

अन्वयः । सर्वतः संप्लुतोदके (सति) उदपाने (स्वल्पजलाशये) यावान् अर्थः (प्रयोजनः वर्त्तते, न कोऽपि वर्त्तते इति भावः), विजानतः (ब्रह्मज्ञानसम्पन्नस्य) ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु (ऋगादिषु) तावान् अर्थः (वर्त्तते, ब्रह्मज्ञानिनः निष्कर्म्मकत्वात् वेदे किमपि प्रयोजनं नास्ति इति सरलार्थः) ॥ ४६ ॥

अनुवाद । जल करके सर्वस्थान प्लावित हो जानेसे जगजनके उदपानका (स्वल्प जलाशयमें) जितना प्रयोजन है, ब्रह्मज्ञान सम्पन्न ब्राह्मणोंके लिये चारों वेदका भी उतना ही प्रयोजन है ॥ ४६ ॥

व्याख्या । नदीके बाढ़के जलसे जब देश प्लावित हो जाता है, तब छोटा छोटा जलाशय यथा कूप आदि के उस जलमें डूब करके एकाकार होजानेके बाद उस स्वल्प जलाशयका जैसे पृथक अस्तित्व नहीं रहता, जीवोंका जो कुछ प्रयोजन है सब उसी एक जलराशिमें सम्पन्न होता है; वैसे जो ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञान प्राप्त) हो करके "विजानत" होते हैं अर्थात् सब जाननेके जाननेको जान लेते हैं अर्थात् ज्ञातव्यके चरम सीमा विष्णुपदमें अवस्थित होते हैं, उनके लिये सब एक हो जाता है, वेद भी उनहीं में मिल जाता है, इसलिये वेद में उनका और कोई अलहिदा प्रयोजन नहीं रहता ॥४६॥

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्म्मा ते संगोऽस्त्वकर्म्मणि॥४७॥

अन्वयः । कर्म्मणि एव ते अधिकारः (अस्ति) फलेषु कदाचन मा (अस्तु); कर्म्मफलहेतुः मा भूः, अकर्म्मणि ते संगः मा अस्तु ॥ ४७ ॥

अनुवाद । कर्म्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, कर्म्मफलमें कदापि अधिकार न रखना ; कर्म्मफलके हेतु भी न होना अकर्म्म में भी अपनी आसक्ति न होने देना ॥ ४७ ॥

व्याख्या । एक मात्र चैतन्य ही "मैं" पदवाच्य है, उसे छोड़ कर और सब "तुम" पदवाच्य है । जबतक साधक कूट भेद करके स्थितिपदको नहीं पाते हैं, तब तक वह "तुम" पदावाच्य हैं ("ते"), तबतकही उनके प्राणक्रिया होते रहते हैं, अर्थात् पद्म पद्ममें प्राण विचरण करते रहते हैं, इसलिये उनको कर्म्ममें अधिकार अर्थात् दखल रहता है । किन्तु कर्म्म होनेसे ही उसका फल है । जैसे रसायनमें भिन्न भिन्न द्रव्य परस्पर मिल करके रासायनिक क्रियासे नवीन शक्ति उत्पन्न करता है; वैसे मन-प्राण सुषुम्नाके अन्तर्गत कमल दलमें वर्ण रूपा मातृकानिचयके साथ मिलित होकर नाना प्रकार विभूति वा शक्ति उत्पन्न करता है । वह शक्ति साधक को आश्रय करने आती है । साधक यदि उस शक्तिपर "अधिकार" करें, तो ऐसा करनेसे साधक भोगमें आबद्ध होकर और उन्नति लाभ नहीं कर सकते । इसीलिये भगवान् कहते हैं;—"कदापि कर्म्मफल पर अधिकार

न करना" केवल ऐसी ही बात नहीं, "कर्म्मफलके हेतु भी न होना" अर्थात् कर्म्मफल जिसमें उत्पन्न हो, वह काम न करना। प्रत्येक कमलमें प्राणपात करनेके समय यदि आसक्ति प्राणसे हट करके कमल दलमें पड़ जाये, तो उस संगसे काम उत्पन्न होकर फलोत्पादन करता है; किन्तु यदि उस समय आसक्ति प्राणको छोड़ कर अलग न होने पावे, तो कामोत्पन्न हो नहीं सकता,—प्राणपातसे केवल शक्ति प्रबुद्ध होता है, उत्थान नहीं करता—"परस्परं भावयन्तः" हो करके "परंश्रेयः" लाभ होता है (३ य अः ११ श श्लोक की व्याख्या), कर्म्म फलका हेतु होना नहीं पड़ता। और भी कहते हैं—"अकर्म्मका संग भी न करना"। सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ीमें मूलाधारसे आज्ञा पर्य्यन्त प्राण-चालन ही कर्म्म है, इस कर्म्मके पूर्व भी अकर्म्म है, पश्चात् भी अकर्म्म है। इस कर्म्मके पूर्वमें "तदर्थीय" क्रिया बिना स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ काम होता है, वह सब अकर्म्म अर्थात् निषिद्ध कर्म्म है। वैसे ही आज्ञासे उत्तीर्ण होनेके पश्चात् कर्म्म मिटके जो कर्म्म-विहीन अवस्था आती है, वह भी अकर्म्म अर्थात् निष्क्रिय अवस्था है। प्रथम अकर्म्म रजस्तम-क्षेत्रमें, द्वितीय अकर्म्म सत्त्वतमः-क्षेत्रमें प्रकाश पाता है। प्रथम वाले

में आसक्ति देनेसे अनन्त विपाकमें पड़ना होता है; दूसरेमें आसक्ति देनेसे अर्थात् निष्क्रिय पद प्राप्त होने के लिये इच्छा करके क्रिया करनेसे कूटस्थमें कश्मल आता है, अतएव उस कश्मलका भेद न कर सकनेसे नीचेमें पड़ा रहना पड़ता है । इसीलिये संगविहीन अर्थात् अनासक्त हो करके कर्त्तव्य-ज्ञानमें कर्म्म (क्रिया) को करना होता है;—अनासक्तकी मार्ग खुलासा है; आसक्तका पथ अवरुद्ध (बन्द) है । (बादका श्लोक देखो) ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

अन्वयः । हे धनंजय ! योगस्थः (सन्) सिद्ध्यसिद्ध्योः (विषये) समः भूत्वा संगं त्यक्त्वा कर्म्माणि कुरु; समत्वं योगः उच्यते ॥ ४८ ॥

अनुवाद । हे धनंजय ! योगस्थानमें अवस्थित होकरके सिद्धि एवं असिद्धि सम ज्ञान करके संग त्याग पुर्वक कर्म्म किया करो। समताकोही योग कहते हैं ॥ ४८ ॥

व्याख्या । क्रिय-पद तथा निष्क्रिय-पद के संयोग स्थान को योगस्थान कहते हैं । यह स्थान आज्ञाके कूटमें अवस्थित है । कूटके ऊपर लक्ष्य स्थिर करनेसे ही योगस्थ हुआ जाता है । सुषुम्ना-नालके भीतर गुरुके

उपदेशके अनुसार प्राण चालना करते करते अन्त में निरालम्ब निष्क्रिय अवस्था आपही आप आती है; वही कर्म्म की सिद्धि है, उसकी न होना ही असिद्धि है। "सिद्धि हो तो अच्छा, न होय तब भी अच्छा, कर्म्म में हमारा अधिकार है, मैं कर्म्म करूं"—दृढताके साथ इस प्रकार अनासक्त भाव करके कर्म्माचरण करने से ही सिद्धि असिद्धि समान (बरोबर) होता है (यह अवस्था साधनामें निजबोधगम्य है)। और अगल-बगल स्पर्श न करके केवल मात्र ब्रह्मनाड़ीके अयेन बीच देके गुरूपदेश मतामें प्राणपात करके उठने सेही संगत्याग होता है। कूटस्थमें लक्ष्य स्थिर करके फला-फल की ओर मन न देके केवल मात्र ब्रह्माकाश में विचरण करने से ही साम्यभाव आता है अर्थात् निश्वास प्रश्वास समान होकरके क्रमशः सूक्ष्म होते होते स्थिर हो जाता है, मन भी कूट पार हो करके "विन्दु-सरोबर" में डूब जाता है, और कोई किसी का भी ज्ञान (भान) रहता नहीं। इस साम्य भावका नाम ही योग है ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

अन्वयः । हे धनंजय ! हि (यतः) बुद्धियोगात् (पृथक्) कर्म्म दूरेण अवरं (निकृष्टं), (अतः) बुद्धौ शरणं अन्विच्छ । फलहेतवः [सकामाः नराः] कृपणाः ॥ ४९ ॥

अनुवाद । हे धनंजय ! जिस हेतु बुद्धियोगके बिना कर्म्म अत्यन्त निकृष्ट है तुम बुद्धिके शरणापन्न होजावो । फलाकांक्षियोंको कृपण कहते हैं ॥ ४९ ॥

व्याख्या । योगस्थ हो करके कर्म्म करना ही बुद्धि-योग है, जब " यत्र यत्र मनो याति तत्रैव ब्रह्म लक्ष्यते" अर्थात् मन जहां जहां जाय वहां वहां ही ब्रह्म दर्शन हो, विषय ब्रह्मज्योतिमें ढंका रहे । यदि कर्म्म करते करते मन ब्रह्मानन्दमें मतवाला होकर एकाग्रीभूत न हो, स्मृति और कल्पनाके सहारेसे विषयको लेके आलोड़न विलोड़न करे, ऐसा होनेसे वह कर्म्म व्यवसायात्मिका-बुद्धि-युक्त न होकर विषयात्मिका-बुद्धि-युक्त होता है, अर्थात् सकाम होता है । इस सकाम कर्म्मको नितान्त निकृष्ट जानना चाहिये, क्योंकि, काम संग-दोष करके उत्पन्न होके जीवको तत्प्रसूत फलमें आबद्ध करता है । और भी फलहेतु अर्थात् फलकामी जो है वह सब कृपण हैं। कृपण जैसे अर्थके (रुपये पैसेके) प्रति ममता परायण होकर, धन खर्च करके कोई कार्य्य कर नहीं सकता, केवल माथे पर धनका बोझ लाद कर मरता है; वैसे कामना-परायण लोग चिरकाल कामनाका बोझ माथे

पर ढोके मरता है (जो बोझ फिर परजन्मके लिये सञ्चित कर्म्म-संस्कार-रूपमें रह जाता है), कामना परित्यागसे जो नित्यसुख मिलता है, वह सुख वह मनुष्य नहीं पाता । अतएव तुम बुद्धिका आश्रय करो,—इधर उधर न देख कर मनको विषय-विहीन कर स्थिर लक्ष्य से उसी तारकब्रह्ममें लीन करदो ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्मात् योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ५०॥

अन्वयः । बुद्धियुक्तो (पुरुषः) इह सुकृतदुष्कृते उभे जहाति तस्मात् योगाय युज्यस्व; कर्म्मसु (यत्) कौशलं (तत्) योगः ॥५०॥

अनुवाद । बुद्धिद्वारा ब्रह्ममें युक्त होनेसे इसी जन्ममें सुकृत-दुष्कृत दोनों ही का त्याग होता है, अतएव योगके निमित्त यत्न किया करो; कर्म्ममें कौशल प्रयोग करनेका नाम योग है ॥ ५० ॥

व्याख्या । बुद्धिके उस विन्दुमें आटक पड़नेसे, विश्वज्ञानका विलुप्त होके, निश्चल ब्रह्ममय होना पड़ता है;—उसी अवस्थाका नाम चैतन्य समाधि है । उस समय शरीरका कोई भोक्ता नहीं रहता, इस कारण कालचक्रमें आगत सुकृत-दुष्कृत प्रारब्ध कर्म्म समूह जीवको आश्रय रूपसे न पाके आपही आप नष्ट हो जाता है । फिर अंकुरित नहीं होता । इस प्रकार निष्कृतिको प्राप्त

होनेके लिये योग करना होता है । कर्म्ममें कौशलका प्रयोग करना ही योग है । विशाल जल-प्रवाहका वेग कोई धारण कर नहीं सकता, किन्तु कौशलसे उस प्रवाह की गति विभिन्न दिशामें त्रिविध स्रोत करके घुमाय देने से धीरे धीरे आयत्तमें आता है, उसी प्रकार प्राण-प्रवाह-रूप जो कर्म्म जीव शरीरमें स्वभावतः (आपही आप) सम्पन्न होता है, किसी प्रकार कौशलसे * उसको विभिन्न राहमें चला देके क्षीण करके लानेसे अपने आयत्तमें लाया जाता है; पश्चात् आत्मतेजसे उस प्राणको

---

* यह कौशल कसौ है वह गुरुमुख बिना जाना नहीं जाता ।— "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" कपटता छोड़ करके वीतराग होके अन्तःकरणके निर्जन स्थानमें परा वैराग्यके साथ यह बात कहनेसे गुरुदेव सूक्ष्म शरीरमें आविर्भूत होकर मनके भीतर वह कौशल प्रकाश कर देते हैं । स्थूल शरीरमें रह करके गुरुदेव जितना उपदेश देते हैं, कृती [कामका कामी] शिष्य न होनेसे उस उपदेशको धारण कर नहीं सकते । एकमात्र गुरूपदिष्ट कर्म्मानुष्ठान करनेसे ही क्रम अनुसार अन्त-रावरण सकलके लक्ष्य होते रहनेसे वह सब नष्ट करनेका उपयोगी कौशल भी आप ही आप मालूम हो जाता है; कल्पना-अनुमान करके उसके एक भी जाननेका उपाय कोई नहीं, वो कौशल वाणीमें भी ठीकसे कहा जाता नहीं, कहनेसे भी वह बात उपन्यासकी घटनावली की बातोंके सदृश केवल कल्पनामें ही रह जाती है ॥ ५० ॥

यथा स्थानमें आहूति देनेसे जो अवस्था होती है, उसी को योग कहते हैं ॥ ५० ॥

कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्म्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अन्वयः । मनीषिणः [पण्डिताः] बुद्धियुक्ताः [सन्तः] कर्म्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्म्मुक्ताः [भूत्वा] हि अनामयं पदं [विष्णुपदं] गच्छन्ति ॥ ५१ ॥

अनुवाद । मणीषिगण बुद्धियुक्त हो करके कर्म्मजफल परित्याग कर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर अनामय पद अर्थात् भवरोग-विहीन-पद को निश्चय प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

व्याख्या । चित्त एकाग्र करके बिन्दु धर कर रहनेसे ही मनके ऊपर आधिपत्य करने वाली शक्ति उत्पन्न होती है,—"मनभी मनके अनुसार" होता है, उसीको मनीषी अवस्था कहते हैं; तब मनके मनमें रहनेसे कर्म्म-फल कोई आश्रय न पाके आपही आप क्षय हो जाता है; प्राकृतिक आवरण भेद होनेसे (और किसी आवरण के भीतर आना नहीं होता, अर्थात् जनम लेना नहीं पड़ता) शान्तिमय विष्णुपद की प्राप्ति होता है ।—यह स्थिर निश्चय वाणी है ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

अन्वयः । यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं (शरीराभिमानरूपं दुर्भेद्यं दुर्गं) व्यतितरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं (वेदनाशून्यं) गन्तासि ॥ ५२ ॥

अनुवाद । जब तुम्हारी बुद्धि ('मैं शरीर हूं' यह मिथ्या भ्रम) मोहरूप दुर्भेद्य दुर्ग अतिक्रम करेगी, तब तुम्हारा श्रोतव्य (जो सुनोगे) तथा श्रुत (जो सुन चुके हो) विषय में निर्वेद (वेदना शून्यता) होवेगा ॥ ५२ ॥

व्याख्या । बुद्धि व्यवसायात्मिका होनेसे ही सब भ्रम मिट जाता है, मोह फिर नहीं रहता—शब्दस्पर्शादि के आवरणमें और मोहित होना नहीं पड़ता; तब श्रोतव्य* अर्थात् भविष्यत् तथा श्रुत अर्थात् भूत—इन दोनोंका ही ज्ञान (वेदना) नहीं रहता, केवल वर्त्तमान ही रहता है; अर्थात् नादके अच्छिन्न और अनाहत हो जाने से उसका आदि और अन्त नहीं रहता; प्रवाह निपट आनेसे आगा पीछा नहीं रहता, सबही वर्त्तमान हो जाता है; तब कालस्रोत मिट जानेके बाद साधक स्वयं

* लयमार्गमें अन्तमें एकमात्र शब्द ही रहता है, कालनिर्णय करनेवाला और कोई दूसरा विषय नहीं रहता; इसलिये श्रुति-ज्ञानसे कालको व्यक्त किया गया ॥ ५२ ॥

ही कालमें परिणत होते हैं; इसलिये उनमें भूत और भविष्यत्‌का व्यवच्छेद नहीं रहता। साधक तब अपरिणामी सत् सत्त्वामें परिणत होकर सदा वर्त्तमान होते हैं। जीवके "छोटा मैं" "महान्" मैं में मिलने से एक बिना दो नहीं रहता; इसलिये समझना और समझाना भी नहीं रहता, सर्व विषयमें वेद शून्य अवस्था आती है ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अन्वयः। यदा ते श्रुतिविप्रतिपन्ना (श्रुतिभिः प्रणवनादैः विशेषेण प्रतिपन्ना निश्चिता) बुद्धिः समाधौ निश्चला अचला स्थास्यति तदा योगं अवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अनुवाद। जब तुम्हारी बुद्धि श्रुति द्वारा विप्रतिपन्न, निश्चल तथा अचल हो कर समाधिमें स्थिर होगा, तब ही तुम योगको प्राप्त हो जावोगे ॥ ५३ ॥

व्याख्या। अच्छिन्न अनाहत नादके भीतर मन देने से, और चित्तके उसमें मुग्ध हो जानेसे, बोध-शक्ति और दूसरे किसीको धारण नहीं करती, केवल उसी नाद मध्य-गत प्रस्फुटित ज्योतिमें आकृष्ट हो रहती है; इस अवस्थामें बोधशक्ति "श्रुतिविप्रतिपन्ना" होकर अर्थात् प्रणवध्वनि सुनते सुनते निश्चयात्मिका होकर "निश्चल"

होती है, अर्थात् एक बिन्दुसे दूसरे बिन्दुमें गमन नहीं करती; पश्चात् ब्रह्ममें समाहित होकर "अचल" अर्थात् स्थिर होती है, अर्थात् बोधशक्तिकी और कोई क्रिया नहीं रहती; (साधक) सर्व प्रकार स्पन्दन रहित हो जाता है;—स्पन्दन रहित अवस्था ही योगावस्था है। तथाच उत्तरगीतायां :—

"अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतेरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदं" ॥५३॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे केशव ! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा (लक्षणं) ? स्थितधीः किं प्रभाषेत ? किं आसीत ? किं व्रजेत ? ॥ ५४ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं हे केशव ! जो समाधिस्थ होकर स्थितप्रज्ञ हुये हैं उसके लक्षण कैसे हैं ? वह स्थितधी क्या कहते हैं ?—किस प्रकार रहते हैं ?—कैसी चाल चलते हैं ॥ ५४ ॥

व्याख्या । योगावस्थामें जो निस्पन्दन भाव होता है, एक दफा उस भावके प्राप्त होनेसे उससे नीचे उतर

आनेसे भी, मन और पहलेकी तरह विषयमें आसक्त होता नहीं---प्रज्ञा चलते, बैठते, खाते, सोते सर्वदाही उस परमात्मामें लक्ष्य रख करके धीरे धीरे क्रम अनुसार जगतको भी ब्रह्ममय करा देती हैं; जाग्रत अवस्थामें रहनेसे भी मन उसी समाहित अवस्थाका भोग करता है और उस पुरुष में ज्ञानकी ज्योति स्थिर धीर रहती है, इसीलिये इस अवस्थाको जाग्रत-समाधि कहते हैं। यह जाग्रत-समाधि-युक्त पुरुष ही जीवन्मुक्त हैं। इस प्रकार पुरुषोंका ही लक्षणादि प्रश्न चतुष्टय से पूछा गया है ! इन चार प्रश्नका पहिला तो सामान्य अन्य तीन विशेष हैं। ५५-७२ श्लोक प्रथम प्रश्नका उत्तर है। इसके भीतर ५६, ५७ श्लोक, क्या कहते हैं ?- इस प्रश्नका उत्तर; ५८, ६१, ६८, ६९, ७० श्लोक, किस प्रकार रहते हैं ?-इस प्रश्नका उत्तर; ७१,७२ श्लोक, कैसे चलते हैं ?---इस प्रश्नका उत्तर है ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अन्वयः । श्रीभगवानुवाच । हे पार्थ ! यदा [योगी] मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति, आत्मनि एव आत्मना तुष्टः [भवति], तदा (सः) स्थितप्रज्ञः उच्यते ॥ ५५ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान कहते हैं—हे पार्थ ! योगी जब मनोगत समुदय वासना परित्याग करके, अपनेमें आपही रह कर आपही आप सन्तुष्ट रहते हैं, उसी बख्त योगीको स्थितप्रज्ञ कहा जाता है॥५५॥

व्याख्या । योगावस्था भोगके बाद मनके नीचे उतर आनेसे भी योगीका लक्ष्य आत्मक्षेत्रमें ही रहता है, और नीचेके स्तरमें उतरता नहीं; तब जगत्के आत्मा-मय हो जानेसे, अपनेमें आपही रहना होता है, इसलिये वहां विषय भोग करके दूषित कोई कामना ही नहीं पहुंच सकती। इस अवस्थाका प्राप्ति होनेसे ही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

अन्वयः । दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः वीतराग-भयक्रोधः मुनिः स्थितधीः उच्यते ॥ ५६ ॥

अनुवाद । दुःखसे जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, जो सुखमें भी स्पृहा शून्य हैं, जो पुरुष अनुराग-भय-क्रोधविहीन तथा मुनि हैं, उन्हींको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥ ५६ ॥

व्याख्या । संसारमें जिसको सुख और दुःख करके कहा जाता है, वह उस योगी में रहता नहीं; क्योंकि,

विषय लेकरके ही संसारका सुख और दुःख है, वह पुरुष विषयमें रहते नहीं; इसलिये उनमें-राग-भयक्रोध का स्थान भी कोई नहीं। उनका मन विश्व-व्यापी परमात्मामें संलीन रहता है इसलिये वो योगी मुनि हैं। मनके विषय-मतवाला अवस्था—प्रबुद्ध अवस्था ही जीव कहलाते हैं; और संलीन अवस्था—ईश्वर, तथा प्रलीन अवस्था—शिव वा ब्रह्म हैं। स्थितधी पुरुष ईश्वर-भावापन्न हैं ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

अन्वयः । यः सर्वत्र अनभिस्नेहः [स्नेहशून्यः] तत्तत् शुभाशुभं प्राप्य न अभिनन्दति, न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (सः स्थितप्रज्ञः इत्यर्थः) ॥ ५७ ॥

अनुवाद । जो सर्व विषयमें स्नेहशून्य हैं, उसी उसी शुभ तथा अशुभको प्राप्त हो करके राग अथवा द्वेष नहीं करते, वह स्थितप्रज्ञ हैं५७॥

व्याख्या । सब ही ब्रह्ममय हो जानेसे उनको मैं करके ज्ञान ही रहता है। हमारा यह ज्ञान रहता नहीं। सदाकाल भावावस्थामें रहते हैं इसलिये अभाव उनमें आता ही नहीं । इसलिये उनमें शुभ अशुभ नहीं है, निरानन्द तथा आनन्द भी नहीं है ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अन्वयः । यदा च अयं [योगी] कूर्म्मः अंगानि इव इन्द्रियार्थेभ्यः [शब्दस्पर्शादिभ्यः] इन्द्रियाणि [चक्षुरादीनि] सर्वशः संहरते, (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (भवति) ॥५८ ॥

अनुवाद । कछुआ (कमठ) जैसे बाहरसे मुख हाथ पांवको अपने शरीरके भीतर घुसा लेता है, तद्वत् योगी जब विषयसे इन्द्रियों को सम्पूर्ण रूप करके बटोर लेते हैं, तब ही उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता होती है ॥ ५८ ॥

व्याख्या । चक्षु प्रभृति पांच ज्ञानेन्द्रियां हर वखत बहिर्मुख रह करके शब्द-स्पर्शादि बाहरका विषय भोग करतीं हैं । इन सब इन्द्रियणको बाहरसे समेट ला करके (जैसे जीभ उलट करके, दृष्टि ऊर्द्ध में स्थिर करके काय-शिर-ग्रीवा समान करके इत्यादि), इन सबकी शक्ति को मनोयोगसे अन्तर (भीतर) की तरफ चला देनेसे एक प्रकार अद्भुत गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दका उपभोग होता है, उससे तत्त्व समूहका ज्ञान लाभ होता है; पश्चात् गन्ध रसमें, रस रूपमें, ऐसे करके सब समेट लानेसे एक मात्र शब्दमें परिणत होता है । तब अन्तःकरण उसी शब्दमें आकृष्ट होकरके (क्रिया

विशेष द्वारा) परमात्मामें समाहित होता है । यह चरम समेटनेकी अवस्था आनेसेही प्रज्ञा प्रतिष्ठिता होती है ॥५८॥

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५९॥

अन्वयः । निराहारस्य देहिनः विषयाः रसवर्ज्जं निवर्त्तन्ते, (किन्तु) अस्य (स्थितप्रज्ञस्य) रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ ५९ ॥

अनुवाद । आहारविहीन देहीका मात्र विषय-भोगकी निवृत्ति होती है, भोगवासना रह जाती है; किन्तु परं (विष्णुपद) दर्शनके पश्चात् इनकी भोग-वासनाकी भी निवृत्ति होती है ॥ ५९ ॥

व्याख्या । इन्द्रियोंके द्वारा विषय ग्रहण करनेका नाम आहार है । यह आहार नहीं अथच देहाभिमान वर्त्तमान है अर्थात् "मैं देही" मनमें यह धारणा है, इस प्रकार साधकको शब्द-स्पर्शादि विषय अभिभूत होकरके त्याग होता है सही, (क्योंकि कर्म्मके स्वाभाविक फलसे ऊपर उठजानेसे एक प्रकारकी समाधि * भोगसे विषय-ज्ञान मिट जाता है,) किन्तु देहाभिमान-पाशका बन्धन रह जानेसे उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका

* बाजीगर [जादूगर] जैसे इन्द्रजालका जादू देखलानेके लिये श्वासको निरोध करके मृतप्राय रहता है, वह भी इसी प्रकारकी समाधि है ॥ ५९ ॥

नहीं होती; अतएव विषय-भोगका रस मनमें रह जाता है--भूल नहीं जाता । भोगके विषय देखते मात्र भोगाकांक्षा उनके मनही मनमें पुनरुदित होती है । किन्तु लययोग करके जिन भाग्यवानने एक दफे विष्णुपद लाभ किया है, उनके चित्ताकाशके सदाकाल ब्रह्मतेज करके उद्भासित् (उज्ज्वल) रहनेसे दूसरा कोई तेज वहां प्रतिफलित हो नहीं सक्ता; इस करके उनमें विषय भी नहीं रहता, रसकी आकांक्षा भी नहीं रहती ॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! हि (यतः) प्रमाथीनि इन्द्रियाणि यततः (प्रयत्नं कुर्वतः) अपि विपश्चितः (विवेकिनः) पुरुषस्य मनः प्रसभं (बलात्) हरन्ति, (अतः) युक्तः (योगी) तानि सर्वाणि (इन्द्रियाणि) संयम्य मत्परः (सन्) आसीत । यस्य इन्द्रियाणि वशे [सन्ति] तस्य हि प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६० ॥ ६१ ॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! इन्द्रिय समूह प्रमाथी हो करके, हिताहित ज्ञानसम्पन्न यत्नशील पुरुषोंके मनको बल पूर्वक हरण करता है; इसलिये युक्त योगी उन सबको संयत करके मत्पर होयके रहते हैं। इन्द्रियगण जिनके बशीभूत प्रज्ञा उन्हींकी प्रतिष्ठिता है ॥६०॥६१॥

व्याख्या । इन्द्रिय दश--पांच कर्म्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय है । बाहरके विषयके साथ संस्रव न रख करके भी इन्द्रियसमूह स्वाभाविक वृत्तिसे आपही आप क्रियामुखी होती हैं; तब अन्तरके भीतर एक प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करती हैं; धीरे धीरे क्रिया करनेकी इच्छा प्रबल होय उठ करके हृदयको मथन करती रहती है । इन्द्रियमें यह धर्म्म रहता है इस करके इन सबको प्रमाथी कहते हैं । जिन पुरुषने गुरुपदेशसे समुदय तत्त्व विषय समझ कर भलाबुरा ठीक कर लिया है, परन्तु अभी भी अनुष्ठानसे वह उसे अपने आयत्तमें ला नहीं सके, किन्तु लानेके लिये यथा नियम चेष्टा करते हैं, उन्हींको "यत्नशील-विपश्चित्" कहते हैं। इस प्रकार विवेकी साधकका मन भी इन्द्रिय करके विषय में आकृष्ट होता है। इसलिये योगी जन इन्द्रियोंको संयत करके, मन ही मनमें भोगके विषयसे उन सबको हटा लाकर, मत्पर होते हैं, अर्थात् मन द्वारा समस्त इन्द्रियोंको बांधकर ला के हिरण्यमय पुरुषमें दृढ़ आबद्ध करते हैं, अर्थात् व्यवसायात्मिका-बुद्धि-युक्त होते हैं। यदि उस अवस्थामें मत्पर न होकर प्रकृति-पर होजावें *

* परवर्त्ती श्लोक देखो । इन्द्रिय-संयम विना मत्पर होना होता नहीं; तथा इन्द्रिय-संयम करके मत्पर न होनेसे इन्द्रियोंके वशमें पड़ना ही होता है ॥ ६० ॥ ६१ ॥

तो, इन्द्रियगण बलपूर्वक मनको वश करेहींगी; किन्तु मत्पर होनेसे मनके ऊपर उन सबकी और कोई शक्ति रहती नहीं । इसीलिये कहा हुआ है कि, जिनकी इन्द्रियां वशमें आई हैं, उनही की प्रज्ञा प्रतिष्ठिता है ॥ ६०॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

अन्वयः । विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु संगः उपजायते, संगात् कामः संजायते, कामात् क्रोधः अभिजायते, क्रोधात् सम्मोहः भवति, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः (भवति), स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः (भवति) बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

अनुवाद । विषयका ध्यान करनेसे पुरुषका उसी विषयमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे काम तथा कामसे क्रोधोत्पन्न होता है; क्रोधसे सम्मोह होता है; मोहसे स्मृतिविलोप, स्मृतिविलोपसे बुद्धिनाश तथा बुद्धिनाशसे प्राणनाश (मृत्यु) होता है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

व्याख्या । इन्द्रिय संयत ही करो, और चाहे जो कुछ करो, यदि मनको मत्पर न करके विषय पर करो * अर्थात् शब्द-स्पर्शादि विषय अवलम्बन करो,

* इसीको ही मिथ्याचार कहते हैं । ३य अः ६ष्ठ श्लोक ॥६२॥६३॥

तो मन अपने स्वभाव-वृत्ति द्वारा, जलमें दूध सरिस विषयके साथ मिलेगा (किन्तु मत्पर होनेसे मन जलमें माखन सरिस विषयके साथ मिल नहीं सकता);उस हेल मेल रूप संगसे काम अर्थात् प्राप्तिकी इच्छा बलवती होती है। यह इच्छा रूप आशा मायाविनी—वहन करके लेजा नहीं सकते इतना अर्थ पाये हो, अभी भी इच्छा होती है और भी कुछ मिलजाय; वैसे मनमें कल्पना कर नहीं सकते, इतनी आशाका पूरण हुआ है, तथापि आकांक्षा मिटती नहीं;-इसी कोही माया कहते हैं। इस अपूरणीय आकांक्षासे ही क्रोधोत्पत्ति होती है। क्रोध उत्पन्न होनेसे ही मोह आता है अर्थात् कार्य्या-कार्य्यका विवेक नहीं रहता। सम्मोह आनेसे ही स्मृति-विभ्रम होता है, अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म-कारणातीत वाक्य-मनके अगोचर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप जो "मैं" हूं उसे भूल करके अनित्य देहादिमें आत्म ज्ञान करके "मै-मेरा" ज्ञानरूप भ्रमबन्धनमें पड़ना होता है। इस प्रकार भ्रममें पड़नेसे ही बुद्धिनाश होती है अर्थात् मैंही "मैं"यह निश्चयात्मिका बुद्धि अर्थात् स्थिर विश्वास नष्ट होके संशयात्मिका वृत्ति उपस्थित होती है। इस प्रकार अविश्वाससे ही नाश अर्थात् मृत्यु होती है; कारण अवि-श्वासियोंके मन (बुद्धि) प्राणप्रयाण कालमें (शरीर-

त्याग समयमें) व्यवसायात्मिका न हो करके पुनः शरीर धारण करनेके बीज-स्वरूप विषय-स्मरण करता रहता है (२७ श्लोककी व्याख्या देखो) ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

अन्वयः । तु (किन्तु) विधेयात्मा (विधेयो वशवर्त्ती आत्मा मनो यस्य सः) आत्मवश्यैः रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं (शान्ति) अधिगच्छति (प्राप्नोति)॥ ६४ ॥

अनुवाद । किन्तु जो विधेयात्मा—संयत-चित्त हैं, वह आत्म-वशीभूत राग-द्वेष-विहीन इन्द्रिय समूहसे विषयमें विचरण करके भी अर्थात् विषय समस्त भोग करके भी शान्तिलाभ करते हैं ॥ ६४ ॥

व्याख्या । ६२-६४ श्लोकमें पुरुषको दो अंशमें विभक्त (बटवारा) किया हुआ है,—प्रथम विषयध्यान करने वाला असंयतचित्त पुरुष, दूसरे निष्कामी संयत-चित्त पुरुष । असंयमी ६२-६३, श्लोकके क्रम अनुसार में नाशको प्राप्त होता है, और संयमी ६४ श्लोकके अनुसार विषयमें चरण करके भी निष्कामता हेतु प्रसाद अर्थात् शान्तिमय विष्णुके परम-पदका दर्शन पाते हैं । "प्रसादस्तु प्रसन्नता" ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्वयः। प्रसादे (सति) अस्य (यतेः) सर्वदुःखानां हानिः (विनाशः) उपजायते। प्रसन्नचेतसः हि बुद्धिः आशु (शीघ्रं) पर्य्यवतिष्ठते (निश्चली भवति) ॥ ६५ ॥

अनुवाद। प्रसाद प्राप्त होनेसे सर्वदुःखका शेष होता है; प्रसन्न-चित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्रही स्थिर होती है ॥ ६५ ॥

व्याख्या। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश— इन पांचका नाम सर्व है। यह सर्व कश्मल रूप धरके अन्तराकाशको छाय (आवरण करके) रहता है, उसी का नाम दुःख है। प्रसाद-लाभ होनेसे अर्थात् ज्योतिर्म्मय रूपके विकाश होनेसे, उसके प्रभाव करके सकल अंधियारी कट जाती है, कोई प्रकार मयलाका चिन्ह भी रहता नहीं; इसलिये चित्त प्रसन्न होता है, अर्थात् निर्म्मलता हेतु चंचलता-विहीन होके स्थिर होता है। चित्त स्थिर होनेसे ही बोध-शक्ति शीघ्र ही अवलम्बन विहीन होके बुत जाता है *। "चलच्चित्ते वसेच्छक्तिः स्थिरचित्ते वसेच्छिवः"। इति ज्ञानसंकलनी तन्त्रम् ॥६५॥

* इसको ही निर्वाण-स्थिति (अमनस्कस्थिति) वा तुरीय अवस्था कहते हैं। ७२ श्लोकके ब्राह्मी-स्थिति जाग्रत अवस्थाके भी अन्तर्गत, तथा ब्रह्मनिर्वाण शरीर त्यागके पश्चात् होता है, जिसको विदेह-मुक्ति कहते हैं ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

अन्वयः । अयुक्तस्य बुद्धिः न अस्ति, अयुक्तस्य भावना च न (अस्ति) अभावयतः शान्तिः च न (अस्ति), अशान्तस्य सुखं कुतः ? ॥ ६६ ॥

अनुवाद । अयुक्तकी बुद्धि ही नहीं, भावना भी नहीं; भावना-विहीनोंको शान्ति भी नहीं । अशान्तको सुख कहां ? ॥ ६६ ॥

व्याख्या । शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधानादि साधन-चतुष्टय-सम्पन्न पुरुष युक्त है, (६ ष्ठ अः २३ श्लोक देखो)। जो अयुक्त है अर्थात् साधन-चतुष्टय-सम्पन्न नहीं (१ म अः २ य श्लोक, पाद टीका देखो), उसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं है, इसलिये उसके बुद्धिको योग-मार्गका बुद्धि कही नहीं जाती; और उसकी भावना भी * नहीं है; अर्थात् आत्मज्ञानमें लक्ष्य ही नहीं होता, क्योंकि उसका चित्त विषय-रागमें रंजित रहनेसे वह दैव ज्योतिका विम्ब धारण कर नहीं सकता। भावना-विहीनकी शान्ति अर्थात् चित्तकी स्थिरता नहीं रहती, क्योंकि मन सर्वदा विषयमें मतवाला रहने

* भावना=अभावमें रह करके, भाव-संक्रम होय होय, ईदृश समयके अन्तःकरण-वृत्ति (साधनामें बोधगम्य)। ८ म अः,३य श्लोक के "भाव" देखो ॥ ६६ ॥

से विश्रामका अवसर नहीं पाता । इस प्रकार अशान्त को सुख नहीं होता अर्थात् अन्तराकाश विषय मेघ करके ढका रहनेसे ज्योतिर्म्मण्डलका विकाश होता ही नहीं ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७॥

अन्वयः । मनः चरतां इन्द्रियाणां यत् अनुविधीयते (अनुगच्छति), तत् हि अम्भसि वायुः नावं इव अस्य प्रज्ञां हरति ॥ ६७ ॥

अनुवाद । वायु जैसे जलके ऊपर नौका (तरणी) को विक्षिप्त करता है, वैसे, मन विषयचारी इन्द्रियोंके भीतर, जिसके अनुगमन करता है, वही इसकी प्रज्ञाको हरण करती है ॥ ६७ ॥

व्याख्या । साधकमात्रको ही मालूम है कि शब्द-स्पर्शादि कोई एक विषयके ऊपर मनजानेसे ही आत्माभिमुखी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अन्वयः । तस्मात् महाबाहो ! यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अनुवाद । हे महाबाहो ! इस कारणसे कहा गया है कि, जिसकी

इन्द्रिय समूह विषयोंसे सर्वतोभावमें निगृहीता हुई हैं, उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता हुई है ॥ ६८ ॥

व्याख्या । इसलिये शब्द-स्पर्शादि बिषयसे इन्द्रिय समस्तको निःशेषरूपसे ग्रहण करके संयमी होना पड़ता है, संयमी अर्थात् युक्त न होनेसे कोई साधन होता ही नहीं ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

अन्वयः । या सर्वभूतानां निशा, संयमी तस्यां जागर्त्ति; यस्यां भूतानि जाग्रति सा पश्यतः मुनेः निशा ॥ ६९ ॥

अनुवाद । सर्वभूतों की जो निशा (रात्रि) है, संयमी उसीमें जागते रहते हैं; जिसमें भूत सब जागते हैं, उसीमें द्रष्टा मुनिकी निशा है ॥६९॥

व्याख्या । मन जब आत्मामें रहता है, इन्द्रिय सकल के लिये तभी निशा है—तब वो सब निश्चेष्ट और अभिभूत अवस्थामें रहते हैं, मन जब विषयमें रहता है, तब सकल इन्द्रियां जागरित और सचेष्ट रहती हैं, मनको आत्मामें रखना ही संयम (धारणा-ध्यान-समाधिके एकत्र समावेश) है, आत्मनिष्ठ साधक ही संयमी हैं। इन्द्रिय सकल ही भूत हैं। इन भूत सकलकी जब निशा होती, तब संयमी सजाग रहते हैं, अर्थात् तब उनकी

आत्मामें अवस्थितिके हेतु वह उस समयमें स्थूल-सूक्ष्म-कारणात्मक विश्व-संसारके द्रष्टा वा साक्षी स्वरूप और उनका मन तब आत्मामें सम्यक लीन रहता है, इसी करके वह मुनि("मुनिः संलीनमानसः")है। भूत सकल जब जाग्रत रहता है, उन द्रष्टा मुनिके लिये तभी निशा है, क्योंकि उस समय मन विषय-निष्ठ होता है, आत्मक्षेत्र विषयावरण करके आवृत रहता है, आत्मज्योति न रहने से आत्ममुखी दृक्शक्तिका पथ बन्द होता है, मन भी विषय संस्रवमें आनेसे उतने क्षणके लिये आत्मक्रियामें निश्चेष्ट रहता है ॥ ६९ ॥

आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

अन्वयः। यद्वत् आपः आपूर्य्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं प्रविशन्ति तद्वत्सर्वेकामाः यं प्रविशन्ति, सः शान्तिं आप्नोति, न (तु) कामकामी ॥ ७० ॥

अनुवाद । जैसे जलराशि आपूर्य्यमाण अचलप्रतिष्ठ समुद्रमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार समुदय कामना जिसमें प्रवेश करती है, वह उस शान्तिको प्राप्त होता है कामकामी नहीं होता ॥ ७० ॥

व्याख्या । समुद्र जैसे सदा काल नदी प्रभृतिके जलसे परिपूरणशील है, किन्तु समुद्रके अवयवको किसी प्रकारकी घटी बढ़ी न रहनेसे, उनकी प्रतिष्ठा अचल है । वैसे ही शाम्भवी द्वारा जिन्होंने मनको बिन्दु-सागरमें डुबा देके (क्रिया अनुष्ठान-सापेक्ष) अनन्त उदारता लाभ की है, कामना सकल उनके ऊपर आ पड़के बिलीन होती रहती है, उनसे किसी प्रकारकी कामना उठ करके भी विषय अभिमुखमें प्रवाहित नहीं होती; इसलिये इस प्रकार पुरुष ही (साधक ही) शान्ति पाते हैं । किन्तु जिन्होंने कामकामी अर्थात् जो मनुष्य मनको अनन्त में फेंकनेमें अशक्त हो करके, विषयको शान्तिका आलय मनमें समझ प्राकृतिक आकांक्षामें पड़ता है, वह शान्तिको नहीं पाता ॥७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्म्ममो निरहंकारः स शान्तिमाधिगच्छति ॥७१॥

अन्वयः । यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निस्पृहः निर्म्ममः निरहंकारः (सन्) चरति, सः शान्तिं अधिगच्छति [प्राप्नोति] ॥७१॥

अनुवाद । जो पुरुष समुदय कामना परित्याग करके निस्पृह, निर्म्मम, तथा निरहंकार होके विचरण करते हैं, शान्ति वही पाते हैं ॥७१॥

व्याख्या । भोगके विषयका नाम काम है; (आकांक्षा भी काम) । मनुष्य मात्रके सन्मुखमें भोगका विषय है ।

फिर जो साधक साधनामें थोड़ासा आगे पहुंचते हैं, उन सबके भोगके विषय (विभूति) की प्राप्ति होती है। उन सब विषय-भोगमें मन देनेसे अर्थात् "काम-कामी" होनेसे, बन्धनमें पड़ना होता है, उन्नति नहीं होती। जो पुरुष, सकल प्रकार भोगके विषयको झाड़ मारके निकाल देके निस्पृह अर्थात् आकांक्षा-रहित होते हैं, अर्थात् "आत्मनो न तथा भिन्नं विश्व-मात्मविनिर्गतं" इस प्रकार विचार-अनुष्ठानमें "सर्वं ब्रह्ममयं" जान करके ममता-विहीन होते हैं, और अन्त में (सर्वशेषमें) "सोहं" ज्ञानसे मतवाला हो करके, ममत्वका नाश करके अहंकार-विहीन हो करके चरण करते हैं; वही नित्यानन्द शान्ति लाभ करते हैं। (यह अवस्थाही कर्म्मका चरम फल—सिद्धावस्था है) ॥ ७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

अन्वयः । हे पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः, एनां प्राप्य (पुमान्) न विमुह्यति (संसारमोहं न प्राप्नोति), अस्यां स्थित्वा अपि अन्तकाले (मृत्युसमये) ब्रह्मनिर्वाणं (ब्रह्मणि लयं) ऋच्छति (प्राप्नोति) ॥७२॥

अनुवाद । यही ब्राह्मीस्थिति है, इस स्थितिको प्राप्त होनेसे विमोहित होना नहीं पड़ता, इसमें रह करके भी अन्तकालमें ब्रह्मनिर्वाण मिल जाता है ॥ ७२ ॥

व्याख्या। पूर्वके श्लोकके अनुसार अवस्थाको प्राप्त हो करके विचरण करनेसे जो अवस्था होती है, वही ब्रह्मज्ञानकी अवस्था--ब्राह्मीस्थिति है । इस ब्राह्मीस्थितिमें सब कुछ ब्रह्ममय हो जानेसे, बाहरके इन्द्रिय-व्यापार समुदय सम्पन्न होनेसे भी, भेदज्ञानके अभावसे भीतर बाहर एक हो जाता है, इसलिये मोहित होना नहीं पड़ता । इसलिये इस अवस्था में विषयके भीतर रह करके भी शरीर-त्याग होनेके समय "यत्र यत्र मनो याति तत्रैव ब्रह्म लक्ष्यते" सबही ब्रह्ममय लक्ष्य होनेसे, अपुनरावृत्ति गति रूप ब्रह्मनिर्वाण-प्राप्ति होती है ॥ ७२ ॥

"शोकपंकनिमग्नं यः सांख्ययोगोपदेशतः ।
उज्जहारार्जुनं भक्तं स कृष्णः शरणं मम ॥"

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे सांख्ययोगो नाम
द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत् कर्म्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्द्दन ।
तत् किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अन्वयः । हे जनार्द्दन ! हे केशव ! चेत् (यदि) कर्म्मणः (सकाशात्) बुद्धिः ज्यायसी (अधिकतरा श्रेष्ठा) ते मता, तत् (तर्हि) किं (किमर्थं) मां घोरे कर्म्मणि नियोजयसि (प्रवर्त्तयसि) ? ॥१॥

अनुवाद । हे जनार्द्दन ! हे केशव ! यदि तुम्हारी मतमें कर्म्मसे बुद्धि श्रेष्ठा है, तो घोर कर्म्ममें मुझको क्यों नियुक्त करते हो ? ॥ १ ॥

व्याख्या । श्री गुरुदेव शिष्यके संसार मोह निवारण करनेके लिये पूर्व अध्यायमें आत्माका अज-नित्यत्व देखलायके, शारीरिक जन्म-मृत्यु प्रवाह-बन्धन छेदन करनेका एक मात्र उपाय "उत्तिष्ठ" रूप प्रकरणमें (उपदेश करके) साधनमार्ग लक्ष्य करा दिये हैं; देखलाते हैं, इस मार्गमें दो काण्ड हैं,--प्रथम कर्म्म, दूसरा ज्ञान । मूलाधारसे आज्ञा पर्य्यन्त प्रति चक्रमें गुरुपदेशक्रमके अनुसार प्राणचालन करना ही साधनका कर्म्मकाण्ड है, और कूटस्थके ऊपर लक्ष्य स्थिर करके सर्व

इन्द्रिय वृत्तिके साथ मनको आज्ञाके ऊपर उठालाके सहस्रार-स्थिति पदमें स्थिरभाव लेके "श्रवण-मनन-निदिध्यासन" अर्थात् प्रणव-नाद श्रवण, नादके अन्तर्गत ज्योति मनन (गुरुके दिखाये हुए मानस दृष्टिसे ध्यान) करना, तथा देखना सुनना प्रभृति समुदय वृत्ति एकतान करके, तन्मय करना,--यही सब बुद्धिकी क्रिया--ज्ञानकाण्ड है । यह ज्ञानकाण्ड बुद्धिकी क्रिया तथा अवस्था भेद करके दो अंशमें विभक्त है। प्रथम विभाग--उपासना; यह बुद्धियुक्त-अवस्था (२य अः ५० श्लोक,) तथा श्रुत-श्रोतव्यकी निर्वेद अवस्था (२ य अः ५२ श्लोक) इन दो भागों करके अन्तर्विभक्त है। २य विभाग--ज्ञान है; यह भी फिर योगप्राप्त अवस्था (२य अः ५३ श्लोक) तथा योगसिद्धअवस्था (२य अः ७१ श्लोक) इन दो अंशोंमें अन्तर्विभक्त है। इस कर्म्म-उपासना-ज्ञानके शेषमें ही शरीरत्याग करनेसे ब्रह्म निर्वाणकी प्राप्ति होती है (२य अः ७२ श्लोक)। ये समस्त ही साधन-मार्गके क्रम विभाग हैं, इसलिये परस्पर सम्बद्ध हैं। किन्तु जब जिस क्रमकी क्रिया होती है, तब वही प्रधान है, अतएव जब कर्म्म होता रहता है, तब कर्म्म ही प्रधान है; फिर जब कर्म्मको अतिक्रम करके बुद्धियोगमें निश्चयात्मिका वृत्तिकी स्फुरण करके योग प्राप्ति होती है, तब कर्म्म "दूरेण अवरं"। असल बात यह है कि,

कर्म्मसे ही बुद्धिका स्फुरण होता है, इस करके कर्म्म श्रेष्ठ है, तथा बुद्धि वा ज्ञानसे ही "अनामय पद" ("शान्ति" वा "ब्राह्मीस्थिति") प्राप्ति होती है, इस करके बुद्धि "ज्यायसी"—अधिकतर श्रेष्ठा है। सर्वज्ञ श्री गुरुदेव ये विषय समूह कहनेके पश्चात् स्वल्पज्ञ शिष्यने (साधक) धारणा करली कि जब बुद्धि ही श्रेष्ठतरा है तब कर्म्मसे प्रयोजन क्या! अच्छा तो है चुपचाप कूटस्थ लक्ष्य करके बैठके स्थितिपदमें "श्रवण-मनन-निदिध्यासन" करना, प्राणचालनसे एतना कष्ट उठानेका और क्या प्रयोजन है!! बुद्धिका जो स्फुरण है वह कर्म्म बिना होता ही नहीं तथा कर्म्म न रहनेसे बुद्धिकी क्रिया भी धीरे धीरे छूट जाती है, फिर बाहर के विषयमें भी लपट जाना पड़ता है, वह समझे नहीं; इसलिये कर्म्मको घोर विपाक * कह करके सिद्धान्त कर लिया। इसीलिये जगद्गुरुको कहते हैं—आपही तो "जनार्द्दन" (जन=उत्पत्ति, अर्दन=नाश) पुनर्जन्म

* साधक मात्रको ही आसन--प्राणायामादिके कष्ट मालूम हैं, वैसे क्रियाके परावस्थामें कूटस्थ लक्ष्य करके चुपचाप रह करके अन्तर्जगत्के समस्त विषय प्रत्यक्ष होते रहनेसे जो आनन्द-आवेश होता है, वह भी मालूम है; वह अवस्था मनमें याद होनेसे, कर्म्मको घोर विपाक करके ही मन मानलेता है ॥ १ ॥

नाशके कर्त्ता तथा "केशव" (क=सृष्टिकर्त्ता, ईश=संहर्त्ता, व=शून्य) सृष्टिसंहारशून्य कैवल्य पद हैं, तब क्यों फिर मुझको घोर (भयंकर) कर्म्ममें नियुक्त करते हैं ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अन्वयः । व्यामिश्रेण (क्वचित् कर्म्मप्रशंसा क्वचित् ज्ञानप्रशंसा इत्येवं सन्देहोत्पादकेन) एव वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि इव, येन (अनुष्ठितेन) अहं श्रेयः (मोक्षं) आप्नुयाम् (प्राप्स्यामि) तत् एकं निश्चित्य वद ॥ २ ॥

अनुवाद । विमिश्र वाक्यसे मेरी बुद्धिको जैसे मोहित कर देते हो; जिसमें मैं श्रेय लाभ करने सकूं ऐसा एक निश्चय करके कहिये ॥ २ ॥

व्याख्या । साधक (अर्जुन) पूर्व अध्यायमें सांख्य-बुद्धि (ज्ञानयोग) तथा योग-बुद्धि (कर्म्मयोग) इन दोनोंकी पृथकता जान करके सांख्य-उपदेश मतमें ब्राह्मीस्थिति समझ कर उसको प्राप्त होनेके लिये आग्रहान्वित हुये, तथा उस ब्राह्मीस्थितिकी तुलनामें कर्म्मको घोर विपाक कह करके मनमें स्थिर मान लिया। परन्तु भगवान "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य

न विद्यते" (२ य अः ३१ श्लोक) इस वाक्यसे समझा दिया है कि क्षत्रियोंके धर्म्म युद्ध (कर्म्म) विना "दूसरा श्रेयः कुछ है ही नहीं,-इसमें कर्म्मकी ही प्रशंसा विद्यमान है। फिर "दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनंजय" (२ य अः ४९ श्लोक) इस वाक्य द्वारा बुद्धि (ज्ञान) कर्मसे जो श्रेष्ठा है वह भी कहे हैं; इसमें बुद्धिकी ही प्रशंसा विद्यमान है। इसलिये बुद्धिकी क्रियामें ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होनेके लिये लालायित होने से भी, भगवानकी एकदफे कर्म्म प्रशंसा और एक दफे बुद्धि प्रशंसाकी बातें सुन करके, उनके मनमें सन्देह उपस्थित हो गया, बुद्धि भी मोहप्राप्त हो गई; कौन श्रेय है—योगबुद्धिका आश्रय करना अच्छा, कि सांख्यबुद्धिका आश्रय लेना अच्छा, इसे और वह निश्चय कर नहीं सके। इस करके साधक आत्मजिज्ञासामें कूटस्थ गुरु-ब्रह्मके निकट कर्म्म और बुद्धिके (ज्ञानके) भीतर कौन श्रेयस्कर (मुक्ति देनेवाला) है, उसीको निश्चय कर लेते हैं ॥ २ ॥

श्री भगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

अन्वयः । श्री भगवान् उवाच । हे अनघ ! अस्मिन् लोके निष्ठा द्विविधा मया पुरा प्रोक्ता—ज्ञानयोगेन सांख्यानां (निष्ठा), कर्म्मयोगेन योगिनां (निष्ठा) ॥ ३ ॥

अनुवाद । श्री भगवान कहते हैं, हे अनघ ! पहले ही मैं कह-चुका, इस लोकमें निष्ठा दो प्रकार की हैं,—ज्ञान योगसे सांख्य मत-वाले लोगोंकी निष्ठा और कर्म्म योगसे योगिगण की निष्ठा है ॥३॥

व्याख्या । भक्ति श्रद्धा पूर्व्वक जो निश्चय स्थिति, अर्थात् जिस प्रकार स्थिर भाव आनेसे शरीर बेखबर हो जा करके अन्तःकरण अन्तर्मुख करके "बिन्दुनाद-कलातीत" होता है उसका नाम निष्ठा (निः=निःशेष, ष्ठा=स्थिति अर्थात् जिस स्थितिकी अवधि नहीं) है। इस शरीर रूप जगतमें वही निष्ठा दो प्रकारके हैं, पहला जो मनुष्य सांख्य अर्थात् ज्ञानी है; वह सब ज्ञान योग से और दूसरा, जो सब योगी हैं अर्थात् कर्म्मी वह लोग कर्म्म योगसे वो निष्ठा लाभ करते हैं। इस शरीर में प्राणही चालक-शक्ति और मन चैतन्य-शक्ति है उसी प्राणमें मन देनेका नाम कर्म्मयोग है, और मनमें मन देनेका नाम है ज्ञानयोग। सद्गुरुके उपदेशसे सुषुम्ना मार्गके छः चक्रमें आत्ममन्त्र विन्यास करनेसे ही प्राणमें मन देना होता है, और आज्ञा चक्रके ऊपरमें सहस्रार स्थितिपद लक्ष्य करके "श्रवण-मनन-निदिध्यासन" से तत्त्व निर्णय करते रहनेसे ही मनमें मन देना होता

है । मन्त्रविन्यासका फल है निरालम्ब हो करके ब्रह्मावकाशमें मिल जाना, और तत्त्वनिर्णय-शेषका फल है मन-विलयसे विष्णुपदमें स्थिर हो जाना । ये दोनों ही एक है, केवल प्रकार भेद मात्र है । २ य अः २० श्लोकसे ३८ श्लोक पर्य्यन्त ज्ञाननिष्ठा, और ४० श श्लोकसे ५३ श्लोक पर्य्यन्त कर्म्मनिष्ठा व्यक्त किया हुआ है; इसलिये भगवान कहते हैं "पुराप्रोक्ता"। साधक सांख्यउपदेश प्राप्त होकरके और बाहर वाले विषय की चंचलता में पड़ते नहीं, इस करके वह ब्रह्मविद्याके अधिकारी हुये हैं, इसलिये उनको, इस श्लोक में "अनघ" अर्थात् निष्पाप कह करके सम्बोधन किया गया है ॥ ३ ॥

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समाधिगच्छति ॥४॥

अन्वयः । पुरुषः कर्म्मणां अनारम्भात् नैष्कर्म्म्यं न अश्नुते; संन्यसनात् एव च सिद्धिं न समाधिगच्छति ॥ ४ ॥

अनुवाद । पुरुष कर्म्म न करके नैष्कर्म्मको प्राप्त नहीं होता; केवल मात्र संन्याससे भी सिद्धि लाभ नहीं होती ॥ ४ ॥

व्याख्या । ज्ञाननिष्ठा, नैष्कर्म्यसिद्धि वा ब्राह्मीस्थितिमें कर्म्ममात्रकाही अभाव है, अतएव चंचलता

कुछ नहीं है; केवल ही निस्तरंग समत्व है । और कर्म्ममें विषमताके उत्ताल तरंग करके केवल चंचलता ही चंचलता है । इन दोनोंको सामने सामने बैठाके देखने से परस्पर विरोधी कह करके समझमें आता है । परन्तु योगी लोग कहते हैं, कि ऐसा नहीं (विरोधी नहीं है); ब्राह्मीस्थितिके लिये मुख्य अवलम्बन ही है "कर्म्मयोग" जिसके अनुष्ठान बिना अन्तःकरण की वृत्ति समूह का (जिसमें कर्म्म का प्रारम्भ होता है) सम्यक प्रकार करके नाश किया नहीं जाता, अर्थात् वृत्तिविस्मरण अवस्था आतीही नहीं । वो सबको नाश कर न सकने से, वो जो नैष्कर्म्म्य सिद्धि का विश्राम है,—बुद्धि उसका ग्रहण कर नहीं सक्ती । क्योंकि, ब्राह्मीस्थिति वा नैष्कर्म्म्य सिद्धि का पूर्व्वानुष्ठेय करण ही वो कर्म्म है । इस कर्म्म के शेष ही में नैष्कर्म्म्य प्राप्ति है, और कर्म्मशेष के मिलन का नामही "कर्म्मयोग" है । साधक! तुम देखो, मूलाधार के भीतर ब्रह्मनाड़ीमें जब तुमने भूतशुद्धि करना प्रारम्भ किया है, तब संघात विलयमें (क्रिया गुरूपदेश करके बोधगम्य) तुमको कितनी चंचलता भोग करना पड़ी । जब तुमने आज्ञाचक्र भेद करके निष्क्रिय गुरूपदको लक्ष्य किया, तब ही तुम्हारी निष्कामता का प्रारम्भ हुआ । क्रम करके

जितना तुम गुरुपदमें प्रवेश करने चले, उतनाही तुम्हारा चंचलता, नीचेके उस आज्ञा-चक्रमें दूरसे दूरान्तरमें पड़ते रह गये; और तुम्हारी निष्कामता बढ़ती चली। जब तुम गुरुपदमें मिलगये, तुम्हारा वो जो प्राण-चालन रूप कर्म्म था जो तुम पहले से करते चले आते थे, सो एकवारगी तुमसे छूटगया; तुम भी वो नैष्कर्म्म्य सिद्धि पागये। यदि तुम चित्तपथमें (ब्रह्माकाशमें) पहलेसे प्राणचालन का अनुष्ठान न करते, तो तुमको बाहर के पांच विषयोंमें लिपट कर डूबना तरना पड़ता; कभी इस स्थिर शान्तिका सुख भोग करने नहीं पाते। और भी देखो, सुषुम्ना मार्गमें प्राणचालन शिक्षाके पहले तुमने स्वभावज निःश्वास प्रश्वाससे बहिर्विषय त्याग ग्रहणमें जो समस्त वासना राशिकी छापा चित्त पटमें लगाये थे, उन समस्त छापाके (पूर्व संचित कर्म्म) रहने से भी, कर्म्म शेष न करके यदि तुम कर्म्म त्याग करते (सन्यासी साजलेते) तो सिद्धि रूप ज्ञाननिष्ठाकी अवस्था (ब्राह्मी विश्राम) तुम न पाते। इसलिये श्री भगवान कहते हैं कि—पुरुष यदि कर्म्म का अनुष्ठान न करे, तो वह नैष्कर्म्म्य-अवस्था पाता नहीं, अथवा कर्म्मत्याग करके हेतुशून्य संन्यासी होने से भी सिद्धि लाभ करने नहीं सक्ते ॥ ४ ॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

अन्वयः । अकर्म्मकृत् कश्चित् न जातु (कदाचित्) क्षणमपि तिष्ठति; हि (यतः) प्रकृतिजैः गुणैः सर्वः अवशः (सन्) कर्म्म कार्य्यते ॥ ५ ॥

अनुवाद । कर्म्म न करके कदापि कोई क्षणमात्र भी स्थिर रह नहीं सकता, क्योंकि प्राकृतिक गुणत्रय सभीको अवश करके कर्म्म करादेते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या । प्राणकी क्रिया ही कर्म्म है; ज्ञानी, अज्ञानी सबही इस प्राण-चालनमें बंधे हुए हैं । प्राण-क्रियाको "अजपाजपको" न करके क्षणमात्र भी कोई रह नहीं सक्ता । निद्रा तथा सुषुप्तिमें भी इस क्रिया का निरोध नहीं होता, अथवा नहीं करूंगा कह करके इस क्रियासे कोई अलग रह नहीं सक्ता । क्योंकि सत्त्व रजः तथा तमः इन तीन गुणोंके फांसमें पड़ करके सबहीको अवश हो कर कर्म्म करना पड़ता है । सत्त्वगुणमें सुषुम्नाके भीतर श्वास चलता है; और रजस्तमो गुणमें इड़ा तथा पिंगलामें चलता है । जबतक तीन गुणोंका कार्य्य होवेगा, तबतक इस प्रकार श्वास भी चलता फिरता रहेगा । ब्रह्ममन्त्र सम्पूट करके गुरूपदेश-मतासे प्राणक्रिया करके इन गुणत्रयका अतीत

न होने से, कर्म्मत्याग नहीं होता; सुतरां प्रकृत संन्यास भी नहीं होता ॥ ५ ॥

कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

अन्वयः । यः कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते, सः विमूढात्मा मिथ्याचारः उच्यते ॥ ६ ॥

अनुवाद । जो कर्म्मेन्द्रिय समूहको संयत करके मन ही मनमें विषयका स्मरण करते रहते है, सो मूढात्मा तथा कपटाचारी कह करके अभिहित होते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या । कर्म्मके द्वारा कर्म्मभूमि अतिक्रम न करके जो त्यागी साज लेते हैं, कर्म्मेन्द्रिय संयत करने से भी वह प्राकृतिक गुणमें आबद्ध रहते हैं इसलिये उनको विषयमें मन देनाही पड़ता है, तब केवल अपना त्यागीत्व, लोक जगतको देखलानेके लिये कर्म्मेन्द्रियों को कार्य्यसे विरत कर रखते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय-जयका ढंगमें लोकानन्द बिना ब्रह्मानन्द नहीं मिलता। मूढता हेतु मनके विषयावेगके रहनेसे भी केवल मात्र मान प्रतिपत्ति बजा (दृढ़) रखनेके लिये उनका इन्द्रिय-संयम है, इसलिये वह मिथ्याचारी हैं * ॥ ६ ॥

* साधकमात्र ही जानते हैं कि, क्रियाकालमें ठीक ठीक आसन

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! यः तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगं आरभते, सः असक्तः विशिष्यते ॥ ७ ॥

अनुवाद । हे अर्जुन ! किन्तु जो मनके साथ इन्द्रिय सकलको संयत करके कर्म्मेन्द्रियोंसे कर्म्मयोग आरम्भ करते हैं, वही असक्त (आसक्ति-शून्य) पुरुषही विशिष्ट अर्थात् युक्त होते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या । पांव मारके बैठके एक पांवके गुल्फसे गुह्य-देशपर आक्रमण करके, दूसरे पगके गुल्फसे लिंग-मूल दावके * आसन संलग्न दोनों जानुके ऊपर

करके बैठा हुआ है, क्रिया होता है, होते होते मनमें ऐसे एक विषय की चिन्ता उठ आई जिससे उस दिन उसी चिन्तामें क्रियाका शेष होगया; असल काम कुछ न भया । इसको भी मिथ्याचार अवस्था जानिये । इस अवस्थामें "ततस्ततो नियम्यैतत् आत्मन्येव वशंनयेत्" इस उपदेश अनुसार दृढ़ उद्यममें क्रिया करनेसे तब इससे निष्कृति पाया जाता है ॥ ६ ॥

* स्वस्तिकासन ही सुखसाध्य है । पग मारके बैठके जानु दोनों और ऊरु दोनोंके भीतर जो द्राड़ पड़ता है, दोनों पगके पाति (पार्ष्णी) उन द्राड़के भीतर रखकर त्रिकोणाकार आसन बद्ध करके, सरल भावमें काय-शिर-ग्रीवा सिधा-समान-बराबर रख करके बैठनेसे ही स्वस्तिकासन होता है ॥ ७ ॥

हाथ सीधा करके मणिबन्ध दोनों रखके--मेरुदण्ड घाड़ (घेंठ्) और मस्तक बराबर सीधा कर लेकरके, कूटस्थ लक्ष्य करके वहां जो जो होता रहेगा, उस तरफ ज्ञानेन्द्रिय समूहको मन ही मनमें स्थिर रख करके गुरूपदिष्ट प्रकरण से प्राणचालन द्वारा कर्म्म करने से थोड़ासा बादही युक्त होना पड़ता है। पश्चात् उसी भावसे बैठ रह करके दोनों हाथ की अंगुलियोंसे गुरूपादिष्ट नियम मता चक्षु, कर्ण, नासिका, और मुखद्वार रोध करनेसे "परमं पुरुषं दिव्यं याति" अर्थात् परम पुरुषका दर्शन होता है, जिनको हिरण्मय पुरुष कह करके उपनिषत् में * वर्णना किया है। वही पुरुष परागति हैं। जो प्राणायाम द्वारा चित्तशुद्धि कर लेकरके अनासक्त हो के कर्म्मेन्द्रियोंके सहारेसे नवद्वार रोध करके इस परम-पुरुषार्थसाधनमें यत्न करते हैं (कर्म्म योगका अनुष्ठान करते हैं) वही पुरुष युक्त है, वही पुरुष विशिष्ट है ॥ ७ ॥

---

* छान्दोग्य उपनिषद प्रथम प्रपाठकके षष्ठ खण्डमें षष्ठ श्लोक देखो—"अथ यदेवै तदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत् सामाथ यः एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः" ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायोह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्म्मणः ॥ ८ ॥

अन्वयः । त्वं नियतं कर्म्म कुरु, हि (यतः) कर्म्म अकर्म्मणः (अपेक्षायाः) ज्यायः (श्रेष्ठः); च (अधिकं किम्) अकर्म्मणः (कर्म्महीनस्य) ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिध्येत् (न भवेत्) ॥८॥

अनुवाद । तुम नियत कर्म्म करो, क्योंकि कर्म्म अकर्म्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, अधिक क्या, कर्म्म न करनेसे तुम्हारा शरीर-यात्रा भी निर्वाह न होवेगा ॥ ८ ॥

व्याख्या । कर्म्मी (योगी) न हो करके त्यागी साजलेनेसे जो अकर्म्म होता है, उसमें रहनेसे, इन्द्रिय सकल पूर्वसंचित कर्म्मफलके अनुसार विषयमें आबद्ध रहता है कह करके परमपद-प्राप्ति नहीं होती; किन्तु गुरूपदिष्ट मतमें कर्म्म करनेसे, उसके अवश्यम्भावी फलसे कर्म्मक्षय होजाय करके जो अकर्म्म होता है, उसीमें परमपद-प्राप्ति कराता है । इसीलिये उस त्यागी साजलेना अकर्म्मसे कर्म्म श्रेष्ठ है । कर्म्म—भीतर बाहर में प्राणवायुके गमनागमन प्रति शरीरमें होता ही है; उसको त्याग करके कोई शरीर रक्षा कर नहीं सक्ता । स्वभावके वशसे प्रत्येकको ही ऐसा करना होता है । इस स्वभावसिद्ध कर्म्ममें कौशल प्रयुक्त होनेसे ही एक अलौकिक नित्य आनन्द-वैभवका उत्पत्ति

होती है । इसलिये श्री गुरुदेवने उपदेश दिया है कि, नियत हो के कर्म्म करना होता है । दृढ़ताके साथ यथाकालमें नियम युक्त होकरके आत्मलक्ष्य करके प्राणचालन अर्थात् स्वाभाविक कर्म्ममें कौशलका प्रयोग करनेका नाम ही "नियतं" कर्म्म है ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

अन्वयः । यज्ञार्थात् कर्म्मणः अन्यत्र (यज्ञार्थव्यतीरिक्त कर्म्मेण इत्यर्थः) अयं लोकः कर्म्मबन्धनः (कर्म्मभिः आबद्धः भवति) । (अतः) हे कौन्तेय ! (त्वं) मुक्तसंगः (सन्) तदर्थं (यज्ञनिमित्तं) कर्म्म समाचर ॥ ९ ॥

अनुवाद । यज्ञार्थं बिना अन्य कर्म्म करनेसे इस लोकमें कर्म्म-बन्धन करके आबद्ध होना पड़ता है । अतएव हे कौन्तेय ! तुम अना-सक्त होकरके यज्ञके लिये कर्म्म किया करो ॥ ९ ॥

व्याख्या । यज्ञ अर्थे होम (हवन) अर्थात् देवोद्देश करके मन्त्रोच्चारण पूर्वक अग्निमें घृतादि क्षेपण करना । विष्णुही देवता हैं । भगवान स्वयं ही कहते हैं "अहम् आदिर्हि देवानां" इनहीसे " प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी "; यही कूटस्थ पुरुष हैं । उत्-ऊर्द्धदेश अर्थात् कूटस्थ लक्ष्य करनेका नाम उद्देश है । कूटके भीतर लक्ष्य स्थिर रख

करके गुरुपदिष्ट विधानसे प्रतिचक्रमें आत्ममन्त्रके साथ प्राणाहुति देते देते (जिसको प्राणयज्ञ कहते हैं, अन्तर्याग भी कहते हैं) जब अन्तरोत्थित भ्रमर-गुंजन-रव करके मन मोहित हो जाय, तब सहस्रारसे सुधा (अमृत) का क्षरण होता रहता है; उस सुधाको गुरूपदिष्ट-प्रकरणसे तब ऊंचेमें उठाये हुए जिह्वाग्रसे धारण करके वैश्वानरमें क्षेपण करना होता है,—इसीका नाम यज्ञ है। यह यज्ञ, देव-उद्देश न करनेसे नहीं होता, फिर इसीसेही यज्ञेश्वर विष्णु प्रसन्न * होते हैं। जिस प्रकार कर्म्ममें—प्राणके जिस प्रकार चालन से (जो कर्म्म—सीखनेके लिये ही गुरुकरण प्रयोजन है) यज्ञेश्वर प्रसन्न होते हैं, वही ही—"तदर्थंकर्म्म" है। उस "तदर्थ" कर्म्म छोड़ करके दूसरे प्रकारके कर्म्म करनेसे (कूटस्थमें मनस्थिर तथा प्रतिकमलमें प्राण-विन्यास न करनेसे, अर्थात् मन-प्राणमें मन न मिलानेसे) प्राकृ-

* जो साधक उस सुधाको वैश्वानर नामक जठराग्निमें आहुति दे सकते हैं, वह आहुति सर्व नाड़ियोंमें व्याप्त हो करके सर्व शक्तिको (जो जो शक्ति षट् पद्मके प्रति पत्रमें है) पुष्ट तथा प्रबुद्ध करनेसे साधकका शरीर लावण्यमय हो करके—खिलती हुई ज्योति निकल बाहर आता है। इस शरीरको ही विष्णु-मन्दिर कहते हैं, जहां ब्रह्मण्य-देव हरि विराजते हैं ॥ ९ ॥

तिक जगत्‌में कर्म्म-डोर करके बंधा पड़नाही पड़ता है *
इसीलिये आसक्ति त्याग करके (क्योंकि आसक्तिहीं
कर्म्मबन्धन का हेतु) "तदर्थ" कर्म्म करना होता है, यह
उपदेश किया गया ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

अन्वयः। पुरा (सृष्ट्यादौ) प्रजापतिः सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा उवाच—अनेन (यज्ञेन) प्रसविष्यध्वम् (आत्मोन्नतिं लभध्वम्), एषः वः (युष्माकम्) इष्टकामधुक् (अभीष्टभोगप्रदः) अस्तु ॥ १० ॥

अनुवाद। सृष्टिके प्रथम प्रजापतिनें सहयज्ञ प्रजा सृष्टि करके कहा था—इस यज्ञद्वारा तुम सब उत्तरोत्तर आत्मोन्नति लाभ करो, यह तुम सबका इष्टफलप्रद हो ॥ १० ॥

व्याख्या। पितृ-शरीरसे मातृ गर्भमें जानेके समय में ही सन्तानमें पितृप्राण संचारित होता है; उसी प्राणमें

---

* बन्धन।—जिस कर्म्मका फल भोग करना होता है वही बन्धन है। वह बन्धन ही प्राकृतिक आवरण है, वह आवरण स्थूल-सूक्ष्म भेद करके नाना प्रकारका है। स्थूल शरीर एक बन्धन है; इसको लेके आश्रय छोड़ करके शून्यमें रहा जा नहीं सकता, माध्याकर्षण-शक्ति करके पृथिवीमें गिर पड़ना होता है। सूक्ष्म शरीर और एक बन्धन, इसके फिर भिन्न-कर्म्मसंस्कार-हेतु करके लघुगुरु-पृथकता है; इसको लेकरके भूमि छोड़ करके वायुमार्गमें जाया जा सकता है, किन्तु वायु

मातृप्राण मिल करके प्राण-प्रवाह आरम्भ होता है। इस समय शरीर रूप ब्रह्माण्डके (केवलमात्र) अणुसे भी अणुके आकार करके सप्तस्वर्गकी सृष्टि होती है; उसी सप्त स्थानमें प्राणरूपी महामाया (जगद्धात्री) क्रीड़ा करके सप्तस्थान-निहित दैवी शक्तियोंको सचेष्ट करती हैं, इस करके सप्तधातु वृद्धि प्राप्त होकर शरीर-कोष बड़ा होता रहता है । इसलिये प्रजा सहयज्ञ है। मनुष्य-सम्बन्धमें प्रजापति दो हैं:—एक हैं प्रथम जन्म-दाता, और एक हैं दूसरा जन्मदाता । प्रथम जन्मदाता—जनक, द्वितीय जन्मदाता--गुरु । ये दोनों ही कहते हैं, "अनेन प्रसविष्यध्वम्" इत्यादि। जनकका कहना "आदि इच्छाशक्तिके अन्तर्गत कह करके अप्रकाश है; गुरुका कहना उपदेशके अन्तर्गत कह करके प्रकाश है। श्रीगुरुदेव

मण्डलके पर पारमें जाया जा नहीं सकता,—तहां संस्कारानुयायी स्तरमें वा लोकमें विचरण करना होता है, उससे उच्चतर स्तर विशुद्ध आकाश-मण्डलमें जाया जा नहीं सकता । साधारण मृत्युके पश्चात् प्रेतात्मा वायुभूत अवस्थामें नाना प्रकार करके इस वायु मण्डलमेंही रहते हैं, तत् पश्चात् कालवशमें कर्म्मफलके अनुसार पुनः संसारमें प्रवेश करते हैं । जब तक कर्म्म क्षय न हो तब तक ये आना-जाना रूप बन्धन-क्लेश भोगनेही पड़ता है । साधनासे सत्-संस्कारकी वृद्धि हो करके कर्म्मक्षय होना पश्चात् बन्धन हीन हुआ जाता है, मुक्ति होता है—"यदि देहं पृथक् कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि । अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि"--(अष्टावक्रः) ॥९॥

शिष्यको बाहरसे अन्तर्जगतमें प्रवेशका अधिकार देकरके द्वितीय जन्म देते हैं; उस समय वह सहज प्राण-यज्ञ लक्ष्य करा देकर कौशल-प्रयोग-प्रकरण सिखलायके कहते हैं "इसीसे ही उन्नति,--इसीसे ही इष्टफलकी प्राप्ति है" ॥ १० ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

अन्वयः । अनेन (यज्ञेन यूयं) देवान् भावयत (संवर्द्धयत); ते देवाः वः (युष्मान्) भावयन्तु (संवर्द्धयन्तु); (एवं) परस्परं (अन्योन्यं) भावयन्तः (देवाश्च यूयं च) परं श्रेयः अवाप्स्यथ ॥११॥

अनुवाद । इस यज्ञसे तुम सब देवतनकी भावना करो, वह देवतागण तुम सबकी भावना करें । इस प्रकार परस्पर भावनासे तुम लोग परम इष्टलाभ कराग ॥ ११ ॥

व्याख्या । साधनमार्गमें--शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य्य, तथा गणपति--ये पांच देवता उपास्य हैं। ये पांच ही सब देव-गंधर्व-किन्नरादिके आश्रय हैं । साधकमात्र ही इन पांच देवतनका उपासक है, क्योंकि, एक ब्रह्म ही भूलोक—मूलाधारमें गणपति, भूवर्लोक--स्वाधिष्ठानमें शक्ति, स्वर्लोक--मणिपुरमें सूर्य्य, महर्लोक,--अनाहतमें विष्णु, जनलोक--विशुद्धाख्यमें शिव, ये पंच रूपसे

आविर्भूत होकरके साधकोंके हित साधन करते हैं। ये पांच—क्षर ब्रह्म है। इस क्षर-उपासनासे भूतशुद्धि होने के पश्चात् तपलोक—आज्ञामें अक्षर ब्रह्म कूटस्थ-पुरुषकी उपासना होती है; पश्चात् सत्यलोक—सहस्रारमें उत्तम पुरुषको समझ लेकरके सर्वविद होकरके, सत्-असत्के पर जो है, वही होना होता है।

इस यज्ञ द्वारा उन देवतनको भावाना होता है अर्थात् अभिषेक द्वारा उन देवतनको जगाना होता है; देवगण जाग करके पश्चात् जीवको भावाते हैं, अर्थात् तत्त्वज्ञान करके आभूषित करते हैं। इस प्रकार परस्परोंकी भावनासे परंश्रेय जो परमागति अर्थात् आत्मगति वा मुक्ति है, वह प्राप्त होती है।

ब्रह्मनाड़ीका अवलम्बन करके दृष्टि कूटस्थमें आबद्ध रख करके, मन ही मनमें उच्चारित आत्ममंत्र-मिश्रित प्राण द्वारा प्रतिकमलमें धक्का मारते मारते पूरक रेचक करना होता है; एक स्थानमें धक्का मारना पश्चात् स्वभावके वशमें रह करके, प्राण-प्रवाहमें किसी प्रकार कर्त्तृत्व न रखके, वहांसे स्थानान्तर जाना पड़ता है, किसी स्थानमें विन्दु मात्र भी इच्छाका प्रयोग * करना उचित नहीं। इस

* इच्छाका विकाश होनेसेही उसके बन्धनमें पड़के पतन होता है—नहीं तो उसी स्थानमें ही अटक रहना पड़ता है, उन्नति नहीं होती ॥ ११ ॥

प्रकारसे पूरक रेचक करते करते जैसे नाना नाड़ियोंके भीतर वायु प्रविष्ट होकरके उन सबको क्रियामुखी करती है; वैसे सहस्रार-विगलित सुधा वैश्वानर कर्त्तृक ऊर्द्ध-मुखी हो करके मेरुदण्डगत स्नायुमण्डलीको परिपुष्ट तथा सतेज करते हैं, और प्रति पद्ममें उस धक्काके लगते रहनेसे, उसी उसी स्थानके आकाशस्थ वायु आलोड़ित तथा कम्पित होकरके (ठीक जैसे रासायनिक क्रियासे) उसी उसी स्थानकी शक्तिमें चेतनाका संचार करता है, और देश (अधिष्ठात्री-देवीके साथ वो वो कमल) अपूर्व ज्योति करके आप्लुत हो जाता है। इसीका नाम देवतनको भावाना है। उस ज्योतिसे हृदयका अंधियारा दूर हो जानेसे, साधकके तब भूत (जो होय चुका) भविष्यत (जो होनेवाला) दृष्टि-गोचर होते रहते हैं, एवं पृथिवी-जलादिका तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। इसीको देवगणसे प्रजा वा जीवको भावाना कहते हैं। इस प्रकार भावाना-क्रिया होते रहनेसे, परिपुष्ट और प्रवुद्ध शक्तिकी चरम चैतन्यज्योति तथा जीवके (साधकके) चरम तत्त्व-ज्ञान अन्तमें एक हो जा करके, आत्मज्ञानकी पराकाष्ठा "चिदानन्दरूपः शिवोहं" हो जाता है॥ ११॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्द्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

अन्वयः । हि (यतः) देवाः यज्ञभाविताः (सन्तः) वः (युष्मभ्यम्) इष्टान् भोगान् दास्यन्ते, तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय यः भुंक्ते सः एव स्तेनः (चौरः) ॥ १२ ॥

अनुवाद। देवगण यज्ञसे भावित होनेसे तुम सबको इष्टभोग देवेंगे, देवतनका दिया हुआ भोग्य, देवतनको न देकरके जो स्वयं भोग करता है, वह निश्चय चोर है ॥ १२ ॥

व्याख्या। भावना दो प्रकारकी हैं,—पहले वाली स्वभाविक है, जो असाधन अवस्थामें सर्बशरीरमें भीतर बाहर आपही आप होता है; और दूसरी कौशलिक, जो साधनामें होती है। पूर्व श्लोककी व्याख्यामें यही कौशलिक “ भावना ” की बात कही गई है। प्रत्येक जीवही कर्म्मफल भोग करते हैं;—हृदय-देशमें अधिष्ठित देवगण ही जीवोंके उस कर्म्मफलके देनेवाले विधाता हैं। स्वाभाविक निश्वास-प्रश्वासादिकी जो क्रियायें शरीर में चल रही हैं, वह सब उन देवगणसे ही चालित एक अलौकिक नियम करके आबद्ध हैं; इसलिये जीव चाहे कौशल अवलम्बन करे चाहे स्वभावके वशमें रहे, इच्छामें हो चाहे अनिच्छामें हो शरीर-क्रिया सम्पन्न

करनेके हेतु अज्ञात रूपमें देवतनकी "भावना" हो जाती ही है। किन्तु जीव-स्वभाव-वश करके अनिच्छामें जो होता है, उसमें विशुद्ध इष्ट भोग * लाभ नहीं होता, क्योंकि, अभावके लिये अशान्ति रह जाती है। इस अभावकी अशान्ति दूर करनेके लिये ही इच्छा पूर्वक कौशलका अवलम्बन करना पड़ता है। कौशलका अवलम्बन करनेसे मन प्राण तथा शरीर-सार (सुधा) प्रति कमलमें प्राण विन्यासके साथही साथ देवतनको अर्पण हो जाता है, उस करके विशुद्ध इष्ट भोग जो ब्रह्मानन्द है, वही लाभ होता है। जो कौशलका अवलम्बन नहीं करते हैं, उसके मन, प्राण तथा शरीरज सुधा जीव-स्वभाव-वशसे विषयाभि-मुखमें प्रवाहित हो करके प्रतिक्षणमें ही शरीर-सुखमें क्षय पाता है, देवगणका पोषण नहीं करता। वस्तुतः शरीर-क्रिया वैश्वानरादि देवगणसेही चालित, तथा प्राण-प्रवाह और सुधा उन सबसे ही प्रदत्त हैं; जिस-लिये वो सब उनही देवतनके द्रव्य हैं। अतएव कौशलसे

---

* साधन फल करके जो सब विभूतियां लाभ होती हैं, वह सब विशुद्ध इष्ट भोग नहीं हैं, क्योंकि उसके भोगनेसे संसारमें आबद्ध होना पड़ता है। उन सब विभूतियोंको ग्रहण न करके, विषयाधिकार पार हो जा करके जो वस्तु लाभ होती है, वही विशुद्ध इष्ट भोग है, उससे कभी विच्युत होना नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

वह सब चीज उन सब देवतनको अर्पण न करके शरीर-सुखमें विषय-भोगके लिये खरचा करनेसे सचमुचही चोर होना पड़ता है । इसमें इष्टसाधन नहीं होता (१०म श्लोकके शेषार्द्धसे १२ श श्लोक तक प्रजापति-वाक्य) है ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अन्वयः । यज्ञशिष्टाशिनः (यज्ञशेषभोजिनः) सन्तः (साधवः) सर्वकिल्विषैः (सर्वपापैः) मुच्यन्ते । ये तु आत्मकारणात् पचन्ति ते पापाः (पापचारिणः) अघं (पापं) भुंजते ॥ १३ ॥

अनुवाद । यज्ञशेष भोजी साधुगण सर्व पापसे मुक्त होते हैं । परन्तु जो लोग अपने लिये पाक करते हैं, वो पापाचारी लोग पाप हीको भोजन करते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या । प्राणायाम ही यज्ञ है । प्राणस्थिर हो जाना ही यज्ञ शेष है । उसी शेषभागको जो भोजन करते हैं अर्थात् जो प्राणवायुको स्थिर करके शरीरके भीतर धारण (कुम्भक) करते हैं, वही पुरुष यज्ञशेष भोजी हैं । जो सब साधक उस प्रकार कुम्भकसे प्राणरोध करके यज्ञशेषभोजी एवं सन्त (सत्‌सत्त्वामें एकाग्र मनसे

प्रवेश हेतु तन्मय) होते हैं, वही सब साधक * प्राकृतिक चंचलताके अतीत हो करके मुक्त होते हैं। किन्तु जो लोग "आत्म-कारणमें" अर्थात् भोग-सुखके लिये कामना परायण हो करके अन्न, जल, वायु आदि पेटके भीतर प्रवेश (आहार) कराते हैं, वह लोग पापाचारी हैं, उन सबके शरीरमें अघ (मनकी चंचलता ही) रहती है, स्थिरता नहीं आती ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्ज्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्ज्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

अन्वयः । भूतानि अन्नाद्भवन्ति, अन्नसम्भवः पर्ज्जन्यात् (भवति) पर्ज्जन्यः यज्ञात् भवति, यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः, कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं; तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म यज्ञे नित्यं प्रतिष्ठितं ॥ १४ ॥ १५ ॥

अनुवाद । भूत समस्त अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नसम्भव (अन्नकी उत्पत्ति) पर्ज्जन्य (वृष्टि) से होता है, यज्ञसे पर्जन्यकी उत्पत्ति है,

---

* द्वितीय अध्याय ४४ श्लोककी व्याख्या देखो । साधु न हो करके केवल (बाजिगर योगी) यज्ञशेष भोजीके भाव दिखलानेसे व्यवसायात्मिका बुद्धि आती नहीं,—इसलिये मुक्ति भी नहीं होती ॥ १३ ॥

यज्ञ कर्म्मसे उत्पन्न, कर्म्म ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, और ब्रह्मको अक्षरसे उत्पन्न जानना । इसलिये ब्रह्म सर्वगत तथा यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

व्याख्या । क्षरके ऊपर जो है, वही अक्षर अर्थात् कूटस्थ—अव्यक्त है, जिनमें तथा जिनसे विश्वप्रपंच व्यक्त है; इनका दर्शनस्थान अज्ञान चक्र * है । इस अक्षरसे ही ब्रह्म उत्पन्न है, जिनको शब्दब्रह्म वा प्रणव कहते हैं अर्थात् आकाशतत्त्व वा व्योम; इनका स्थान विशुद्धचक्र है । शब्दब्रह्मसे ही कार्य्यब्रह्मकी (प्राण अर्थात् वायुतत्त्वकी) उत्पत्ति है, प्राण ही कर्म्म है,—जिनको कर्म्मरूपा महामाया कहते हैं,—जिनके अस्तित्त्वसेही विश्व संसारमें कर्त्तृत्त्वका विकाश है; इनका स्थान अनाहत चक्र है । उस प्राण रूप कर्म्मसे ही यज्ञ अर्थात् "त्याग-ग्रहण" क्रियाकी उत्पत्ति है, एक मात्र तेजके सहारासे ही संसारका ग्रहण-त्याग, आकर्षण-विकर्षण इत्यादि क्रियायें सम्पन्न होती हैं, इसी लिये तेज ही यज्ञ है, इनका स्थान मणिपुर चक्र है । तेजके क्रिया रूप यज्ञसे रसतत्त्व उत्पन्न, जो सतत निम्नग कह करके पर्जन्य नाम पाये हैं; इनका स्थान स्वाधिष्ठान

* इस अज्ञान चक्रमें ही—"एकस्थं सचराचरं कृत्स्नं जगत्" प्रत्यक्ष होता है; इसलिये श्रीगुरुदेव यहां ही लक्ष्यस्थिर करनेकी आज्ञा करते हैं । इसीलिये अज्ञानचक्रको आज्ञाचक्र भी कहते हैं ॥१४॥१५॥

चक्र है। रसतत्त्वसे पृथ्वीतत्त्वकी सृष्टि है; यह पृथ्वी ही अन्न है, क्योंकि यही आधार है इसीलिये इनका नाम भी मूलाधार, स्थान भी मूलाधार चक्र है। इस अन्नरूप मूलाधारसे ही भूत (जो जाता है) अर्थात् प्राणी उत्पन्न है; मृदंशके आवरणमें प्राण प्रवेश करनेसे ही प्राणी सृष्ट होता है, इसीलिये कहा हुआ है कि अन्न सेही भूत होता है। यह जो अक्षरसे भूत पर्य्यन्त सृष्टि-प्रकरण * व्यक्त हुआ, ये सब एकसे उत्पन्न होनेसे भी विकारज कह करके परस्पर पृथक हैं; किन्तु इन सबके भीतर एक साधारण सम्पत्ति है, वह शब्द-ब्रह्म वा प्रणव है। आकाशका शब्द—वायु, तेज, जल, मट्टी सबमें ही है, किन्तु वायुके स्पर्श, तेजका रूप, जल का रस तथा मट्टीका गन्ध व्योममें व्यक्त नहीं है। पुनश्च व्योमका शब्द वा शब्द-ब्रह्मके सहारासे "अक्षर" तथा "उत्तम" गतिकी प्राप्ति होती है,—

"ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतेरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥"

* मूल श्लोकमें, साधनमार्गमें निवृत्तिक्रम देखलानेके लिये, कार्य्यसे आरम्भ करके शेष कारण दिखलाये गये; किन्तु व्याख्यामें समझानेकी सुविस्ता के लिये, कारणसे आरम्भ करके सृष्टि प्रकरणके अनुसार कार्य्य विस्तार देखाया गया॥ १४॥ १५॥

इसीलिये यह शब्दरूप ब्रह्म सर्वगत है। यह फिर यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित है; कारण यह है कि मणिपुरस्थ तेजके प्रभाव करके जो वायु-प्रवाह चल रहा है, उसके आघात् करके सर्वस्थानसे ही सर्वदा, एक मुख बन्ध भुंलेके भीतर वायु प्रवेशके शब्द जैसा कमती बढ़ती शब्द उठता है, विराम नहीं। मन बाहरमें रहता है, इस करके वह शब्द सुननेमें नहीं आता। किन्तु मनको भीतर लेजानेसे, जितनी जितनी एकाग्रता आती रहती है, उतना उतना वह सब शब्द भी स्पष्टसे स्पष्टतर होता रहता है, अच्छीतरह सुननेमें आता है। साधारणतः कानको दाबनेसे भीतरसे जो एक तुमुल शब्द सुननेमें आता है वही प्राण-निर्घोष शब्द है। उसीकी व्यंजन त्याग अवस्था ही प्रणव है। इस प्रणवका विराम नहीं कह करके प्रणव नित्य है।

इन दो श्लोकोंमें "अन्नाद्भवन्ति" से "समुद्भवम्" पर्य्यन्त इन छ चरणों की रचना-कौशलके प्रति लक्ष्य करनेसे देखनेमें आता है कि प्रथम तीन चरणके लक्ष्य कारणसे कार्य्यमें, पश्चात् तीन चरणके लक्ष्य कार्य्यसे कारणमें रहा है, यज्ञ वा मणिपुरस्थ तेजस्तत्व ही इस भिन्न क्रमका संयोगस्थल है। इस प्रकार रचनाका उद्देश्य यह है कि, साधक जबतक मणिपुर चक्र पार न होवेंगे, तबतक उनको विषयवाले तमोकी खिंचाईसे नीचेकी तरफ कार्य्यमुखमें पड़ना ही होता है;

मणिपुर पार होते मात्र, तत्क्षणात् अवैषयिक तमोकी खिंचाईसे ऊंचे तरफ कारण मुखमें उठते रहते हैं; इसका कारण यह है कि, मणिपुर चक्रके नीचे पीठमें, रजो अधिक कह करके, चंचलतामें कार्य्यविस्तार होता रहता है; और ऊपर पीठमें सत्व अधिक कह करके चंचलताके अभावके लिये कार्य्यलय हो करके मूलकारणका विकाश होता रहता है। सत्त्वकी तुलनामें रजोके अल्पाधिक तारतम्य करके शरीर रूप क्षेत्रका द्वितिय विभाग धर्म्मक्षेत्र-कुरु क्षेत्रको भी अर्थात् साधनमार्ग-षट्चक्रको भी दो अंश करके विभाग किया जा सक्ता है; क्योंकि मूलाधार से मणिपुर पर्य्यन्त रजो अर्थात् चंचलता (कर्म्म) अधिक कह करके इसको 'कुरुक्षेत्र' (कर्मक्षेत्र), और मणिपुरसे आज्ञापर्यन्त सत्व अर्थात् स्थिर प्रकाश (धर्म) अधिक कह करके इसको 'धर्मक्षेत्र' कहा जा सक्ता है। इसलिये मणिपुरके नीचे कर्म्मकी प्रधानता हेतु कार्य्यविस्तार, और ऊपरमें धर्म्मकी प्रधानता हेतु मूलकारणमें कार्य्यका लय लक्ष्य करा दिया गया है ॥१४॥ १५ ॥

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

अन्वयः। हे पार्थ! यः इह एवं प्रवर्त्तितं चक्रं न अनुवर्त्तयति

(न अनुतिष्ठति), सः अघायुः (पापजीवनः) इन्द्रियारामः (इन्द्रियपरायणः) मोघं (व्यर्थं) जीवति ॥ १६ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! जो यहां इस प्रकार प्रवर्त्तित चक्रका अनुवर्त्तन नहीं करता है, वह अघायु, इन्द्रियाराम—तथा वृथाजीवनधारी होता है ॥ १६ ॥

व्याख्या । यह जो चक्र प्रवर्त्तित हुआ है—प्रथम * आज्ञा, द्वितीय विशुद्ध, तृतीय अनाहत, चतुर्थ मणिपुर, पञ्चम स्वाधिष्ठान, तथा षष्ठ मूलाधार—इन सबके पिछाड़ीवाला पहलेसे उत्पन्न है; चैतन्य भी वैसे पहलेसे दूसरेमें उतर आते आते सर्वशेष मूलाधार से निकल बाहर आके भूत सज लिये हैं । उसको सत् सत्त्वामें पुनश्च पहुंचाना हो तो जिस रास्ताको धर कर उतर आकरके भूत साज लिये थे, उसी रास्ता धर करकेही (उल्टी गतिमें) फिरना पड़ेगा, अर्थात् उनको पहले मूलाधारमें प्रवेश करके वहांसे स्वाधिष्ठान, पश्चात् स्वाधिष्ठानसे मणिपुरमें, ऐसे करते करते आज्ञामें आना पड़ेगा । इस उल्टा गतिका नाम अनुवर्त्तन है । यह अनुवर्त्तन जो न करेगा, वह "अघायु" है अर्थात् उसको विषयके भीतर रह करके चंचलताके आलोड़नमें

* सहस्रार रजोविहीन क्षेत्र है, वहां क्रियाविहीन केवल स्थिर प्रकाश वर्त्तमान है । सृष्टि-मखमें आज्ञासे ही प्रथम रजोका विकाश होता है, इसलिये आज्ञा प्रथम है ॥ १६ ॥

आयुक्षय करना पड़ता है, विश्राम-शान्ति वह नहीं पाता;— वह "इन्द्रियाराम" अर्थात् इन्द्रियोंसे उत्पन्न जो अनित्य आराम (रमणासक्ति), उसको ही भोग करता है, आत्माका विमल आनन्द प्राप्त हो करके आत्माराम हो नहीं सक्ता;— और वह "मोघं जीवति" अर्थात् व्यर्थ जीवन धारण करता है; क्योंकि विषय अनित्य है, इस हेतु करके वह जिसको अवलम्बन करता रहता है, वही क्षयको प्राप्त होता है; जिस लिये एकके क्षयमें और एक, उसके क्षयमें और एक, इस प्रकार करके उसको विषयसे विषयान्तरमें दौड़ना पड़ता है; जिसके लिये दौड़ता है, उस अक्षय आनन्द पाता नहीं, अतएव धिक्कार-जीवन वहन करते हुये काल कटाते रहता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥१७॥

अन्वयः । तु (किन्तु) यः मानवः आत्मरतिः एव, आत्मतृप्तः च, आत्मनि एव सन्तुष्टः च स्यात्, तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

अनुवाद । किन्तु जो मानव आत्मामें ही रत हैं तथा आत्मामें ही तृप्त हैं और आत्मामें ही सन्तुष्ट रहते हैं, उनका कार्य्य नहीं रहता ॥१७॥

व्याख्या । कार्य्य किसको कहते हैं ? मन जब इन्द्रियोंके साथ विषयमें जाता है, तब जिस प्रकार प्राण-

प्रवाह बहता है, वही कार्य्य है; और मन जब विषय छोड़ करके आत्माकी तरफ जाता है, तब जिस प्रकार प्राणकी गति होती है, वही कर्म्म है। जो आत्माराम है अर्थात् जो आत्मज्ञानमें मतवाला हो करके जगत्को आत्ममय देखते हैं, उनका विषयज्ञान न रहनेसे, कार्य्य भी रहता नहीं । फिर "तु" शब्दसे समझा देता है कि उनके भेदज्ञान न रहनेसे, चक्र अनुवर्त्तन करनेका भी प्रयोजन नहीं होता * ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

अन्वयः । इह कृतेन (कर्म्मणा) तस्य अर्थः (प्रयोजनं) न एव (अस्ति), अकृतेन (कर्म्मणा) कश्चन (प्रयोजनं) न (अस्ति); सर्वभूतेषु अस्य कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः (पापपुण्यरूपफलभोगः) न च (अस्ति) ॥ १८ ॥

अनुवाद । इहलोकमें उनको कर्म्म करनेका कोई प्रयोजन नहीं, कर्म न करनेका भी कुछ प्रयोजन नहीं; शब्दस्पर्शादि पार्थिव विषय में (विचरण करके भी) उनको किसी प्रकार पाप पुण्यका फल भोगना नहीं पड़ता ॥ १८ ॥

व्याख्या । जो आत्माराम हैं इस जगत्में उनको

* द्वितीय अध्याय ४६ श्लोक देखो । विजानत ब्राह्मण ही "आत्मरतिः," "आत्मतृप्तः" तथा "आत्मनि सन्तुष्टः" हैं ॥ १७॥

कर्म्म तथा अकर्म्मका और प्रयोजन नहीं। साधक नैष्कर्म्म्य-अवस्था की प्राप्तिके लिये कर्म्म करते हैं, फिर आत्मगति पानेके लिये नैष्कर्म्म्य-अवस्थाका प्रयोजन है; परन्तु आत्माराम पुरुषके लिये जगत आत्ममय है; अतएव उनके कर्म्म-अकर्म्म दोनों ही नहीं, सब एक है; परिपूर्णत्व हेतु उनमें अभाव न रहनेसे प्रयोजन भी नहीं है। पांचो भूतमें विचरण करनेसे भी भला बुरा फलमें उनको लिप्त होना नहीं पड़ता क्योंकि, आत्मज्योति करके उनके चित्तके विशुद्ध होकर आत्ममय होजानेसे, जलमें फेंकाहुआ (दधि मथन किया हुआ) नवनीत सरिस, विषयोंके भीतर रहनेसे भी, कोई विषय के साथ मिस खाता नहीं, विशुद्ध ही रहता है ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

अन्वयः। तस्मात् (हेतोः, आत्मारामत्व लाभार्थं) असक्तः (सन्) सततं कार्य्यं कर्म्मं (च) समाचर; हि (यतः) पुरुषः असक्तः (सन्) कर्म्म आचरन् परं (परमं पदं) आप्नोति ॥ १९ ॥

अनुवाद। उसी हेतु (आत्माराम होनेके लिये) सतत अनासक्त हो करके कार्य्य तथा कर्म्मका आचरण करो; कारण असक्त (अनासक्त) हो करके कर्म्म करनेसे पुरुष परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या । आत्माराम होना ही परम पुरुषार्थ है । आत्माराम होनेके लिये, साधकको कार्य्य तथा कर्म्मको* अनासक्त हो करके करना होता है; क्योंकि, निष्कृति पानेके लिये अनासक्ति ही एकमात्र उपाय है । अनासक्त कर्म्मसे ही मुक्ति प्राप्ति होती है † ॥ १९ ॥

कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥

अन्वयः । जनकादयः कर्म्मणा एव हि संसिद्धिं आस्थिताः । लोकसंग्रहं एव अपि संपश्यन् कर्त्तुं अर्हसि ॥ २० ॥

अनुवाद । जनकादि कर्म्मी-गणने कर्म्मसे ही संसिद्धिलाभ किया था; एक मात्र लोक-संग्रहकी तरफ दृष्टि रखके ही तुम्हारा कर्म्म करना उचित है ॥ २० ॥

---

* १७ श्लोकमें कार्य्य एवं कर्म्म कहा हुआ है । कार्य्य बाहरके, कर्म्म भीतरके; कार्य्य स्थूल, कर्म्म सूक्ष्म; कार्य्यके लक्ष्य विषय, कर्म्म के लक्ष्य आत्मा;—यही पृथकता है । कार्य्यद्वारा साधकका शरीर-संस्कार होता है,—जैसे सात्विकी आहार, व्यवहार शौचाचारादि; कर्म्म-द्वारा चित्तका संस्कार होता;—जैसे, विषयमें वैराग्य, आत्मामें प्रीति इत्यादि ॥ १९ ॥

† साधकके मनमें धारणा हो सकती है कि, जब आसक्ति त्याग ही उपदेश है, तब आत्माराम होनेके लिये फिर इच्छा क्यों करना ? वह भी तो आसक्ति है । इसके उत्तरमें श्रीगुरुदेव अष्टावक्र ऋषिके मुखसे

व्याख्या। जन्म देनेवाला ही जनक है। जो प्राणायामादि रूप हल चलाके शरीर रूप क्षेत्रको कर्षण करके सीतारूपा शुद्धमति लाभ करते हैं, वह भी जनक, अर्थात् युञ्जन योगी है। "जनकादयः" अर्थमें समझा देता है कि, पूर्व पूर्व साधकगण, जो लोग शुद्धमति लाभ किये थे; उन सबने कर्म्मसे ही संसिद्धि अर्थात् ब्राह्मी-स्थिति लाभ की थी; उसी कर्म्मको कैसे करना चाहिये, वही बात श्रीगुरुदेव कहते हैं कि, लोक अर्थात् भूलोक से सत्य-लोक पर्य्यन्त सप्तलोक जिसमें संग्रह हो, अर्थात् जिसमें मूलाधारस्थ भूलोक लय होके समेट आय करके स्वाधिष्ठानमें—भूवर्लोकमें मिल करके, पश्चात् भूवः समेट आ करके मणिपुर—स्वर्लोकमें, स्वः अनाहत—महर्लोक में, महः विशुद्ध—जनलोकमें, जन आज्ञा—तपोलोक में, तथा तपः सहस्रार—सत्यलोकमें, इस प्रकार लय योग करके मिलते मिलते एकमात्र सत्य ब्रह्ममें शेष

कहते हैं—"मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज। क्षमार्ज्जवदयातोषसत्यं पीयूषवत् भज॥" प्रवृत्तिकी आसक्ति त्याग करके निवृत्तिमें आसक्त होनेसे, परिशेषमें समस्त आसक्ति मिट जा करके, मुक्तिलाभ होती है; किन्तु प्रवृत्तिमें आसक्त रहनेसे आसक्ति क्षय नहीं होती, बढ़ती जाती है। साधना भी "कण्टकेनैव कण्टकं" इस नीतिके अन्तर्गत है, कर्म्मसे कर्म्म क्षय करना॥ १९॥

होता है । उसी ओर दृष्टि रख करके अति सावधानीके साथ कर्म्म करना होता है * ॥ २० ॥

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

अन्वयः । श्रेष्ठः यद् यद् आचरति इतरः जनः तत् तत् एव (आचरति); सः (श्रेष्ठः) यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तत् अनुवर्त्तते ॥२१॥

अनुवाद । श्रेष्ठ पुरुष जिस जिस प्रकारका आचरण करते रहते है, इतर लोगभी उसीका अनुसरण करते रहते हैं; वो पुरुष जो प्रमाण करते हैं; लोक भी उसीको आदर्श करके मान लेते हैं ॥२१॥

व्याख्या । (इच्छाका लेशमात्र भी मनके भीतर रखनेसे चलेगा नहीं, एकबारगी अनासक्त होना पड़ेगा; इस प्रकार हो तो, लक्ष्य स्थिर रख करके कर्म्म करनेसे इच्छाके प्रयोग बिना कैसे करके लोक संग्रह होवेगा ? वैसे अनुमान किये हुए प्रश्नके उत्तर स्वरूप यह श्लोक कहा गया है ।) जो कुछ उत्पन्न हो जनशब्दके अर्थमें वही आवेगा, अतएव इन्द्रिय तथा इन्द्रियवृत्ति समूह

* एकमात्र प्राणायामसेंही उस लोक समूह संग्रह करनेके लायक दृष्टि स्थिर होती है । (पश्चात् २५ श्लोक देखिये) । जिस प्रकार दृष्टि रख करके क्रिया करना होता है, उसके प्रथम प्रकरण श्री गुरुदेवके पास निर्णय करलेना होता है, पश्चात् क्रिया योगमें निजबोधसे क्रमशः सब मालूम हो जाता है ॥ २० ॥

को बिलकुल उसीके अन्तर्गत जानना । "जन" समूहके भीतर श्रेष्ठ है मन । मन जो सिद्धान्त करता है, अथवा जिस दिशामें जाता है, इन्द्रिय-वृत्ति समूह वही करती है तथा उसी दिशामें जाती है *। अतएव यदि उस मनको क्रम अनुसार मूलाधारसे सहस्रारमें उठालाकर आत्मामें मिला दिया जावे, तो नीचे वाली वृत्ति समूह भी तत्त्वोंके साथ समेट आकरके आत्ममिलनके साथ ही साथ आत्म सत्त्वामें पड़ करके सबही आत्ममय वा ब्रह्म हो जाता है । यह स्वाभाविक नियम है, यह आपही आप होता है, इसके लिये कोई चेष्टा करनी नहीं पड़ती; चेष्टाके भीतर केवल आसक्ति विहीन हो करके प्राण क्रिया करना पड़ता है, यहीमात्र है ॥२१॥

* सब कोई जानते हैं, मन जब जिस विषयमें जाता है उसी विषयकी भोग करने लायक इन्द्रियां तत्क्षणात् उत्तेजित हो उठती हैं; मनमें यदि कोई भय दुःखादिका प्रकाश आवे, दूसरी दूसरी इन्द्रिय तब निस्तेज होय पड़ता है; मन यदि सत् चिन्तामें निमग्न रहे, तो इन्द्रिय समूह भी निर्विकार अवस्थामें रहती है । और प्रतिदिन मनकी अवस्थाभी समान एक रस रहती नहीं; देखने में आता है कि, आज जिसको अति प्रीतिकर अति तृप्तिकर बोध करके भोग करने वाली इन्द्रियोंसे भोग किया जाता है, कल उसीको ही, मनके परिवर्त्तन हेतु उन इन्द्रियोंके लिये और रुचिकर नहीं होता । इससे यह समझा जाता है कि सब इन्द्रिय वृत्ति ही मनकी अनुगामी है ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि ॥२२॥

अन्वयः । हे पार्थ ! त्रिषु लोकेषु (भूर्भूवः स्वः इति त्रिजगतेषु) मे किंचन (किञ्चिदपि) कर्त्तव्यं न अस्ति, अनवाप्तं अवाप्तव्यं न (अस्ति), कर्म्मणि एव च वर्त्ते ॥२२

अनुवाद । हे पार्थ ! तीन लोक के भीतर हमारा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, अप्राप्त तथा प्राप्तव्य भी कुछ नहीं; मात्र कर्म्ममें वर्त्तमान हूं ॥ २२ ॥

व्याख्या । भूः भूवः स्वः इस तीन शब्दमें ही समग्र विश्वको समझाय देता है । यह प्राकृतिक जगत एक आत्मासेही उद्भूत हुआ है इस करके यह समस्तही आत्मामय--एक है; इस कारण करके यहां आत्माके कर्त्तव्य, प्राप्तव्य तथा अप्राप्त कुछ है नहीं ।

जो न करनेसे अपना अनिष्ट होता है, ऐसे कि, अपनेका अस्तित्व पर्य्यन्त रहता नहीं, उसीको ही कर्त्तव्य कहके जानना;--जैसे वैश्वानरमें (पेटके भीतर) प्रतिदिन आहुति न देनेसे जीवन रहता नहीं, इसलिये वो काम मनुष्यके कर्त्तव्य है; इसी प्रकार मानवोंके लिये प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक बहुत कर्त्तव्य हैं, जो न करनेसे रहा जाता ही नहीं । परन्तु परमात्मा सम्बन्ध में इस प्रकारका कर्त्तव्य कुछ नहीं है, रह सक्ता भी नहीं; क्योंकि

जो विश्व "आत्मविनिर्गतं", आत्माके अस्तित्वमें जिसके अस्तित्व, जिसके अस्तित्वमें आत्माका अस्तित्व नहीं है, इस प्रकार विश्वमें आत्माका कर्त्तव्य कैसे करके रहेगा ? अन्नही जीवका आश्रय है, जीव अन्नका आश्रय नहीं है। आश्रय-आश्रित भाव विचार करनेसे देखा जाता है कि, शरीरका आश्रय प्राण, प्राणका आश्रय मन मनका आश्रय जीवात्मा, जीवात्माका आश्रय परमात्मा,--इनहीको उत्तम पुरुष ब्रह्मचैतन्य अन्न कहके जानना। यही परमात्मा रूप जो "मैं"--जो सकलके आश्रय, जिनका आश्रय "कुछ" भी नहीं—उसी "मैं" का कर्त्तव्य नहीं है,—पदार्थके पृथक् सत्त्वा न रहनेसे, अप्राप्त तथा प्राप्तव्य विषय रूप भूत भविष्यत् काल-विभाग नहीं रहता,--कर्म्म-रूपसेही वह सर्वथा वर्त्तमान है। कर्म्मप्रवाहमें जीवोंके लिये भूत भविष्यत् काल विभाग है, परमात्मामें नहीं; कारण यह है कि, जीव स्वल्पज्ञ कह करके एककालदर्शी, आत्मा सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापी बोल करके सर्वत्र वर्त्तमान * है। साधक

* इसको एक उदाहरणसे थोड़ासा समझनेकी चेष्टा की जाती है; यथा;—मट्टी, जल, वायु, मेघ--इन सबके भीतर बाहर सर्वत्र आकाश विद्यमान है। इस आकाशमें विभिन्न रूप धरके जल चक्राकार प्रवाहमें सर्वदा वर्त्तमान है; क्योंकि, सागर, नदी और दूसरे दूसरे जलाशयका जल--निम्नगामी हो के पृथिवीके अन्तरतम

समाधिसाम्यमें उपस्थित हो करके विश्वकोषके ऊपर विशुद्ध "मैं" में परिणत होनेसे प्रत्यक्ष करते हैं कि, वह जो विश्वकोषके भीतर अविशुद्ध अवस्थामें कर्त्तव्य-प्राप्तव्य-अप्राप्त प्रभृति अभाव-ज्ञान करके दौड़ा दौड़ी करते थे, वह केवल भ्रममात्र है; वह साक्षी स्वरूप कर्म्म में वर्त्तमान रहते हैं, इस करके विश्वकर्म्म सम्पन्न

स्थान भिङ्गायके फवारा रूप धरके पुनश्च ऊपरमें उठ आता है, फिर वाष्प होकर वायुमंडलका आश्रय करके ऊपर मेघाकारसे परिणत हो करके वृष्टि रूपसे गलके पृथिवी, नदी, सागर प्रभृतिमें फिर चला आती है; इस प्रकार अनन्त प्रवाह चलताही रहता है, विराम नहीं। एकठो जलकणाके अनुसरण करनेसे देखा जाता है कि, वह जलकणा स्थिर नहीं, चंचल है। जलकणा जब नदीसे आय करके सागरमें वर्त्तमान होता है, तब नदीमें वह अतीत हो जाता है; जब सागरसे वाष्परूप धरके उठके वायुमे वर्त्तमान होता है, तब सागरमें उसका अस्तित्त्व रहता नहीं,-अतीत होय जाता है; शेषमें जब वृष्टिधारा रूपसे पडता है, तब पृथिवीमें वर्त्तमान होता है, और वायु मण्डलमें तब वह अतीत है। उसके इस अनन्त तथा अवश्यम्भावी उत्थान पतनरूप प्रवाहके सन्मुखमें भविष्यत्, और पश्चात् दिशामें अतीत वा भूत, वो जल कणा सागरमें वर्त्तमान होनेसे पृथिवी नदी—पर्वतादियोंके पास अतीत, वायुमार्गमें भविष्यत्; किन्तु आकाशमें वह नित्य वर्त्तमान है। अनन्त आकाशके पास जलकणाके अस्तित्व सम्बन्धमें जैसे काल विभाग नहीं है, उसका अप्राप्ति तथा प्राप्तव्य भाव नहीं है, परमात्मामें तैसे कर्त्तव्य और काल विभाग है नहीं ॥ २२ ॥

होता है, परन्तु अपने कुछ नहीं करते; अज्ञानताके बश करके मायाके प्रेममें मतवाला हो करके अपनेमें (पराया दिया हुआ) कृतित्व ले करके आबद्ध मात्र थे ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

अन्वयः। हे पार्थ ! यदि हि अहं जातु (एकवारमेव) अतन्द्रितः (सन्) कर्म्मणि न वर्त्तेय, (तर्हि) मनुष्याः (मनोवृत्तयः) सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते (आत्मभावं प्राप्नुवन्ति) ॥२३॥

अनुवाद। हे पार्थ ! कदाचित् एक दफे मैं अतन्द्रित हो करके कर्म्ममें न रहूं, तो ऐसा होनेसे मनुष्य सकल सर्व-प्रकारसे हमारे ही पन्थाका अनुवर्त्तन करेगा ॥ २३ ॥

व्याख्या। अब श्रीगुरूदेव साधकको दिखलाते हैं कि, अतन्द्रित * हो करके, अर्थात् विषय-संस्रव परित्याग करके, व्यवसायात्मिका बुद्धियुक्त हो करके, कर्म्मसे पृथक् होनेसे, मनःप्रसूत समुदय वृत्ति की पृथक

* क्रिया करते करते समाधि लाभ होनेके समय मन यदि विषय का अवलम्बन करके निष्क्रिय हो जाय, तो "अतन्द्रित" होना नहीं होता, क्योंकि विषयमें मन रखना ही तन्द्रा, आत्मामें मन रखना ही जागरण है। मन लय होनेके समय "चित्" का अवलम्बन रहनेसे ही अतन्द्रित निष्क्रिय अवस्था होता है ॥ २३ ॥

सत्त्वा एकबारगी उड़ जाके, आत्मा की जो अनन्त विस्तृत निश्चल अवस्था है, उसी अवस्थाकी प्राप्ति होती है; तब–मैंही सब, मैं-नहीं बोलनेके लिये कुछ नहीं है—इस प्रकारका ज्ञान होता है * ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

अन्वयः । चेत् (यदि) अहं कर्म्म न कुर्य्यां, (तर्हि) इमे लोकाः (भूरादयः) उत्सीदेयुः (उत्सन्नाः भवेयुः), अहं च संकरस्य (सर्वमिलनस्य) कर्त्ता स्याम् (भवेयम्), इमाः प्रजाः (प्रकृष्टं जायन्ते इति विभिन्नान्तःकरणवृत्तयः उपहन्याम् (नश्येयम्) ॥ २४ ॥

अनुवाद । यदि मैं कर्म्म न करूं, तो ये सबलोक उत्सन्न होवेगा॥ तथा मैं संकरका कर्त्ता होऊंगा, और ये सब प्रजा नष्ट हो जावेगी ॥२४॥

व्याख्या । अतन्द्रित हो करके कर्म्मके अधिकार पार होनेसे—"पृथ्वी शीर्णा जले मग्ना जलं मग्नं च तेजसि । तेजः वायौ वायुः व्योम्नि *** ॥"—इत्यादि

---

* इस प्रकार होनेका कारण यह है कि, अहंवृत्ति रहनेसे, चुम्बक वर्त्तमान लोहके चंचलता सदृश, भिन्न भिन्न कोषके अवरणमें निज निज पृथक सत्त्वाको स्थिर रखके क्रियाशील होता है; अहंवृत्ति मिट जानेके बाद समुदय क्रिया शेष हो जाती है । (कल्पना करके समझना तथा भाषामें व्यक्त करना ठीक नहीं होता; उस अवस्थाकी प्राप्ति न होनेसे, यथार्थ भाव हृदयंगम नहीं होता) ॥ २३ ॥

लययोगमें तत्त्व समूह शीर्ण होके, एक और एकमें मिल जाते जाते ऊर्द्धस्तरमें उपनीत होता है; तब प्राकृतिक तत्त्व और आत्मतत्त्वका एकत्र मिलन रूप संकर उत्पन्न होता है;--परस्पर विरुद्ध पदार्थोंके एकत्रावस्थान को ही संकर कहते हैं। इस प्रकार संकर होनेसे प्रकृति की सृष्टिमुखी वृत्ति मिट जाके, ब्रह्म-मुखी वृत्ति होनेसे, प्रजा (जो जन्म ले चुकी) अर्थात् जिन समस्त वृत्तिसे सृष्टि-विस्तार होता है, वह सब नष्ट हो जाता है। (इस अवस्था लाभ होनेसे साधक प्रकृतिके ऊपर कर्तृत्त्व कर रहे हैं,-सो अच्छी तरह अपने समझ सक्के हैं, तब उनकी स्वामि उपाधि होती है) ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्य्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

अन्वयः। हे भारत! कर्म्मणि सक्ताः अविद्वांसः (अज्ञाः) यथा कुर्वन्ति, लोकसंग्रहं चिकीर्षुः विद्वान् असक्तः (सन्) तथा कुर्य्यात् ॥२५॥

अनुवाद। हे भारत! अविद्वान लोग कर्म्ममें आसक्त होके जैसे कर्म्म करता रहता है, लोक संग्रह करणेच्छु विद्वान जन भी अनासक्त हो करके वैसेही करेंगे ॥ २५ ॥

व्याख्या। जो लोग जीव-बुद्धिसे चालित होकर केवल अपने इन्द्रिय-सुखको ढूंढ़ते हैं, किन्तु विचार-बुद्धि

का आश्रय न लेनेसे उस सुखके स्वरूपको जान नहीं सके, वही सब अविद्वान हैं; और जो सब लोग विचार बुद्धिका अवलम्बन करके वैराग्यसे विषयानन्दको त्याग करके आत्मानन्द लाभमें यत्न करते हैं, वह सब विद्वान हैं। अविद्वान लोग "धनं देहि, पुत्रं देहि, यशो देहि" इत्यादि वासनामें आसक्त हो करके जिस प्रकार घोर उद्यमके साथ कर्म्म करते हैं, विद्वान जनका भी ठीक उसी प्रकारके उद्यमसे--किन्तु आसक्ति एकबारगी त्याग करके--कर्म्म करना होगा, तब वह लोकसंग्रह कर सकेंगे, अर्थात् मूलाधारादि समुदय स्थानसे वृत्ति समूह को आकर्षण कर लाके लययोगसे सत्यब्रह्ममें स्थिति लाभ कर सकेंगे * ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसंगिनाम् ।
योजयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥२६॥

अन्वयः । अज्ञानां कर्म्मसंगिनाम् बुद्धिभेदं न जनयेत्, (अतः) विद्वान् युक्तः (योगयुक्तः सन्) सर्वकर्म्माणि समाचरन् योजयेत् ॥२६॥

* विचार-बुद्धिका अभाव करके सुखके प्रकृतभाव ज्ञात न होने से अविद्वान् जिस प्रकार आसक्त हो करके कर्म्म करते हैं, उसमें उनको ईश्वरके नामसे विषयोंकी ही आराधना करनी होती है, वह सब कर्म्म फल करके भोगके देवता आकृष्ट होनेसे भोगमें आवद्ध होना पड़ता है, प्रकृत आत्मसुखकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २५ ॥

अनुवाद । विद्वान पुरुष अज्ञ कर्म्मासक्त लोगोंकी बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करेंगे, परन्तु युक्त होकरके (अपने) सर्व कर्म्म सम्यक् प्रकार आचरण करके (उन लोगोंको कर्म्ममें) नियुक्त करेंगे * ॥२६॥

व्याख्या । कूटस्थके ठीक केन्द्रमें (बीचमें) दृष्टिपात करनेसे एक छिद्र लक्ष्य होता है, उसको भ्रामरी गुहा कहा जाता है । उस गुहाका मुख उज्वल कृष्णवर्ण है, परन्तु उसके चारो ओर उज्वल छटा विशिष्ट ज्योतिसे आवृत और आवरण तथा विक्षेप रूपा दो महाशक्तिसे रक्षित है; वहां दृष्टि देनेसे ही छिटकाय फेंक देता है, नहीं तो परदासे झांपना सरिस झांप देता है । ब्रह्मचर्य्य, सात्त्विक आहार व्यवहार, विषय-भोगाकांक्षा त्याग, दृढ़ सहिष्णुता, एवं प्राणक्रिया—इन सकलका अभ्याससे शरीरमें शान्त तेजका वृद्धि होनेसे

* इस श्लोकका यही साधरण अनुवाद है परन्तु इस श्लोकमें साधक किस प्रकार कर्म्मानुष्ठान करके बुद्धिभेद करेंगे, इसका उपदेश रहनेसे, केवलमात्र कर्मासक्त होनेसे क्या होता है तथा युक्त (अना-सक्त) होनेसे भी क्या होता है, वही यहां दिखाया गया है । साधक किस रीतिसे अपने चलेंगे, उसीका उपदेश प्रयोजन, वैसे करके दूसरेको चलावेंगे उसका उपदेश प्रयोजन हैं नहीं; इसलिये क्रियाके प्रति लक्ष्य रख करके, इस श्लोकका—अज्ञ कर्मासक्त पुरुषोंके बुद्धि भेद जन्मता नहीं, इस कारण विद्वान युक्त (अनासक्त) होकरके सर्वकर्म समूह समाचरण पूर्वक योजना करेंगे—इस प्रकार अर्थ धर लेकरके व्याख्या किया गया ॥ २६ ॥

भ्रूमध्यमें आकाशभेदी एक दृक्शक्ति उत्पन्न होता है, वह शक्ति आवरण तथा विक्षेप शक्तिसे आवृत विक्षिप्त होती नहीं। तब गुहामुखमें दृष्टिपात करनेसेही गुहाके मुख सुविस्तृत हो करके अभ्यन्तर दृष्टि गोचर होता है,—धर्म्मका तत्त्व भी जाना जाता है। इसलिये शास्त्र-बचन है कि "धर्म्मस्य तत्वं निहितं गुहायां"। अब वो आवरण-विक्षेप भेद होना ही है "बुद्धिभेद"* कारण यह है कि, बुद्धिक्षेत्रके ऊपर उठके बुद्धिके ऊंचेमें स्थिर हो जानेसे ही ऐसा होता है। यह बुद्धि भेद अज्ञ तथा कर्म्मासक्तोंको नहीं होती, क्योंकि, प्रथमतः अज्ञ (मूर्ख) उसपर फिर आसक्ति रहनेसे विषय की खिंचाई इतनी अधिक होती है कि, उस गुहाके निकट पहुंचना भी नहीं होता, विक्षेपको जय करना तो बहुत दूरकी बात है। इस कारण करके विद्वान मनुष्य युक्त हो के अर्थात् आसक्ति त्याग पूर्वक कूटस्थमें लक्ष्य स्थिर करके, सर्वकर्म्म समाचरणसे योजना करेंगे, तो बुद्धिभेद हो जावेगा। क्षिति, अप तेज, मरुत्, व्योम— इन सकलका नाम सर्व है। रेचक-पूरक करनेमें उन सकलमें जो एक एक प्राणका टक्कर मारना पड़ता है,

* २य अः ४० श्लोकके 'बुद्धियुक्त' और इस श्लोकके 'बुद्धिभेद' कार्य्यतः एक ही है ॥ २६ ॥

यही एक एक कर्म्म है। वह कर्म्म ब्रह्मनाड़ीका अवलम्बन कर रहके करना होता है, चक्रके संस्पर्शके भीतर जाना न चाहिये, इस प्रकार करनेसे ही समाचरण करना होता है। जब प्राणविन्याससे प्रति चक्रकी शक्ति प्रबुद्ध हो उठती है तथा भीतरमें अपूर्व ज्योति-विकाश होता है, तब प्रति चक्रसे प्राणक्रियाको उठालाके एकट्ठा करके मूर्द्धामें "भ्रुवोर्मध्ये" स्थापन करके * शाम्भवीका प्रयोग करने होता है। इसीका नाम सर्व कर्म्म समाचरण से योजना करना है। इस प्रकारसे प्राणकर्म्मको उठालाके आज्ञामें धारण करनेसे मन प्राण एक होता है, अतएव मन और नीचे उतरता नहीं, लक्ष्य कूटस्थ में लग करके अटक रहता है; तब अन्तराकाश सहस्रगुण करके ज्योतिर्म्मय होता है, * सुवर्णाच्छादित भ्रामरी दृष्टि गोचर होता है, उसके आवरण-विक्षेपरूपा दोनों शक्तिभी आपही आप निस्तेज हो जाती है; और उस आवरण-विक्षेप के नाशसे ही धर्म्मके तत्त्व प्रत्यक्ष हो पड़ते हैं ॥२६॥

* योनिमुद्रासे भी उसी प्रकार होता है, किन्तु वह अचिरस्थायी है। परन्तु पहले पहले योनिमुद्राके अभ्यास सेही उस पथ में लक्ष्य सुगम होता है ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

अन्वयः । प्रकृतेः गुणैः (इन्द्रियादिभिः) कर्म्माणि सर्वशः क्रियमाणानि, (किन्तु) अहंकारविमूढ़ात्मा (जनाः) "अहं कर्त्ता" इति मन्यते ॥ २७ ॥

अनुवाद । प्रकृतिके गुणसे सर्वतोभावमें कर्म्म सकल सम्पन्न हो रहा है, किन्तु जिन लोगोंका चित्त अहंकारसे विमूढ़ हुआ है, वह सब लोग मनमें समझते हैं कि "मैं कर्त्ता" हूं ॥ २७ ॥

व्याख्या । शरीरके भीतर एक एक वृत्ति-साधक एक एक पृथक् यन्त्र है । जैसे चक्षु, कर्ण, नासिका, प्रभृति बाहरके वृत्ति-साधनका यन्त्र, वैसेही मस्तिष्क अन्तरके वृत्ति-साधनका यन्त्र है । अन्तर्वृत्तिके भीतर मनोज वृत्ति एकशत, तथा बुद्धिज वृत्ति छ प्रकार का है । इन सब वृत्तियोंके भीतर किसी किसीका नाम है,—राग, द्वेष, हिंसा; ईर्षा, घृणा, शंका; काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता; हर्ष, लज्जा, भय; दम्भ, दर्प, अभिमान; दया, माया, ममता; चिन्ता, शोक, परिताप; शम, दम, तप, क्षमा, तितिक्षा, उपरति; दान, ध्यान, जप; स्मृति, मेधा, धृति; तुष्टि, पुष्टि, स्वस्ति; विवेक, वैराग्य, ज्ञान; सुख, दुःख; इच्छा, आशा; वासना, विलास; अहंकार,

अमायिकता; विनय, सौजन्य; गाम्भीर्य्य, औदार्य्य; साहस, पराक्रम; स्नेह, भक्ति इत्यादि ।

मस्तिष्क वा मगज़ एक विचित्र पदार्थ है । सृष्टि-कर्त्ताकी ऐसेही कृतित्व है कि, एकही उपादानसे गठित होनेसे भी इसके आकार आयतन और अंशके तारतम्य भेद करके तथा कुञ्चन और सिधा टेढीके अल्पाधिक अनुसार करके यह भिन्न भिन्न वृत्तिकी क्रियाओंका आधार वा यन्त्र है । इस मगजके गठन भेदसे ही मनुष्य भला और बुरा होता है । जिसके मस्तकमें जितना अधिक यन्त्र है, उसमें उतने प्रकारकी क्रिया-शक्ति है; फिर प्रति यन्त्रके अंगके सौष्ठव वा असौष्ठव हेतु करके शक्तिकी भी तीक्ष्णता वा क्षीणता होती है । उन सब यन्त्रके सहारासेही "मैं"-वाचक पदार्थ वा आत्मा क्रिया करते हैं; जिसलिये यन्त्र न रहनेसे आत्मा कोई काम काज कर नहीं सक्ता । जैसे आंख, कान प्रभृति बिकल होनेसे वा न रहनेसे, देखने सुनने पाया जाता नहीं; तैसे मस्तिष्कमें स्नायु मण्डलीके कोई अंश विकृत होनेसे किम्वा न रहनेसे, उन उन स्नायु वा यन्त्र-साधन वृत्तियोंका भी स्फुरण नहीं होता । यथार्थतः जो कुछ क्रिया है, वह समस्त शारीरिक यन्त्र वा प्राकृतिक गुणके सहारासे ही होता है, आत्मा नहीं करता । परन्तु आत्माके अस्तित्व हेतुही ये सब कार्य्यकरी होती है ।

और भी शरीरमें जब जिस गुणकी अधिकता होता है, इन्द्रिय सब भी उसी गुणके वश हो करके क्रिया करती हैं; उस समय किसी प्रकारसे दूसरे गुणकी क्रिया की नहीं जाती । साधक असाधक सबकोई जानते है, कि मनमें यदि कोई शोक दुःख उपस्थित हो, तो उस समय कोई काम काज तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निष्पत्ति नहीं होता; शरीर मन अवश अभिभूत हो जाता है । जिस समय उत्साहके साथ शौर्य्य-वीर्य्य अवलम्बित होता है, तब शोक दुःखके बात वा कारण तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विचार मनमें जगह नहीं पाता,—युद्ध कालमें योद्धाकी अवस्था ठीक इसी प्रकारकी है । फिर जब सत्‌चिन्तामें मन निविष्ट होता है, तब पार्थिव शोक, दुःख, माया, ममता, उन्नतिकी आशा तथा चेष्टा प्रभृति अति हेय करके ज्ञान होता है । असल बात यह है कि, जब तक कोई एक भाव करके मन अभिभूत रहता है, तब तक स्वतः चेष्टा करके भी उसको दूसरी ओर फिराया नहीं जाता । फिर देखा जाता है कि , मनके इच्छाके आपूरण करना, कितने समय शरीरके सामर्थ्य-चेष्टामें भी अंटता नहीं, और किये हुये कामसे मन माफिक फलभी नहीं मिलता ।

ये सब देखके अच्छी तरह समझमें आता है कि, क्रिया-विषयमें प्रकृतिका ही प्राधान्य है, 'मैं' का प्राधान्य

नहीं है । तिसपर भी अहंकारकी इतनी शक्ति है कि, "मैं कर्त्ता" इस प्रकार भाव मनमें आपही आप उठ आता है ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अन्वयः । तु (किन्तु) हे महाबाहो ! गुणकर्म्मविभागयोः (गुणेभ्यः आत्मनः विभागः कर्म्मभ्यश्च आत्मनः विभागः एतयोः) तत्त्ववित् (स्वरूपवेत्ता) गुणाः (इन्द्रियाणि) गुणेषु (विषयेषु) वर्त्तन्ते (न तु अहं) इति मत्वा न सज्जते (कर्त्तृत्वाभिनिवेशं न करोति) ॥ २८ ॥

अनुवाद । हे महाबाहो ! गुणसे आत्माका विभाग तथा कर्म्मसे आत्माका विभाग इन दोनोंके तत्वको जो जानते हैं, वह "इन्द्रियां विषयमें प्रवृत्त होती है (मैं नहीं होता)" इस प्रकार ज्ञानसे कर्तृत्वाभिमान नहीं करते ॥ २८ ॥

व्याख्या । साधनामें आत्मक्रियाकी उन्नति होनेसे, गुण कर्म्म और आत्मा, इन सबकी पृथक् पृथक् सत्त तथा क्रियाकी उपलब्धि होती है, तथा बुद्धिभेद करके विशुद्ध अहंवृत्ति खिल उठती है; तब केवल विषयेन्द्रिय-संयोगके फल करके शरीरके क्रिया आपही आप सम्पन्न होती रहती है, "मैं करता हूं" ऐसा भाव आता ही नहीं ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

अन्वयः । (ये जनाः) प्रकृतेः गुणसंमूढाः (सत्त्वादिभिः विभ्रान्ताः, देहादिषु अभिमानविशिष्टाः इत्यर्थः) गुणकर्म्मसु (शब्दस्पर्शादि-व्यापारेषु) सज्जन्ते (कर्त्तृत्वाभिमानं कुर्वन्ति), अकृत्स्नविदः तान् मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत् ॥ २९ ॥

अनुवाद । देहादिमें अभिमान विशिष्ट जो सब लोग शब्द स्पर्शा॰दिकी क्रियामें कर्त्तृत्वाभिमान करते हैं, वह सब अकृत्स्नवित् तथा मन्द हैं । कृत्स्नवित् (सर्ववेत्ता) उन सबकी विचालना करते नहीं ॥२९॥

व्याख्या । जो कृत्स्न (ब्रह्माण्ड) को जानते हैं, वह कृत्स्नवित्—ईश्वर (कूटस्थ चैतन्य) हैं, और अकृत्स्नवित्—जीव * हैं । जो जीव मन्द अर्थात् अलस—उद्यम विहीन है, वह अगर देहाभिमानी होकरके शब्द-स्पर्शादि विषय-भोगमें रत हो, तो ईश्वर उसकी विचालना नहीं करता, अर्थात् "मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्त्ता" ईश्वर—कूटस्थपुरुष—उसे टालता नहीं, चिज्ज्योतिके विकाशसे भीतरका अंधियारा दूर कराके पथ देखा नहीं

* अविद्याके वश करके जो आत्मविस्मृत हैं, जो इस शरीरके अध्यक्ष हैं, जो प्राणसमूहके धारयिता हैं, जो चेतन नाम पा करके भी स्वल्पज्ञ हैं वही पुरुष जीव हैं ॥ २९ ॥

देते; वह अपनेको चालना करके चलते चलते विषयके भीतर चक्कर खाता रहता है *॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्म्ममोभूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अन्वयः। मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा निराशीः निर्म्ममः भूत्वा विगतज्वरः (सन्) युद्धस्व ॥ ३०॥

अनुवाद। मेरे ऊपर सर्व कर्म्म अर्पण करके, आत्मामें मन रखके आशाममता शून्य होके शोक त्याग पूर्वक युद्ध करो ॥ ३० ॥

व्याख्या। जब चित्त एकमात्र आत्मा छोड़ करके और किसीकी चिन्ता न करेगा, तब ही अध्यात्मचित्त होवेगा। मनही मनमें आयत † स्वरमें आत्म-मन्त्र उच्चा-

* जब तक कर्त्तृत्व रहता है, ईश्वरमें आत्मसमर्पण न हो, तब तक ईश्वर बोझ उठाते नहीं; जब आत्मसमर्पण हो गये, तत्क्षणात् प्रभु भार ले लेते हैं। दृष्टान्त है कि कुरुसभा स्थलमें वस्त्र हरण समयमें द्रौपदी जबतक वस्त्र पकड़ रख करके श्रीकृष्ण महाराज को बोलाती थी, तबतक कृष्णजी उपस्थित नहीं हुये; जिस वक्त उसने वस्त्र छोड़ देकरके ऊर्द्धबाहु हो करके श्रीकृष्णमें सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करदिया, उसी वक्त श्रीकृष्णने अन्तरीक्षमें दर्शन दे के वस्त्ररूपी हो करके उसकी (द्रौपदीकी) रक्षा की थी ॥ २९ ॥

† एक, दो, तीन, चार, पांच, गिननेमें जितना समय लगता है, एक अकम्पन आत्ममन्त्र उतना समय लेके उच्चारण करनेसे आयत स्वर में उच्चारण होता है ॥ ३० ॥

रण करनेसे, तथा कर्णको उसी मन ही मनमें उच्चारित शब्दमें एकाग्र करके अर्पण करनेसे, आत्मचिन्ता करनी होती है, तब और कोई विषय मनमें स्थान नहीं पाता।

साधन-समर-क्षेत्रमें ममताके वश विषादग्रस्त शिष्य को आत्मस्वरूप, सांख्ययोग, वेद, ज्ञान, तथा ब्राह्मी-स्थिति--इन सबको एक एक करके समझाय देके कर्म्म करनेका प्रयोजन दिखलाके उसी कर्म्म करनेके उपाय समूहको शिष्यके मनमें बद्धमूल करदेनेके लिये, इस एकमात्र श्लोकमें संबद्ध किया है। सो उपाय समूह ये हैं-

(१) "मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्य"--कर्म्म "हम" हीमें अर्पण करना पड़ता है। "हे नाथ! यह मैं क्रियामें प्रवृत्त हुआ हूं, परन्तु किस प्रकारसे प्राणचालन और मन्त्र उच्चारण करना होता है, इसका रहस्य कुछ समझता नहीं, जानता भी नहीं; तुम दया करके जो करनेको है, वह मुझसे करालो"। इसी प्रकारसे मनका अभिमान त्याग करके, मनमें कर्त्तृत्व न रखके प्राण की स्वाभाविक गतिका आश्रय करके, गुरूपदेश जैसे समझा हुआ है, उसी तरहसे सुषुम्ना-मार्गमें प्राणन्यास करना चाहिये ऐसा होनेसे ही "हममें कर्म्म सन्यास होता है।

(२) "निराशीः"।—साधारणतः मनुष्य दिनकी

श्रान्ति दूर करनेके लिये जैसे सब चिन्ता छोड़ करके रात्रिमें निद्राके लिये तैयार होते हैं,--मनमें सचेष्ट चिन्ता कुछ भी रहती नहीं, रखते भी नहीं; क्रियाके पूर्वमें ठीक उसी प्रकार मनको विषय-चिन्तासे रहित करके क्रिया में प्रवृत्त होनेसे ही "निराशी" हुआ जाता है।

(३) "निर्म्ममः" ।—"मेरे" कहनेको कुछ नहीं, "मैं" ही "मैं"--इस प्रकार दृढ़ धारणासे निर्म्ममत्व आता है।

(४) "विगतज्वरः" ।—क्रियाकालमें "और नहीं सकता हूं—अब थोड़ासा दम ले लूं; फलाना चीज वा फलाना काम थोड़ा करलूं, पश्चात् क्रिया करेंगे"—इत्यादि प्रकार अलसता तथा कातरताका त्याग करके अर्थात् किसी प्रकारका सन्ताप अन्तःकरणमें न ले करके जो अवस्थान है—उसीको विगतज्वर कहते हैं।

(५) "अध्यात्मचेता"--मनको कूटस्थमें बद्ध करके तत्पदका भावना और अर्थके साथ आत्ममन्त्रका उच्चारण करनेसे ही अध्यात्मचेता हुआ जाता है।

उस प्रकार अवस्थापन्न होके अर्थात् उन सब अस्त्रों से सज्जित होके साधन-समरमें युद्ध करना होता है (प्रवृत्त होना पड़ता है) ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः॥३१॥

अन्वयः । ये मानवाः श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः (सन्तः) मे इदं मतं नित्यं अनुतिष्ठन्ति (अनुवर्त्तन्ते) ते अपि कर्म्मभिः मुच्यन्ते ॥ ३१ ॥

अनुवाद । जो सब मनुष्य श्रद्धावान् तथा असूयाविहीन हो करके हमारे इस मतका नित्य अनुष्ठान करते हैं, वही सब मानव सकल कर्म्म से मुक्त होते हैं ॥ ३१ ॥

व्याख्या । गुरु वेदान्त-वाक्यमें विश्वास और बाधा-शून्य होकरके उसके अनुष्ठानमें रत रहनेका नाम श्रद्धा, और परगुणमें दोष न देखनेका नाम असूया-विहीनता है। जो पुरुष गुरूपदिष्ट क्रियामें किसी प्रकारका दोष नहीं देखते हैं, अर्थात् "गुरुदेव मुझको यह कैसे काम काजमें लगाते हैं, यह कुछ नहीं है" इस प्रकारकी चिन्ता नहीं रखते हैं, परन्तु गुरुवाक्यमें अटल विश्वास स्थापन करके क्रियामें प्रवृत्त होते हैं, और दिन पर दिन यथा नियम क्रम अनुसार क्रिया करते जाते हैं, दूसरे किसी कार्य्यको उपलक्ष्य करके वा आलस्य करके किसी दिन क्रिया समयमें आगा पीछा नहीं करते अथवा विरत नहीं होते, वही सब साधक कर्म्म द्वारा कर्म्मबन्धनसे मुक्ति पाते हैं, दूसरे नहीं पाते । (नीचेका श्लोक देखो) ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढ़ांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२॥

अन्वयः । ये तु मे एतत् मतम् अभ्यसूयन्तः (निन्दन्तः सन्तः) न अनुतिष्ठन्ति, अचेतसः (विवकशून्यान्) तान् सर्वज्ञानविमूढ़ान् नष्टान् विद्धि ॥ ३२ ॥

अनुवाद । किन्तु जो सब मनुष्य असूयायुक्त होकरके मेरे इस मताका अनुष्ठान नहीं करते हैं, उन सबको विवेक शून्य सर्वज्ञान-विमूढ़ तथा नष्ट (विनाश प्राप्त) कह करके जानना ॥ ३२ ॥

व्याख्या। जो सब मनुष्य पूर्व श्लोक के मतानुसार श्रद्धावान, असूयाविहीन तथा नित्य क्रियाशील नहीं हैं, (जो मनुष्य यथानियम से प्रतिदिन क्रिया नहीं करते, पराये गुणमें दोष देते हैं, अपनी बड़ाई करते हैं, गुरूपदेशके अनुष्ठानमें उत्साह नहीं करते), वह सब "अचेतसः"—विवेकशून्य, अर्थात् वह सब मूढजना तत्व समूह का ज्ञानलाभ नहीं कर सक्ते; अतएव मुक्ति तो दूर की बात है, वह सब " सर्वज्ञानविमूढ़ " अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन सब विषयोंके ज्ञानमें विमूढ़ (आत्मज्ञानहारा विषयमतवाले) हो करके नष्ट होते हैं, अर्थात् संसारावर्त्तमें पड़ करके अचेतन सरिस चक्कर खाते रहते हैं, जानना । (अतएव साधक ! तुम

अति सावधानीके साथ तथा यतनके साथ आत्मक्रिया में रत होना) ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

अन्वयः । ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते, भूतानि प्रकृतिं यान्ति, निग्रहः किं करिष्यति । (प्रकृतिः यथा चेष्टते ज्ञानवान् तथा एव चेष्टते इति अपिशब्दार्थः) ॥ ३३ ॥

अनुवाद । ज्ञानवान भी अपनी प्रकृतिके अनुरूप चेष्टा करते हैं। भूत सकल प्रकृतिमें जाते हैं, निग्रह करेगा क्या ? ॥ ३३ ॥

व्याख्या । "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"— सत्त्व, रजः, तमः इन तीन गुणोंके साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है । इस साम्यावस्थाके भंग हो जानेसे प्रकृति "परा" तथा "अपरा" इन दो अंशमें विभक्ता हो करके क्रियाशीला होती है । "अपरा" भूमि, आप, अनल, वायु, खं, मन, बुद्धि और अहंकार—इन आठ प्रकारके हैं; "परा"—जीवभूता प्राणरूपा जगद्धात्री हैं; इनको अक्षर पुरुष कह करके भी किसी किसी जगहमें सम्बोधन किया गया । ये सब ही यन्त्र स्वरूप, चैतन्य सहयोग सेही क्रियायुक्त होती है । इन सबको प्राप्त हो करके ही "ममैवांशः" जीव बनते हैं ॥

यह जीव जब परिपूर्ण होनेके लिये व्रती होते हैं, तब वह ज्ञानवान संज्ञा ले करके अपनी प्रकृतिके सदृश ही चेष्टा करते हैं, अर्थात् क्रियाशीला प्रकृति जीवको अपनी अधीनतामें रखनेके लिये सतत जिस प्रकारकी चेष्टा करती है, ज्ञानवान भी प्रकृतिको वश करनेके लिये ठीक उसी प्रकार चेष्टा करते हैं, अर्थात् "यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरं । ततस्ततो नियम्यैतत् आत्मन्येव वशं नयेत् ।" इस नियमके अनुसार आत्मक्रिया में रत रहते हैं। वैसी चेष्टा करनेसे, भूत सकल प्रकृतिमें जाता है, अर्थात् इन्द्रिय सकल साम्यावस्थाको प्राप्त होती हैं । यह आपही आप होता है, निग्रह करना नहीं होता (फिर निग्रह करनेसे भी नहीं होता) । जीवके परम शिवमें अटक रहनेसे, चेतना भी उसी स्थानमें सिमट आती है, शरीरमें नहीं रहती; इस करके इन्द्रिय सकल निष्क्रिय होती हैं ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अन्वयः । इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ; तयोः (रागद्वेषयोः) वशं न आगच्छेत्, हि (यतः) तौ अस्य (मुमुक्षोः) परिपन्थिनौ (विघ्नौ) ॥ ३४ ॥

अनुवाद । शब्दस्पर्शादि अर्थमें प्रत्येक इन्द्रियोंका राग (अनुराग) तथा द्वेष है; वह राग द्वेषके वशमें नहीं आता, क्योंकि राग द्वेष मुमुक्षुके प्रतिरोधक अर्थात् विघ्न स्वरूप हैं ॥ ३४ ॥

व्याख्या । प्रथम प्रथम प्रतिदिन क्रियामें समान सुविस्ता नहीं होता । कोई कोई दिन हो तो "श्रवण, मनन, कीर्त्तन, दर्शन" आदि होता हीं नहीं । कोई कोई दिन एक हुआ, और एक नहीं हुआ । इस प्रकार होनेसे राग द्वेष प्रकाश पाता है, अर्थात् क्रिया भलीभांति होनेसे क्रियाके प्रति अनुराग, न होनेसे क्रियाके प्रति विद्वेष होता है; किन्तु उस प्रकार राग द्वेषके वशमें आनेसे प्रकृति वश नहीं होता, ऐसा न होनेसे मुक्ति भी नहीं होता । उस सुविधा तथा असुविधामें अनुरक्त वा विरक्त न होके कर्त्तव्य पालन करनेसे जो आत्मप्रीति होती है वही मात्र लेके श्रीगुरुदेवके ऊपर निर्भर करनेसे, कभी प्राकृतिक चंचलता तथा वातपित्त कफादियोंके प्रकोप करके कोई विघ्न भी विघ्नकर नहीं होता ॥३४॥

श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ॥३५॥

अन्वयः । स्वनुष्ठितात् (साद्गुण्येन सम्पादितात्) परधर्म्मात् (सकाशात्) विगुणः स्वधर्म्मः श्रेयान् । स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मः भयावहः ॥ ३५ ॥

अनुवाद । सु-अनुष्ठित पर धर्म्मसे विगुण स्वधर्म्म श्रेयस्कर है। स्वधर्म्ममें निधन (मरना) श्रेयः, परधर्म्मको भयावह जानो ॥ ३५ ॥

व्याख्या । शरीरमें "मैं"—वाचक पदार्थ जो है, वही "स्व," और 'मेरा'-वाचक जो है वही "पर" है। 'मैं' कहनेसे आत्माको समझा जाता है, इसलिये आत्मा "स्व"। मेरा कहनेसे त्रिगुणमय चतुर्विंशति तत्त्वको समझा जाता है, इस कारण करके वह सबही "पर" है। आत्मा किस प्रकार ?*—"सच्चिदानन्दस्वरूपः" है। तीन कालमें जो समान रहते हैं, वही 'सत्', ज्ञान स्वरूप 'चित्' और सुखस्वरूप 'आनन्द' हैं। चौबीस तत्त्व किस प्रकार है ?—अर्थात् "असन्मयः, तामसः नित्यं विकारवान्" अर्थात् असत्य, परिणामी, अज्ञानता-मय, और सतत विकारशील है। जो जैसा है, उसीकी वह अवस्था ही उसका धर्म्म है। अतएव स्वधर्म्म कहने से समझाता है कि—नित्यस्थायी ज्ञानमय सुखावस्था। परधर्म्म कहनेसे समझाता है कि—परिवर्त्तनशील अज्ञान अवस्था।

तीन गुणके साम्यावस्थामें निष्क्रियताके लिये आत्मधर्म्म विगुण (वि=विगत, गुण) है; और तीन गुण की विषमतामें सर्वकर्म्म सम्पन्न होते रहनेसे पर-

* "आत्मा शुद्ध स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः ॥ ३५ ॥

धर्म्म सु-अनुष्ठित है। साम्यही संसार-मोचन है, वैषम्यही संसार-बन्धन है; इसीलिये विगुण स्वधर्म्म सु-अनुष्ठित पर धर्म्मसे श्रेयः है । (निरन्तर निस्त्रैगुण्य अवस्थामें रह सक्ते नहीं इस करके, निस्त्रैगुण्य अवस्थामें रहनेके लिये साधना अभ्यास का कष्ट सहनाभी अच्छा है, तथापि प्राकृतिक धर्म्म प्रवाहमें शरीर डाल करके अज्ञानता को सुख मानके मुर्दा सरिस बहते चला जाना अच्छा नहीं)।

शरीर धारण करनेसे ही शरीर त्याग वा निधन (मृत्यु) अनिवार्य्य है। वह निधन आत्मधर्म्ममें रह करके होनेसे सच्चिदानन्द अवस्थाकी प्राप्ति होती है, इसलिये वह श्रेयः है, और यदि परधर्म्ममें रह करके मृत्यु हो तो, लक्ष्य भ्रष्ट हो करके संसार वाले अज्ञानान्धकार में जन्म मृत्युके प्रवाहमें पड़ करके चक्कर खाना पड़ता है, इसलिये उसे भयावह जानो ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे वार्ष्णेय ! अयं पुरुषः (देही) अनिच्छन् अपि केन प्रयुक्तः (सन्) बलात् नियोजितः इव पापं चरति ? ॥ ३६ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं । हे वार्ष्णेय ! इच्छा न करने सेभी, बल पूर्वक नियोजित जैसे, यह पुरुष किसके द्वारा प्रयुक्त होके पापाचरण करते रहते हैं ॥ ३६ ॥

व्याख्या । क्रियावान साधक अच्छी तरह समझते हैं कि ३० तथा ३३ श्लोकके उपदेश अनुसार क्रिया करनेसे ही स्थिर भाव आता है, जगत्‌को भूल जाया जा सक्ता है, आत्मगतिकी प्राप्ति होती है; किन्तु क्रियाकालमें देखते हैं कि—क्रिया होती है, अच्छी तरह होती है, लक्ष्य कूटस्थमें अच्छा रहा है, उसे छोड़ करके दूसरी तरफ लक्ष्य देनेमें ज़रासी भी इच्छा नहीं; इच्छा न रहनेसे भी क्या जाने किस अनजान शक्तिसे जबरदस्ती मनको दूसरी तरफ लेजाके लक्ष्य-भ्रष्ट कराके नाना प्रकार चंचलतामें फेंकती है । इसलिये आत्म-जिज्ञासामें अनुसन्धान करते हैं कि, ऐसा क्यों होता है, इसका कारण क्या है ? (वार्ष्णेय शब्दके अर्थ १० म अः ३७ वां श्लोकमें देखो) ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । एषः रजोगुणसमुद्भवः महाशनः

(दुष्पूरः) महापाप्मा (अत्युग्रः) कामः, एष क्रोधः; एनं (कामं) इह (अत्र योगमार्गे) वैरिणं विद्धि ॥ ३७ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान कहते हैं । यह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ दुष्पूरणीय अत्युग्र काम—यह क्रोध है, यहां (मोक्षमार्गमें) इसको बैरी (शत्रु) कहके जानो ॥ ३७ ॥

व्याख्या । साधक आत्मानुसन्धानमें जानते हैं कि काम ही इसका कारण है । कुछ किसीको लेने पाने की इच्छा जैसे काम है, तैसे ही न लेनेकी तथा त्याग करनेकी इच्छा भी काम है । यह काम आज्ञा-मूलाधार-विस्तृत रजोगुणसे प्रकाशित होता है; क्योंकि आकांक्षा ही रजोगुणकी क्रिया * है । प्राणायाम करते करते जबतक मन ब्रह्मनाड़ी होकर आज्ञामें प्रवेश नहीं करता है, तबतक उस आकांक्षा और विषयका आकर्षण रहता है, मनको खींच लेनेकी चेष्टा करते हैं, ऐसे कि अनजान भावसे ले भी लेते हैं । यदि वो खींचाई इच्छाके अनुकूल हो, तो काम आनन्दमें परिणत होता है; और यदि प्रतिकूल हो तो, आक्रोश रूप से दिखाई देता है । वस्तुतः आनन्द और आक्रोश काम हीके दो प्रकारके परिणाम-फल हैं । यह दोनों प्रकारके फल कार्य्यतः एकही हैं, क्योंकि दोनोंही

* सत्वकी क्रिया—तृप्ति (प्रकाश), तमोकी क्रिया—स्थिति ॥३७॥

मनको विषयमें आबद्ध करते हैं। परन्तु आक्रोश की अनिष्टकरी शक्ति अधिक कह करके उसके ऊपर जोर लगाके, क्रोधनामसे कहा हुआ है। यह काम मनको मोहित करके आत्महारा, दिशाहारा करके, उसकी ऊर्द्धगतिका रोध करता है; इसलिये काम बैरी है। फिर अनन्त काल भोग-विलासमें डूबे रहनेसे भी काम पूर्ण नहीं होता, इसलिये काम महाशन है, और किसी एक चीजको प्राप्त होकरके स्थिर भी नहीं होता, इससे काम महापाप्मा है। (इच्छा अनिच्छा कुछ न रखके कर्म्म फलका भी लक्ष्य न करके कर्त्तव्य बोधसे क्रियाका आश्रय करनेसे और चंचलतामें पड़ने नहीं होता) ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथा दर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

अन्वयः। यथा वह्निः धूमेन दर्शः च (दर्पणः च) मलेन आव्रियते (आच्छाद्यते), यथा गर्भः (भ्रूणः) उल्बेन (गर्भवेष्टनचर्म्मणा) आवृतः, तथा (प्रकारत्रयेणापि) तेन (कामेन) इदं (आत्मज्ञानं) आवृतम् ॥ ३८ ॥

अनुवाद। अग्नि जैसे धूमसे आवृत रहती है, मयलेसे दर्पण जैसे झंपा रहता है, और उल्ब (गर्भवेष्टन चमड़ाकी थैली) से जैसे गर्भ झंपा रहता है, तद्रूप कामसे आत्मज्ञान झंपा रहता है ॥ ३८ ॥

व्याख्या । अपना रूप और कर्त्तृत्वफल देखना ही मनुष्यकी आकांक्षा तथा कामना है । यह आकांक्षा-निष्काम सकाम सकल कार्य्यकी जड़में है, न रहनेसे कार्य्यका प्रारम्भ होता ही नहीं । किन्तु इस आकांक्षा अर्थात् कामको ही फिर योगमार्गमें आकांक्षा पूरणके अन्तराय तथा आवरण स्वरूप जानना । कर्म्म उपासना और ज्ञान—साधनाकी ये जो तीन अवस्थायें हैं, उन तीन अवस्थाओंमें काम कैसे तीन-प्रकारका आवरण स्वरूप होता है, उसे समझानेकी सुविस्ताके लिये तीन दृष्टान्तसे प्रकाश किया गया है ।

प्रथम उपमा ।—अग्निमें धूआँका आवरण है । दो लकड़ीको परस्पर घिसनेसे, जो तापकी बृद्धि होती है, वह ताप क्रम अनुसार अग्निमें परिणत होता है । जैसे अग्नि निकल आवे, साथ ही साथ धूआँका भी प्रकाश होता है। साधनमें भी ठीक वैसे ही है । प्रथम कर्म्मावस्थामें प्राणका आलोड़न करके सुषुम्नामें धक्का लगते रहनेसे, उससे एक तेज निकल कर व्याप्त होके भीतर भीतर सर्व शरीरको उत्तेजित करता है । उसी तेजसे बुद्धि भी अन्तर्मुखी होती है । तब अन्तरमें कैसी एक ज्योति खिल उठती है । वह ज्योति ही ज्ञान-ज्योति है । उस ज्योतिके तेज करके, लकड़ी प्रभृतिसे धूआँ सदृश, सर्व-शरीरसे

एक भाफ तथा मनमें पूर्व पूर्वकृत कर्म्म सकलकी स्मृति उठके अन्तराकाशको छा डालता है, ज्ञानरूप अग्निकी ज्योति भी ढंक पड़ती है । किन्तु काष्ठके धूआँ ढका अग्नि में वायुका धक्का लगनेसे जैसे धूआँ हट जाके अग्निका जोर होता है, ज्योति खिल बाहर आती है; साधनामें भी वैसे, धीरज धरके स्थिरासनमें लगा रहके आवेग के साथ आत्ममन्त्रसे प्राणचालना करनेसे वो सकल पूर्वस्मृति तथा शरीरकी ज्वाला यन्त्रणा सब मिट जाती है; ज्ञानका तेज प्रबलतर होता है; और ज्योति खिल उठ करके अन्तराकाशको ज्ञानालोकसे आलोकित कर देती है ।

द्वितीय उपमा—आईनामें मलका आवरण है । आईना के ऊपर मुख लगायके जम्हाई (जृम्भन) लेनेसे जैसे एक भाप सरिस मयला पड़ता है, यदि आईनाके ऊपर उसी प्रकारका या दूसरा किसी प्रकारका गाढ़ा मैला रहे तो उस आईनामें कोई किसीका विम्ब प्रतिफलित नहीं होता, किन्तु यदि वो मयला छुटा दिया जाय, झाड़ पोंछके साफ किया जाय तो आईनेकी स्वच्छता प्रकाश पावे, और उसीमें प्रतिफलन क्रिया भी होती रहे । साधनाके प्रथम अवस्थामें कर्म्म द्वारा अन्तराकाशके आलोकित होनेके बाद, उपासनामय द्वितीय अवस्था आती

है । तब कूटस्थमें लक्ष्यस्थिर करनेसे ही, क्रम अनुसार श्वेत स्निग्धोज्वल एक ज्योतिमण्डल दर्शनमें आता है, वोही चिदाकाश है । वो मण्डल आईना सरिस स्वच्छ कह करके, जो कुछ है वह समस्त ही उसीमें प्रतिफलित सदृश प्रत्यक्ष होता है; किन्तु प्रथमावस्थामें वह कश्मलसे ढका रहता है । वह कश्मल नाना प्रकारके होनेसे भी, उसकी अतीव सूक्ष्मावस्थामें वह बहुत धुना हुआ रुई अथवा बहुत पतला दुधिया मेघ सरिस सुफेद दिखाता है । बाफसे मयले ढके आईनेमें अच्छी चमचमाहट रहने से भी उसमें जैसे प्रतिविम्बपात नहीं होता, वैसे दुधिया मेघ सदृश सफेद आवरण रहनेसे भी उस मण्डलमें कुछ भी प्रतिविम्बित होता नहीं । सुषुम्ना मार्गमें श्लेष्मा सूख जाके प्राणवायु सूक्ष्म अथच तेजीसे प्रवाहित होके सर्व शरीरमें वैद्युतिक तेजकी बृद्धि होनेसे, उसी तेज करके मनके विषय-संस्रव नष्ट हो आनेसे, कश्मल राशि सब उड़ जाता है; तब वह मंडल अति परिष्कार स्वच्छ भाव धारण करता है । उस समय उस मण्डलके भीतर अंडाकार एक विम्ब देख पड़ता है । वह अण्डाकार विम्ब कपोतके गण्ड सरिस चमकीला गाढ़ा काला रंगके, किन्तु कभी कभी गला हुआ सोनेके पत्तरसे घेरा हुआ तथा कभी एकदम सुवर्ण वर्णका भी दिखाता है ।

वह सफेद काला मिला हुआ क्षेत्र देखनेमें ठीक जैसे एक चक्षु है; उसको ही तत्पद कहते हैं—"दिवीव चक्षुराततम्"।

तृतीय उपमा—गर्भमें उल्बका आवरण है। गर्भमें जरायुके भीतर जीव एक जल भरे हुये महीन चमड़े की थैलीके भीतर रहता है। उसी चमड़े वाली थैलीका नाम उल्ब वा जीवकोष है। जब जीव उसके भीतर रहता है, तब उस उल्बका, आकार ठीक एक अण्डके सदृश होता है। उल्ब जबतक फट न जाय, तबतक जीव प्रसूत नहीं होता, टूट जानेके बाद और जरायुमें रहता भी नहीं, बाहर निकल आ पड़ता है। साधनाके समय ज्ञानज्योति करके अन्तराकाशके "चित्" आईनामें जो अण्डाकार विम्ब देख पड़ता है, वही विश्वकोष वा ब्रह्माण्ड * है। उस कोषके भीतर परम पुरुष "वेदान्तकृत्" अवस्थित हैं; इसलिये वह उल्ब स्वरूप है। इस तृतीय अवस्थामें काम उस कोषरूप धरके ज्ञानमयको ढांक रखता है। जबतक वह उल्वरूप कोष भेद न हो, तबतक वह पुरुष इसमें आवृतही रहते हैं। एक मात्र अन्तर शाम्भवीसे वो कोष भेद होय जाता है। **

*मनुके सृष्टि प्रकरणमें यही "सहस्रांशुसमप्रभं हैमं अण्डं" है ३८॥

** कूटस्थ भेद करनेका उपाय ३य अः२६ श्लोककी व्याख्या में है ॥ ३८ ॥

असल बात यह है कि, साधनाके समय काम प्रथम धूआँ का आकार धारण करके अन्तर्ज्योतिको ढक रखता है। पश्चात् ज्योति खिल आनेसे चित्-सदृश आकार धरके चित् शरीरमें लिपटा रहके चित्-क्षेत्रको ढांक रखता है; परिशेषमें चित्के प्रकाशित होनेके बाद अण्डाकार आवरण रूपसे परागति परम पुरुषको ढांक रखता है। एक कामही इन तीन रूपसे प्रकाश होता है । इन तीन अवस्थामें इन तीन आवरणके क्षय कर सकनेसे ही परम पुरुषार्थ-लाभ होता है ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! ज्ञानिनः नित्यवैरिणा (चिरशत्रुणा) एतेन कामरूपेण दुष्पूरेण अनलेन च ज्ञानं आवृतं ॥ ३९ ॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! ज्ञानियोंका नित्य वैरी इस कामरूप दुष्पूरणीय अनलके द्वारा ज्ञान आवृत (झंपा) रहता है ॥ ३९ ॥

व्याख्या । ज्ञान, ज्ञेय, तथा ज्ञाता—इन तीनका मिलके एक होनाही परम पुरुषार्थ है । इसके भीतर ज्ञाता—जीव है, ज्ञेय--शिव वा परब्रह्म है तथा ज्ञान—शक्ति एवं अवस्था विशेष है। ज्ञानसे ही ज्ञेयको जाना जाता है । जब विचार और अनुमानसे समझ

में आता है कि, सबही ब्रह्म तथा ब्रह्म ही सब हैं, तब ज्ञान शक्ति है; और जब लययोगके अनुष्ठान-फल करके (योगमें लय प्राप्त होनेके बाद) समाहित हो के पुनः संसार-मार्गमें उतर आ करके देखा जाता है कि, मैंही मैं वा ब्रह्म हूं, तब ज्ञान अवस्था * है । इस ज्ञानके भिन्न भिन्न स्तर और परिमाण हैं, उसीके अनुसार ज्ञानियोंके भी भिन्न भिन्न क्रम है । इसलिये जो अन्तर्मुखी वृत्तिलेके आत्मानुसन्धानमें यत्नशील हैं, वह भी ज्ञानी हैं; और जो ज्ञानकी ऊर्द्ध सीमामें उठ जाके ज्ञानकी स्वरूप-अवस्था पा चुके, वह भी ज्ञानी हैं। पृथकता यह है कि, प्रथम सोपानके निम्नतमस्तरमें, और द्वितीय ऊर्द्धतम स्तरमें अवस्थित है । जो आज्ञा पार होके ऊर्द्धतम स्तरमें स्थिति लाभ किये हैं, वह पुरुष जीवन्मुक्त है—उनके सकल आवरण क्षय होगये। परन्तु जो आज्ञाके नीचे हैं, उनका मन अकांक्षाकी खिंचाईमें रहनेसे, अन्तःकरणमें नये नये (पुरानेको नवीन बनाय करके) भोगकी इच्छायें उठती रहती हैं, यह इच्छा पर्दाराशि सदृश सन्मुखमें खड़ी रहके जिस ज्ञान-ज्योति से अन्तर्जगत् लक्ष्य होते आवें, वही ज्योति

* इस ज्ञानका प्रथम परोक्ष ज्ञान और दुसरा अपरोक्ष ज्ञान है। "अस्ति ब्रह्मेति चेत् वेद परोक्षज्ञानमेव तत् । अहं ब्रह्मेति चेत् वेद साक्षात्कारः स उच्यते ।"—इति पंचदशी ॥ ३९ ॥

को झांप देवे; जिस करके अन्तर्दृष्टि खुलती नहीं। मनको अभ्यास और वैराग्यसे इच्छारहित करनेसे भी प्रकृतिका ऐसा ही प्रभाव है कि, अनजान भाव करके भी मन इच्छाके वशमें आ पड़ता है; इसी लिये काम ज्ञानियोंका नित्यवैरी है *। और भी, यह अनलके स्वरूप है। अनल परप्रकाशक होनसे भी अपने, काष्ठ सरिस किसी आश्रय बिना प्रकाशको नहीं पाता; फिर वह आश्रयको ही सन्तप्त, दग्ध और नष्ट करता है। आश्रय जबतक रहता है, तबतक ही अनलका प्रकाश है, आश्रय क्षय होजानेसे ही अनलभी विलुप्त होता है। पर्वत प्रमाण जलनेवाले द्रव्यका संयोगसे भी अनलका परिपूरण नहीं होता, वरंच वो अनल क्रमशः अधिकसे अधिकतर शिखा विस्तार करके ग्रास करता रहता ही है। तद्वत् काम भी अपने आश्रय मनको सन्तप्त करता है, तथा विषय-संसर्ग करके धीरे धीरे बढ़ता है। आश्रयविहीन होने

---

* अज्ञानियोंके लिये विषय-भोग-समयमें काम सुखके हैं, किन्तु उसके परिणाम फल करके सो दुःखके हैं। ज्ञानीको तदर्थीय कर्म्म विना दूसरे विषयभोग मात्रही दुःखके जानों; क्योंकि, मनमें कामनाका संचार होनेसे ही अन्तराकाशमें कश्मल आवे, आत्मज्योति भी झंप जावे। काम मनको जबही आकर्षण करे, तबही साधकको दुः-ख विना सु-ख नहीं होता। इसलिये काम ज्ञानीका नित्यवैरी है ॥ ३९ ॥

से अनल जैसे बुत जाता है, विषयत्याग होनेसे काम भी तैसे ही नाशको पाता है ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

अन्वयः । इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य (कामस्य) अधिष्ठानं (आश्रयः) उच्यते । एषः (कामः) एतैः (इन्द्रियादिभिः) ज्ञानं (विवेकज्ञानं) आवृत्य देहिनं विमोहयति ॥ ४० ॥

अनुवाद । इन्द्रिय सकल, मन और बुद्धि—इन सबको कामके आश्रय कहते हैं । यह काम इनही सबसे विवेक ज्ञानको ढक रख के देहीको विमोहित करता है ॥ ४० ॥

व्याख्या । त्याग-ग्रहणादि क्रिया कर्म्मेन्द्रियोंसे, दर्शन-श्रवणादि क्रिया ज्ञानेन्द्रियोंसे, और ध्यान-धारणा वा संकल्प-अध्यवसायादि क्रिया मन-बुद्धिसे होता है । इसलिये इन्द्रिय सकल, मन और बुद्धि, काम वा इच्छा का आधार है। ज्ञान भी इन्द्रिय-मन-बुद्धिमें ही प्रकाश पाता है। इसीलिये ज्ञान और काम परस्पर विरोधी है, एकके प्रबल होनेसे ही दूसरे का लोप होता है। तब काम और ज्ञानके भीतर विशेषता यही है कि, काम वा विषयेच्छा उर्द्धादिशामें आज्ञास्थित बुद्धि-क्षेत्र पर्य्यन्त ही आश्रय पाता है, इसके ऊर्द्धमें और

जा नहीं सक्ता; किन्तु ज्ञान जा सक्ता है। ज्ञान प्रबल होनेसे समूची इन्द्रिय-मन-बुद्धिके पथ आलोकित करके खिले हुए आत्माको खिलाय देती है, देहीको सर्वदर्शी करती है, और आप भी माया-ब्रह्मकी सन्धि पर्य्यन्त विस्तृत होती है। किन्तु काम वा प्राप्ति की इच्छा जो जीव मात्र को ही प्रबल है इसमें और सन्देह नहीं, क्योंकि, मनमें कामना रहनेके लिये यह जीवदेह है, नहीं तो और जनम लेना होता ही नहीं। इसलिये गीले काष्ठमें जैसे आग नहीं लगती, तैसेही मनमें कामनाके वर्त्तमान समयमें ज्ञानकी ज्योति नहीं खिलती इसलिये हृदयाकाश विषयान्धकार से ढका रहता है, देहीकी दृष्टि ऊंचे दिशामें विषय बिना आत्मपथको देखने नहीं पाता। तब काम मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें विषय वाले मोहिनी रूपकी तरंगको उठाके, देहीको मोहित करके—आत्महारा कराके—विषयमें नित्य सत्य ज्ञानका भ्रम लगा करके भ्रममें फेंकता है॥ ४०॥

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अन्वयः। हे भरतर्षभ! तस्मात् (हेतोः) त्वम् आदौ इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनं पाप्मानं (पापरूपं) एनं (कामं) हि (स्फुटं) प्रजहि (नाशय, परित्यज वा)॥ ४१॥

अनुवाद। हे भरतश्रेष्ठ! इसीलिये तुम पहले ही इन्द्रिय सकलको संयत करके ज्ञान-विज्ञान-नाशक (नाश करनेवाले) पापमय इस कामको सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट करो (परित्याग करो)॥ ४१॥

व्याख्या। प्रदीपकी ज्योति जैसे वत्ती न रहनेसे तेलको जलाय नहीं सक्ती, वैसेही काम भी इन्द्रियादिके सहारा न पानेसे विषय भोग कर नहीं सक्ता। फिर वत्ती संयत (दृढ़ कठिन) होनेसे उसके भीतरसे तेलको सोखने को न पाके जैसे शिखा ब्रुत जाती है, वैसेही इन्द्रिय सकलको संयत (बाहरके विषयमें जाने न देके अन्तरके अविषयमें * अटक) करनेसे, उन सबसे और विषय भोग होता नहीं, इस करके काम आपही आप नाश पाता है—त्याग हो जाता है; इसीलिये इस श्लोकका उपदेश यह है कि, पहले इन्द्रिय सकल संयत करना §

* जाग्रत अवस्थामें जो दर्शन श्रवण होता है, वह सब बाहर के हैं, स्थूल शरीरमें ही उनका भोग होता है; उन सबको बहिर्विषय कहते हैं। किन्तु योगावलम्बनमें सकल इन्द्रियोंको निरोध करके जो देखा सुना जाता है, वह बाहरका नहीं, भीतरका है; अतीव सूक्ष्म कह करके वह सब सूक्ष्म शरीरमें भोग होता है; उन सबको अन्तर्विषय कहते हैं। यह अन्तर्विषय ही अविषय है। अन्तर्विषय गुण वा शक्ति स्वरूप है, बहिर्विषय उसके कार्य्य है॥ ४१॥

§ साधनामें पहले पहले अन्तरके अविषयकी धारणाही नहीं होती। तब केवल गुरु-दर्शित पथमें सतत लक्ष्य तथा गुरुवाक्य

पड़ता है। ऐसा होनेसे ही कामको नाश वा त्याग किया जा सक्ता है। कामको नाश अथवा त्याग न करनेसे ज्ञान विज्ञानकी स्फूर्त्ति नाश होती है और विषय-चांचल्य रूप पापकी बृद्धि होती है।

ज्ञान—ज=जायमान, ञ=गन्धानु अर्थात् विषय, आ=आसक्ति, न=नास्ति; उत्पत्ति-स्थिति-नाशशील पार्थिव विषयमें आसक्ति न रहना ही ज्ञानका अक्षरगत अर्थ है। विज्ञान (वि=विशेष)-विशेष ज्ञान। समष्टि चैतन्यका स्वरूप-बोध ज्ञान है व्यष्टि चैतन्यका स्वरूप-बोध विज्ञान। अर्थात् आत्मामें लीन होनेके बाद जो आत्मज्ञान होता है, वही ज्ञान है; और पृथिवी से आदि लेके तत्त्व-समूह का जो ज्ञान है उसीको विज्ञान कहते हैं। और भी थोड़ासा स्पष्ट करके,—आत्माही सब इस दृढ़ धारणामें जो चैतन्य लाभ होता है, उसीको ज्ञान कहते हैं; ज्ञानका सहायता करके पुंखानुपुंख रूप आलोचनासे तत्त्व समूहके पृथक रूपमें विशेष प्रकारके जो पूर्ण स्वरूप-बोध होते हैं, वही विज्ञान है।

में अटल विश्वास रखके, मूढ़ सरिस यथा विधि क्रिया करने से ही, अन्तरके भीतर प्रवेश करने की शक्ति आती है; पश्चात् संयम अभ्यास से किसी प्रकार की आयास पाने नहीं होता। अभ्यासके नियम षष्ठ अः में देखो ॥ ४१ ॥

सीधी बातमें, "सोऽहं"—यह ज्ञानही ज्ञान है, इस ज्ञान छोड़ करके और जितना है वह सब विज्ञान है। ज्ञान और विज्ञान परस्पर सापेक्ष है। ज्ञानके परिपाक भोगके बाद निम्न दृष्टि होनेसेही विज्ञान लाभ होता है, और विज्ञानका परिपाकके बाद ऊर्द्धमें स्थिर दृष्टिके अटक रहनेसे ही ज्ञान लाभ होता है॥ ४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥४२॥

अन्वयः। इन्द्रियाणि पराणि आहुः, इन्द्रियेभ्यः मनः परं, मनसः तु बुद्धिः परा, तु (किन्तु) बुद्धेः परतः यः (तत्साक्षित्वेनावस्थितः) सः (एव देहीशब्दोक्त आत्मा॥ ४२॥

अनुवाद। इन्द्रिय सकल को श्रेष्ठ कहते हैं। मन इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है। मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है। किन्तु बुद्धि से जो श्रेष्ठ है वही देही है॥४२॥

व्याख्या। इन्द्रिय दश हैं, पांच ज्ञानसाधन और पांच कर्म्मसाधन हैं इन दश इन्द्रिय सेही बहिर्विषयका भोग होता है। स्थूल पदार्थ मात्रही बहिर्विषय है, पंच सूक्ष्म भूतोंके पंचीकरणसे ही उत्पन्न होता है। यह स्थूल बहिर्भोग्य पदार्थसमूह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूपसे भोग होता है, भोग करनेका कारण होता है

इन्द्रिय; इसलिये इन स्थूल देहादि बहिर्भोग्य पदार्थ से इन्द्रिय सकल श्रेष्ट है । किन्तु इन्द्रिय सकल शब्दादि का गुणवाचक पदार्थ वा शक्तिसे आबद्ध एवं चालित है । यही गुण वाचक पदार्थही अन्तर्विषय वा तन्मात्रा,–जो योगावलम्बनसे सकल इन्द्रिय रोध करके सूक्ष्म रूपमें शरीरके भीतर भोग किया जाता है,—जो कारण स्वरूप, और इन्द्रिय सकल जिसके करण तथा बहिर्विषय जिसके कार्य्य हैं। अतएव यह अन्तर्विषय इन्द्रियकी अपेक्षा श्रेष्ठ है । उपनिषत्में इस अन्तर्विषयको "अर्थ" कहके उल्लेख किया हुआ है * और इन्द्रिय से श्रेष्ठ कहा हुआ है । परन्तु गीतामें इसका उल्लेख नहीं; इसका कारण, कार्य्यके कारण और करण विचारत भिन्न होनेसे भी क्रियामें एकही दिखाते हैं। इस अन्तर्विषयकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है; कारण, मन पंच महाभूतोंके समष्टि सात्विकांशसे उत्पन्न हुआ है, और दश इन्द्रिय पंच महाभूतोंके पृथक सात्तिकांश और

* " इन्द्रियेभ्यः पराः ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषो परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः "—कठोपनिषत् ॥

पृथक् राजसांशसे उत्पन्न, मनके संकल्प-विकल्पसे ही चालित है। मनकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है; कारण मन अन्धा है, बुद्धि प्रज्ञावती है; मनकी क्रिया विचार विहीन त्याग-ग्रहण, और विचारसे सत् असत् निश्चित करनेकी क्रिया बुद्धिकी है। इस बुद्धिके भी ऊपर जो है, वही आत्मा है। यह आत्मा सकलके साक्षी स्वरूप हो करके सकलके अन्तरमें अवस्थित है; यही देही है; इसको काम विमोहित करता है, किन्तु स्पर्श कर नहीं सक्ता। (यही देही जीव वा आत्मतत्त्व है, आत्मतत्त्वसे महत्तत्त्व श्रेष्ठ है; महत्से अव्यक्त और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है; पुरुषके ऊपर और कुछ नहीं; वह पुरुष ही परागति है)॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

अन्वयः। हे महाबाहो ! एवं बुद्धेः परं (आत्मानं) बुद्ध्वा (ज्ञात्वा), आत्मना (आत्मबुद्ध्या) आत्मानं (कामस्य अधिष्ठानं इन्द्रियादीनि) संस्तभ्य (संयम्य, निश्चलं कृत्वा) कामरूपं दुरासदं (दुर्द्धर्षं) शत्रुं जहि (मारय)॥ ४३ ॥

अनुवाद। हे महाबाहो ! आत्माको इस प्रकार बुद्धिसे श्रेष्ठ जानके, आत्मासे मन बुद्धि इन्द्रिय सकलको निश्चल करके दुर्द्धर्ष कामरूप शत्रुका विनाश करो ॥ ४३ ॥

व्याख्या। बुद्धि कामके आश्रय कह करके, विषय

और इन्द्रियोंके संस्रवमें विकार प्राप्त होती है; किन्तु आत्मा निर्विकार है, इन सबका साक्षी स्वरूप है; अतएव आत्मा, बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है । हे साधक ! यही आत्मा तुम हो अर्थात् तुम्हारी प्रकृत स्वरूप है। तुम अपनेको इस प्रकार बुद्धितत्त्वसे भी श्रेष्ठ जान करके, निश्चयात्मिका बुद्धि वा आत्मबुद्धि द्वारा अर्थात् "मैं सबसे श्रेष्ठ तथा निर्विकार हूं, काम मुझको स्पर्श कर नहीं सक्ता, तिसपर भी जो मैं विमोहित होता हूं, वह मेरा भ्रममात्र है– जैसे लड़के लोग चक्करवाले खेलमें घूमते घूमते आंख मुंदकर गिर पड़ते पश्चात् पृथिवीको घुमते देखते हैं, वैसी दशा मुझे भी है, मैं लगा लेता हूं मात्र" इस प्रकार दृढ़ विश्वासके साथ मनको स्थिर निश्चल करो, ऐसा होनेसे ही मन "मैं-मय" हो जावेगा। मन कामके सञ्चारक होनेसे भी, काम और उसमें सञ्चरण कर नहीं सकेगा इसलिये कब्जेमें (वशमें) आवेगा, तब उसका विनाश भी किया जावेगा। कामको जय तथा नष्ट करनेके लिये यही एक मात्र उपाय है, इसीलिये कामको "दुरासद" (अतिकष्ट करके आयत्त किया जा सक्ता है) कहा गया ॥४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे कर्म्मयोगो नाम
तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

अन्वयः । श्रीभगवानुवाच । इमं अव्ययं (अक्षयं) योगं अहं विवस्वते (सवितारं) प्रोक्तवान्, विवस्वान् मनवे प्राह, मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवित् । एवं परम्पराप्राप्तं इमं (योगं) राजर्षयः विदुः; हे परन्तप ! सः योगः महता कालेन (कालवशात्) इह (लोके) नष्टः (विच्छिन्नः) ॥ १ ॥ २ ॥

अनुवाद । श्री भगवान कहते हैं । इस अव्यय योग मैंने विवस्वानसे कहा था विवस्वानने मनुसे तथा मनुने इक्ष्वाकु को कहा था । इस प्रकार परम्पराप्राप्त उस योगको राजऋषिगणने जान लिया था । हे परन्तप ! वह योग पश्चात् महत् कालके वशमें इस लोकसे नष्ट होय गया ॥ १ ॥ २ ॥

व्याख्या । द्वितीय तृतीय अध्याय में सांख्ययोग और कर्म्मयोगकी वर्णना किया गया उसी दोनोंको

निर्देश करके इस श्लोकमें "इमं योगं" कहके व्यक्त किया गया । सांख्ययोग है अनुमानसिद्ध ज्ञान, और कर्म्मयोग है अनुष्ठानसिद्ध ज्ञान । केवल अनुमान (ज्ञान) से कार्य्य नहीं होता, केवल अनुष्ठान (कर्म्म) से भी काम नहीं होता, इन दोनोंका (ज्ञान-कर्म्मका) समावेश (योग) चाहिये; इसलिये अनुमान और अनुष्ठान एक होनेसे जो ज्ञान होता है, वही यह ज्ञानयोग—द्वितीय तृतीय अध्यायका (सांख्य-कर्म्मका) समष्टि ज्ञान है। इस श्लोकका योग शब्दके अर्थमें ज्ञान वा ज्ञानयोग समझना होगा । यह ज्ञान इस चतुर्थ अध्याय में वर्णना किया हुआ है इससे इस अध्यायका नाम है ज्ञानयोग । ज्ञानयोग जो सनातन—अव्यय, वही समझानेके लिये इस श्लोकमें ज्ञानयोगका विस्तारक्रम देखा देके, ज्ञानयोग कैसे अब लोपको पागया, उसका कारण निर्देश किया गया है ।

योग-क्रिया द्वारा जो "कोटीसूर्य्यप्रतीकाशं चन्द्रकोटी सुशीतलं" ज्योतिर्म्मण्डल देखनेमें आता है, वही विवस्वान् वा सविता है, वह स्वप्रकाश है, उसीके ज्योति करके विश्व प्रकाशित है । उस सविताके उदय होनेके बाद, उसमें चित्त स्थिर रखनेसे ही, "सवितृ-

मण्डलमध्यवर्त्तीनारायणः" गोलोकनाथ प्रत्यक्ष होते हैं; वही अहं--कूटस्थचतन्य श्रीकृष्ण है । उस विवस्वान् से ज्ञानस्रोत (चिज्ज्योति-प्रवाह) नीचे मुखमें प्रवाहित हो करके अन्तः करण में आती है । अन्तःकरण चित्त-अहंकार-बुद्धि-मन इन चार अंशमें विभक्त होनेसे भी सृष्टिमुखमें मन प्रधान होके रहनेसे एकबात में इसको मन कहा गया है; फिर ब्रह्ममुखमें चित्त प्रधानरूप करके सबके अगाड़ी रहनेसे, इसको चित्त नाम करके व्यक्त किया गया है । अन्तःकरण की सृष्टिमुखी वृत्ति वा मनही मनु है । ज्ञानस्रोतके अन्तःकरणमें आनेके बाद, निश्चयात्मिका वृत्ति-समुद्भूत अन्तर्दृष्टि वा मानस-नेत्र (प्रज्ञाचक्षु) प्रकाशित होती है; अन्तर्जगत्को ईक्षण करने वाले यही मानस नेत्र वा प्रज्ञाचक्षु ही इक्ष्वाकु है । अन्तरमें ज्ञान वा चैतन्यके उदय होनेके बाद, बाहरमें ज्ञानेन्द्रिय सकल द्वारा उसका बोध उत्पन्न होता है; ये ज्ञानेन्द्रिय सकल ही राजऋषिगण हैं । (पंचमहाभूतोंके व्यष्टि सात्विकांश से ज्ञानेन्द्रिय सकल उत्पन्न होनेसे भी, इन सबकी क्रिया समूह रजोगुणका है; इसीलिये ये सब राज-ऋषि) है । ज्ञान वा ज्ञानयोगका विकाश, इस रूप करके एकसे अपर क्षेत्रमें प्रकाशित होता है, इससे ज्ञान

वा योग परम्पराप्राप्त है; और इसके फलका शेष नहीं, क्षय नहीं, क्रमशः अनन्त ब्रह्ममें मिलके अनन्त होता है, इसलिये यह अव्यय है ।

प्रवृत्ति-निवृत्ति, वासना-विराग भेद करके काल दो अंशमें विभक्त है । ब्रह्ममुखी निवृत्तिमार्गमें काल-स्रोत क्रमशः क्षीणसे क्षीणतम हो आनेसे, कालका महत्त्व रहता नहीं, सूक्ष्मत्व आता है; संसारमुखी प्रवृत्ति-मार्गमें ही काल महत् है, क्योंकि प्रवृत्तिसे ही कालस्रोत अधिकतर प्रबल होता है । इसलिये संसारको भी महत् कहा है; इसी अर्थसे ही द्वितीय अध्याय ४० श्लोक में "महतो भयात्" कहा गया है । और भी, वैराग्य करके मनका मयला दूर होने से आत्मचैतन्य वा ज्ञानका विकाश होता है, और वासनासे मनमें विषयका मयला पड़नेसे ज्ञानका विनाश होता है । लोक-जगतमें यह योग रूप आत्म-ज्ञान सृष्टि मुखी वासना वृत्तिसे ही नष्ट हुआ है अर्थात् ढका पड़ा है * इसलिये यह बात सबकोई जान नहीं सक्के ॥ १ ॥ २ ॥

---

* व्याधि, आघात, और मानसिक आवेग करके मस्तिष्क विकृत होनेसे जैसे स्मृति लोप पाता है, वैसे ही विषय-वासना तथा असंयम (वा सम्भोग) से बुद्धिवृत्ति विकृत होनेसे आत्मज्ञान लोप पाता है ॥ १ ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अन्वयः। (त्वं) मे (मम) भक्तः सखा च असि, इति (हेतोः) अयं सः पुरातनः योगः ते (तुभ्यं) एव अद्य (कुरुक्षेत्रयुद्धस्य प्रथम-दिवसे) मया प्रोक्तः, हि (यतः) एतत् उत्तमं रहस्यं ॥ ३ ॥

अनुवाद । तुम मेरे भक्त तथा सखा हो; इसलिये पुराना योग आज तुमसे मैंने कहा, क्योंकि यह उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

व्याख्या । आज साधक कर्म्मयोग अवलम्बनसे सविचार-समाधि लाभ करके उसी योगरूप आत्मज्ञान को प्रत्यक्ष और श्रुतिगोचर करते हैं; देखते हैं, तीन अवस्थाओंका एक साथ योगायोग है, इस करके ही यह गीता रूप आत्मज्ञानका फौवारा उठा है। वह तीन अवस्था--देश, काल तथा पात्रका समावेश है—

(१) देश है—धर्म्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रमें दो पक्षके मध्य-स्थान। साधक कर्म्मका आश्रय करके सुषुम्नाके भीतर प्रवेश करने पाये हैं, इसलिये इस देशका समावेश हुआ है।

(२) काल है—"अद्य" अर्थात् युद्धका प्रथम दिन युद्ध आरम्भ होनेके ठीक पूर्व समयमें, जब साधक कूटस्थ-चैतन्यके सामनेमें स्थिर धीर भावमें रह करके

प्रत्यक्ष करते हैं, और उसी चैतन्य-ज्योतिके प्रवाह सम्पूर्ण रूप करके साधकमें ही आ पड़ा है ।

(३) पात्र है—साधकका भक्त तथा सखा भाव । ईश्वरके प्रति एकानुरक्तिका नाम भक्ति और सम-प्राणत्वका नाम सखा है । आज साधक "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" कहके सकल अभिमान दूर करके गुरुपदमें सम्पूर्ण रूपसे आत्मसमर्पण कर चुके, इसलिये आत्मचैतन्यमें उनके परानुराग प्रकाश पाये हैं, अतएव वह भक्त हैं; तथा क्रियायोगमें निश्वास-प्रश्वास सूक्ष्म सीधे और अभ्यन्तरचारी हो के समान परिमित होनेसे अर्थात् प्राणमें समता * आनेसे, वह सखा हैं। साधकका आज इस तीन अवस्थाका समावेश हुआ है, कह करके ही साधक इस ज्ञानको जानने सकते हैं । यह अवस्था न होने से कदापि कोई इसको जान नहीं सकता । इसलिये इसको रहस्य कहा गया है अर्थात् यह

---

* जब निश्वास-प्रश्वासकी गति और परिमाण बहुत कमसे भी कम और सूक्ष्म हो जाय छोटी बड़ी न रहे; मन बिना आयास करके मकड़ीके सूती सदृश वारिक सुषुम्ना नाड़ीको धरके धीरे धीरे उठना उतारना कर सके, शरीर तथा मनमें किसी प्रकारका उद्वेग वा यातना न रहे, वरंच एक अव्यक्त आनन्दका संचार होता है, वही प्राणकी समता अवस्था है । यह अवस्था क्रिया करके प्राप्त होके आपसे आप समझना पड़ता है, यह समझाया नहीं जाता ॥ ३ ॥

गुप्त—साधारणके बोधसे झंपा है। जिन पुरुषके मनके आवरण खुले हैं, वही भाग्यवान इसको जानलिये;—जानलिये कि, यही पुरातन—यही उत्तम है, क्योंकि इसीसे ऊंचे वाले तमः अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रमें कैवल्य-स्थिति की प्राप्ति होती है॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अन्वयः ।अर्जुनः उवाच । भवतः जन्म अपरं (परवर्त्ति इत्यर्थः) विवस्वतः जन्म परं (प्राककालीनं), (तस्मात्) त्वं आदौ (योगं) प्रोक्तवान् इति एतत् कथं (अहं) विजानीयाम् ? ॥ ४ ॥

अनुवाद । अर्जुनने कहा । सूर्य्यका जन्म पूर्वमें और तुम्हारा जन्म उसके पश्चात् हुआ है; यह योग तुमने पहले सूर्य्यसे कहाथा, उसे मैं कैसे जानूं ? ॥ ४ ॥

व्याख्या । क्रियाकालमें साधक देखने पाते हैं कि, चिदाकाशमें प्रथम एक अनुपम ज्योतिर्मण्डल खिल उठता है, पश्चात् उस मण्डलके भीतरसे कल्पनातीत एक सुन्दर मनोहर बिन्दु क्रमविकाशसे भूवनमोहन इष्ट-मूर्त्ति धारण करते हैं। वह ज्योतिर्म्मण्डल ही विवस्वान्

है, और वह इष्ट मूर्त्ति ही कूटस्थब्रह्म श्रीगुरुदेव हैं। अतएव देखते हैं, विवस्वान्‌का आविर्भाव पहले और कूटस्थ चैतन्यका आविर्भाव पश्चात् होता है । इसलिये शुद्ध चैतन्यका ज्योति (ज्ञानस्रोत) पहले ही विवस्वान् में आ पड़ता है, पश्चात् उससे कूटस्थ-चैतन्य में संचारित होता है। साधक इस प्रकार प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु श्रुतिसे जानते हैं दूसरे प्रकार; इसलिये सन्देह उपस्थित होनेसे, आत्मजिज्ञासामें अनुसन्धान करते हैं कि कूटस्थ से विवस्वानमें आत्मज्योतिका संचार होता है, वह कैसे ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

अन्वयः । श्रीभगवानुवाच । हे परन्तप अर्जुन ! मे (मम) तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि (गतानि); अहं तानि सर्वाणि वेद (वेद्मि), त्वं न वेत्थ (जानासि) ॥ ५ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान कहते हैं । हे परन्तप अर्जुन ! हमारा और तुम्हारा बहुत जन्म बीत गया है; सो सब मैं जानता हूं, किन्तु तुम नहीं जानते ॥ ५ ॥

व्याख्या। नामरूपात्मक आवरणके भीतर चैतन्यका प्रवेशका नाम जन्म है। आवरण जो कुछ, सबही प्रकृति के हैं। प्रकृति(अव्यक्त)—महत्, आत्मा (अहंकार), बुद्धि, मन, तन्मात्रा, इन्द्रिय, इत्यादि रूप २४ तत्त्व करके विभक्त। इसके प्रत्येक ठो ही एक एक आवरण है।

प्रकृति-पुरुषके विच्छेदका अवकाश ही है अव्यक्त। यह अव्यक्त ही है चिदाकाश। यही प्राकृतिक स्फुरणका वीज स्वरूप है अर्थात् प्राकृतिक पदार्थोंके सृष्टि-स्थिति-नाश का मूल उपादान है; इसलिये इसको मूला प्रकृति कहते हैं। इस चिदाकाशमें महत् वा चित्त-संक्रम स्थलमें चैतन्य का ज्योति प्रतिफलित होता है; यह प्रतिफलित ज्योति ही चिज्ज्योति वा विवस्वान् है। यह प्रथम माया-विकाश कह करके, इसको आदित्य कहते हैं। पश्चात् विकार मिश्रण होयके विवस्वान् से महत् तत्त्व अर्थात् चित्त उत्पन्न होता है; महत् ही मनु वा मन * है। विवस्वानसे उत्पन्न हुआ कह करके वैवस्वत। चित्तके बाहरी तरफ जिस स्थानमें चैतन्य-ज्योति प्रतिफलित होयके विवस्वान् हुआ, उसी स्थानके सम सूत्रपातमें अव्यक्त और चितके संयोग-स्थलको कूट कहते हैं। कूट एकठो अन्तर्वाही

* सृष्टिमुखी अन्तःकरण ॥ ५ ॥

मायिक प्रवाह चक्र स्वरूप है*। उसी कूटमें चैतन्य प्रतिफलित होयके नानाविध रूप धारण करते हैं । यह कूटस्थ-चैतन्य ही ईश्वर—साधकके इष्टदेव हैं; यह साधकके मन लायक हरएक रूपमें आविर्भूत होयके हितसाधन करते हैं, जिसलिये शास्त्रोक्ति—"साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना"। इसी ईश्वर तक ही आत्मा वा चैतन्य "अहं" नाम करके अभिहित होते हैं। महत्तत्त्व वा चित्तसे आत्मा वा अहंकारकी उत्पत्ति, अहंकारसे बुद्धि, बुद्धिसे मन—इत्यादि प्रकारसे वैकारिक क्रियासे प्राकृतिक विलासकी वृद्धि होती है; इन सकलके भीतर ही चैतन्यसत्त्वा प्रवेश करके सबको चेतनामय करते हैं । यह मन-बुद्धि-अहंकारके मध्यस्थ चैतन्य मन-बुद्धि-अहंकार भेद करके विविध भावापन्न होनेसे भी, इसके

---

* इस कूटका क्रिया अति विचित्र है। यह एकठो अच्छे तपायमान् कांचका तावा सरिस है। अग्निकी ज्योति जैसे कांचके भीतर देके बाहर आके कांचका रंग धरलेता है; तब उस कांचमें धान, यव, गेहूं स्पर्श करनेसे उसके रसका बन्धन खुल जायके रसांश वाष्प होकरके उड़ जाय,—भूषि अलग होय,—और चावल खिलके लाजा बन जाय; ठीक उसी प्रकार कूटमें चैतन्यसत्त्वा आय पड़नेसे कूटके उस समयके अवस्था सदृश आकार धारण करता है, और साधकके मन उस कूटमें आके स्पर्श करनेसे मनके कर्म्म-बन्धन खुल जाके कर्म्म उड़ जाय—विषयके आवरण अलग होजाय—और मन स्वयं रूपान्तारित होयके शुद्ध चैतन्यसत्वाका रूप धारण करता है ॥ ५ ॥

समष्टिका नाम "जीव" है *। यह जीव ही "त्वं" नामसे अभिहित है; इन्होंने अहंकार-सम्पन्न कह करके असर्वज्ञ (स्वल्पज्ञ); ईश्वर अहंकार विहीन कहके सर्वज्ञ हैं। इन जीव और ईश्वरके ठीक बीचमें (चित्तके बाहर तरफ जिस प्रकार स्थानमें विवस्वान् है, भीतर तरफ ठीक उसी प्रकार स्थानमें) एकठो अनति-उज्ज्वल मण्डल प्रकाश पाता है; इसीको ही चन्द्र-मण्डल कहा जाता है। (उस चन्द्र-मण्डल भेद करनेके बाद कूट प्रकाश पाता है, कूट भेद करनेसे ईश्वर, ईश्वरके लय होनेके पश्चात् विवस्वान्, पश्चात् अव्यक्तके बाद पुरुष; इस प्रकार ही साधनाके क्रम जानो)। (४र्थ और ६म चित्र देखो)।

पूर्वोक्त प्रकार विविध आवरण भेदसे ही "अहं" अर्थात् शिव-चैतन्य तथा "त्वं" अर्थात् जीव-चैतन्यका बहुजन्म कल्पना हुआ है।

---

* जीवजगतमें जीवको चेतना शक्तिके अल्पाधिक परिमाणानुसार चार अंशमें विभाग किया जा सकता है यथा—(१) संकुचित चेतन=स्थावर; (२) मुकुलित चेतन=उद्भिद, वृक्षादि; (३) विकशित चेतन=स्वेदज, अंडज, एवं जरायुज (मनुष्य व्यतीत); और (४) पूर्णविकशित चेतन=मनुष्य। अन्तःकरणके मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चार क्षेत्रमें चेतना शक्तिके विभिन्न प्रकार विकाश अनुसार मनुष्यके भी चार विभाग किये हैं: यथा—(१) ब्राह्मण-जिसके चेतनाशक्ति मन-बुद्धि-अहंकार-चित्तके सर्वत्र विकशित; (२) क्षत्रिय-

चैतन्यसत्त्वा जो विविध आवरण करके विविध भावमें प्रकाशित है, सो शिव-भावके निकट ही प्रत्यक्ष होता है, जीव-भावके निकट होता नहीं; क्योंकि साधक जबतक जीव-चैतन्यमें रहते हैं, तबतक उनका विषय-विकृत मैं-भाव रहता है, पश्चात् जब शिव-चैतन्यमें उठ जाते हैं, तब उनका मैं-भाव विशुद्ध होता है। इस विशुद्ध मैं-भावमें ही विश्व प्रतिफलित होता है, विकृत मैं-भावमें होता नहीं। इसलिये कहा हुआ है, "अहं वेद त्वं न वेत्थ"।

श्रीगुरुदेव इस श्लोकमें साधकको दोठो शब्दमें सम्बोधन करके सुन्दर रूपसे साधकका इस समयका अवस्था लक्ष्य कराय दिये हैं, एकठो शब्द अर्जुन, दूसरा शब्द परन्तप है।

अर्जुन—अ+रज्जु+न, अर्थात् जो बन्धन मुक्त नहीं है। संसारमें कर्म्म ही एक मात्र बन्धन है। सोई कर्म्म फिर दो प्रकारका,—सुकर्म्म और कुकर्म्म। आत्मा ही सु

जिसके चेतनाशक्ति मन, बुद्धि और अहंकार इन तीन क्षेत्रमें विकशित; (३) वैश्य-जिसके चेतना शक्ति मन और बुद्धि इन दो क्षेत्रमें विकशित है; और (४) शूद्र—जिसके चेतनाशक्ति केवल मात्र मनमें विकाशित। अन्तःकरणके इन चार क्षेत्रके गठनके सौष्ठव तथा प्रतिफलन-शक्तिके उत्कर्षके तारतम्य अनुसार करके इन चार श्रेणीके मनुष्य, फिर उत्तम, मध्यम, और अधम तीन प्रकारके हैं ॥ ५ ॥

अर्थात् सुन्दर, और अनात्म पदार्थ ही--कु अर्थात् मन्द वा बुरा । महाभारतमें है, पृथिवीमें केवल सुकर्म कियेथे, इसलिये अर्जुनका नाम अर्जुन हुआ था । 'तदर्थीय' कर्म्म ही साधकके सुकर्म्म है। वृत्ति आत्ममुखी होनेसे भी कर्म्म जीव और ईश्वरके बीचमें आवरण स्वरूप रहनेसे उस कर्म्मका शेष न होने पर्य्यन्त जीव अल्पज्ञ रहते हैं, सर्वज्ञ हो सकते नहीं । उस सुकर्म्म रूप आवरणशक्ति-विशिष्ट जीव ही अर्जुन है ।

परन्तप ।--पर अर्थात् प्रकृति जिनसे तापित होती है, वही परन्तप । साधकके मनमें पहले "आत्मा ही मैं, प्रकृति मै नहीं" इस प्रकारका ज्ञान रहनेसे, द्वैत भाव प्रबल रहता है; इसलिये प्रकृतित्व त्याग करनेकी इच्छा रहती है । उस त्यागेच्छा रूप विक्षेपशक्ति-सम्पन्न जीव ही परन्तप है * ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

अन्वयः । अजः (जन्मरहितः) अपि सन् अव्ययात्मा (अनश्वर-स्वभावोऽपि सन्), तथा भूतानां ईश्वरः अपि सन् (अहं) स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय (स्वीकृत्य) आत्ममायया (स्वेच्छया) सम्भवामि ॥ ६ ॥

* द्वितीय अध्याय ९म श्लोकमें "परन्तप" का व्याख्या देखो ॥५॥

अनुवाद । जन्म रहित मैं, अनश्वर-स्वभाव तथा सर्वभूतोंके ईश्वर होकरके भी अपने प्रकृतिको अधिकार करके आत्ममायासे सम्भूत होता रहता हूं ॥ ६ ॥

व्याख्या । क्रियायोगसे साधक समाधि-साम्यद्वारा शुद्ध चैतन्यमें लीन होयके, पश्चात् विकर्म्मसे फिर मनो-धर्म्मशील होनेके बाद, मानस-नेत्र उन्मीलन करके देखते हैं--एक "मैं" ही सर्वत्र वर्त्तमान--"मैं"के और आने जानेके जगह नहीं, इसलिये "मैं" के जनम नहीं; जनम न रहनेसे 'मैं' के मरण भी नहीं, इसीलिये 'मैं' अव्ययात्मा अर्थात् अक्षयस्वभाव,--त्तयोदय जो सो चित्तादि चौवीस तत्त्व वा भूत सकलके लिये; ये चित्तादि भूत सकल "मैं" मेंही अवस्थित--"मैं" मेंही इन सबके अस्तित्व, अतएव "मैं" ही इन सबके ईश्वर अर्थात् अस्तित्व प्रतिपादक हूं,--तब जो "मैं" भिन्न भिन्न रूपसे प्रकाशित होते हैं, आत्म-मायाही उसके कारण, और स्व प्रकृति ही इसके उपकरण है;--चैतन्यसत्त्वा चित्, चित्त, अहंकार, बुद्धि, मन प्रभृति नाना क्षेत्रमें सर्वतो-व्यापी रहनेसे, जिस क्षेत्रमें जैसे रहते हैं, माया सहयोगसे उस क्षेत्रमें वैसे ही मूर्त्ति धरलेते हैं, इसीलिये उनके मनोमय चित्तमय, चिन्मय नाना प्रकार रूपके आविर्भाव होती है; ये सवही स्व प्रकृति है ।

योगवाशिष्ठमें है—"जिनके प्रभावसे निश्चेष्ट ब्रह्मकी चेष्टा सम्पन्न तथा जीवका चैतन्य समुत्पादित होवे, उसका नाम चित् है। चित् अव्यक्त है" । यह अव्यक्त चित् ही माया है। माया पहले प्रलीनावस्थासे विकाश प्राप्त होयके पश्चात् विकार द्वारा जड़त्व ग्रहण करके चतुर्विंशति तत्त्वात्मिका प्रकृतिमें परिणता होती है। इस प्रकृतिमें चैतन्य-ज्योति पड़नेसे, माया द्वारा क्षेत्र भेद करके वह नानारूपसे प्रतिफलित होती है । सृष्टि-मुखमें आवरणके क्रमिक विकाशसे एक चैतन्य ही जैसे बहुत्वमें परिणत होता है, लयमुखमें भी वैसे विपरीत क्रममें आवरणके क्षय होनेसे उनका बहुत्व नष्ट होता है; उसी समय साधक विभिन्न आवरणमें भिन्न भिन्न अवतार-मूर्त्ति देखते देखते अनन्तमें मिलके ब्रह्मत्व लाभ करते हैं ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

अन्वयः । हे भारत ! यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिः अधर्म्मस्य (च) अभ्युत्थानं भवति, तदा अहं आत्मानं सृजामि ॥ ७ ॥

अनुवाद । हे भारत ! जब जब धर्म्ममें ग्लानि तथा अधर्म्मका अभ्युत्थान होता है, तब ही मैं आत्माको सृजन करता हूं ॥ ७ ॥

व्याख्या। जिसे पकड़के वा जिसको अवलम्बन करके रहना पड़ता है, वही धर्म्म है। अन्तःकरणकी वृत्ति को धारण करके ही जीवका जीवत्व है; अतएव अन्तःकरण-वृत्ति ही जीवके धर्म्म है। अन्तःकरण—मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त-इन चार अंशमें विभक्त तथा चिन्तनादि चार प्रकार की वृत्ति वा धर्म्मसम्पन्न है। अन्तःकरणके यह एक एक अंश एक एक युग और एक एक वृत्ति धर्म्मके एक एक पाद है।

सृष्टिमुखमें चित्त ही प्रथम है; इसके क्रिया अथवा वृत्तिका नाम चिन्तन है। चित्त विकार-प्राप्त होनेसे, इसमें और एक वृत्ति बढ़ती है, उस वृत्तिका नाम अहं-वृत्ति है; तब इसका नाम पड़ता है अहंकार; जिसलिये अहंकारकी वृत्ति दो हैं—चिन्तन और अहंकर्त्तृत्व। अहंकारके विकार प्राप्त होनेसे और एक वृत्ति बढ़ती है, वह वृत्ति निश्चयकरण है; तब इसका नाम होता है बुद्धि; जिस लिये बुद्धिके तीन वृत्ति वा धर्म्म है—चिन्तन, अहं-कर्त्तृत्व, निश्चयकरण। तत् पश्चात् बुद्धि विकार प्राप्त होनेसे, उसका नाम होता है मन, उस मनमें अलग और एक वृत्ति बढ़ती है, उस वृत्तिका नाम संकल्प-विकल्प है; इसालिये मनकी वृत्ति अथवा धर्म्म चार हैं—चिन्तन, अहं कर्त्तृत्व, निश्चयकरण, और संकल्प-विकल्प। ये चार वृत्ति

ही धर्म्मके चार पाद हैं, इनहीसे अन्तःकरणकी जो कुछ क्रिया सम्पन्न होती है, निवृत्तिमार्गमें योगानुष्ठान द्वारा अन्तर्मुख-वृत्ति लेके खड़ा होनेसे, इस धर्म्ममें ग्लानि अर्थात् अवसन्नता वा हानि उपस्थित होता है, और अधर्म्मके अर्थात् अवलम्बन-विहीनताके अभ्युत्थान (अभि=निकट+उत्=ऊर्द्ध+स्था=स्थिति) अर्थात् निकट ऊर्द्धमें वा ठीक ऊपरमें स्थिति होती है। देखा जाता है—पहलेही मनः क्षेत्र वा मनोमय कोष है; यहां चिन्तनादि चार वृत्ति अर्थात् धर्म्मके चार पाद पूर्णमात्रामें क्रियाशील हैं; इसलिये मनही सत्य वा सत्ययुग (सत्य—सत्=जो है+य=सम्पूर्ण अस्तित्व जिसमें) है। बहिर्विषयसे विहीन होके मन इस मनःक्षेत्रमें प्रवेश करनेसे, साधक देखने पाते हैं कि—उनके इष्टदेव नरसिंहरूप धरके, उनके हिरण्यकशिपु रूप * वैरीभावको नष्ट करते हैं। तत् पश्चात् मनःक्षेत्र पार होनेसे ही बुद्धिक्षेत्रमें वा विज्ञानमय कोषमें आना पड़ता है, तब मनोवृत्ति ग्लानियुक्त वा म्लान हो जाता है; जिसलिये मनोवृत्ति न रहनेसे बुद्धि क्षेत्रमें उतना परिमाण निरालम्बन वा अधर्मका उत्थान होता है, तीनही मात्र वृत्ति वा धर्म्मपाद रह जाता है; अर्थात् तीन पाद धर्म्म और एक पाद अधर्म्म होता है;

* १०म अ: ३० श्लोककी व्याख्या देखो ॥७॥

इसालिये बुद्धि ही त्रेता वा त्रेतायुग है । इस विज्ञानमय त्रेतामें साधक दर्शन करते हैं कि—इष्टदेव राम रूपसे साधकके रावणरूप चांचल्यभाव (काम—भोगेच्छा) को नष्ट करते हैं । उसके बाद बुद्धिक्षेत्र अतिक्रम होनेसे ही अहंक्षेत्र वा आनन्दमय कोष है; यहां बुद्धिवृत्ति न रहनेसे फिर उतना परिमाण निरालम्बन वा अधर्म्मका उत्थान होता ह, तव केवल मात्र अहंकर्त्तृत्व और चिन्तन ये दो वृत्ति वा धर्म्मपाद वर्त्तमान रहता है, अर्थात् दो पाद धर्म्म और दो पाद अधर्म्म होता है; इसलिये अहंकार-क्षेत्र ही द्वापर युग है । इस आनन्दमय द्वापरमें अभीष्टदेव श्रीकृष्ण रूपसे आविर्भूत हो के साधकके दन्तवक्र-शिशु-पाल रूप आत्मीय भाव अर्थात् अहंत्व नष्ट करते हैं । परि-शेषमें अहंकार अतिक्रम करके चित्तक्षेत्र है; यह भी आनन्द-मय कोष है; क्योंकि आनन्दमय कोषका अहंत्वमय निम्नतर स्तर अहंकार, और अहंत्वविहीन ऊर्द्धतर स्तर चित्त है । इस चित्तक्षेत्र में एकमात्र चिन्तन-वृत्ति अवशिष्ट रहता है, अपर तीन वृत्तिका कोई भी रहता नहीं, अर्थात् यहां एक पाद धर्म्म और तीन पाद अधर्म्म होता है; इसलिये यह कलि*

---

* सृष्टिमुखमें तत्व गणनाके समय यह चित्त वा महत् ही प्रथम है, फिर अन्तःकरणके भी प्रथम है; यहांसे भी गणनाके (बल्-गणना) आरम्भ होती है; इसलिये इसको कलि कहा जाता है ॥ ७ ॥

वा कलियुग है । इस अहंत्व-विहीन महत् अवस्थामें इष्टदेव कल्कि रूपसे दर्शन देके साधकके पुनः संसार-स्फुरणके वीज स्वरूप म्लेच्छभावको नष्ट करते हैं; वही चित्तवृत्ति का निरोध है। इस चित्तवृत्तिका निरोध करनेसे और कोई वृत्ति ही रहती नहीं—अवलम्बन करके रहनेका कुछ भी नहीं रहता है, तब सर्ववृत्ति-विहीन हो जाता है; वही विशुद्ध अधर्म्म * वा निरालम्बनावस्था है । इस अवस्थामें प्रकृति साम्यावस्थाको प्राप्त होके ब्रह्माश्रया त्रिगुणात्मिका माया नामसे विभुमात्र होजाते हैं, तत् पश्चात् द्वैतभावके नष्ट होजानेसे, माया भी रहती नहीं, एकमात्र ब्रह्म ही रहते हैं । वह कैसा है सो "अवाङ्मनसोगोचरः"—वाणी-मनके अतीत (अविषय) † ॥ ७ ॥

---

* अ=नास्ति+धर्म्म, जिस अवस्थामें कोई धर्म्मही नहीं रहता॥७॥

† प्रवृत्ति निवृत्ति भेद करके जीवके कालस्रोत दो अंशमें विभक्त है; प्रति अंश फिर चार चार अंशमें विभक्त है; उस एक एक ठो विभागका नाम युग है । बहिर्जगतमें (संसार मार्गमें) जैसे प्रवृत्ति-स्रोत सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चार क्रमसे प्रवाहित है, अन्तर्जगतमें भी (साधन मार्गमें भी) तैसे निवृत्ति-स्रोत सत्य, त्रेता, द्वापर कलि—इस प्रकार युगक्रममें ही काल कटायके लययोगमें उठ जायके "अन्तिमे कलौ" मुक्ति अर्थात् कालातीत निवृत्ति पदको प्राप्त होते हैं । बृहत् ब्रह्माण्डके (सौर-जगत्की) स्वाभाविक गति तथा क्रियाके अनुवर्त्तन ही संसार-मार्ग, और उस अनुवर्त्तन करनेसे निष्कृति पानेके लिये क्षुद्र

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

अन्वयः । साधूनां परित्राणाय, दुष्कृतां विनाशाय, धर्म्मसंस्थापनार्थाय च युगे युगे सम्भवामि ॥ ८ ॥

अनुवाद । साधुओंकी रक्षा, दुष्कृतोंका विनाश और धर्म्मसंस्थापन करनेके लिये युग युग में मैं अवतीर्ण होता रहता हूं ॥ ८ ॥

व्याख्या । पूर्व श्लोकमें श्रीगुरुदेव अपने आविर्भावकी काल निर्णय करके इस श्लोकमें आविर्भावके कारण निर्देश करते हैं ।

ब्रह्माण्डमें (मानव शरीरमें) जिस प्रकार क्रियाका प्रयोजन है वही साधन-मार्ग है । मानव इच्छा करने से ही अपनेके भीतर कालप्रवाह के परिवर्त्तन कर सकते हैं, जगतके स्वाभाविक परिवर्त्तनके लिये उनको अपेक्षा करना नहीं पड़ता । संसार-मार्गमें तथा साधन मार्गमें काल-स्रोतका क्रम एक प्रकार होनेसे भी, संसारमें उस क्रमसे विकारकी बृद्धि होती है—प्रवृत्तिका प्रसार बढ़ जाता है; साधनमार्गमें उस क्रममें विकार बीत जाके निर्विकार अवस्था आती है । अतएव संसार-मार्गमें और साधन-मार्गमें काल विभागसे युगधर्म्मके विभिन्न प्रकारकी क्रिया प्रकाश पाता है । मनमें याद रखना कि, संसार और साधना एक नहीं है । संसार—प्रवृत्ति, साधना—निवृत्ति है, संसारमें जो सुख है, साधनामें सो दुःख; संसारमें जो दुःख, साधनामें वही सुखका कारण है । क्योंकि, विषय भोगसे जो सुख, उसमें ज्ञान लोप पावें; और विषय-विच्छेदसे जो दुःख, उसमें ही मनुष्यको आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त करता है ॥ ७ ॥

साधु—स=सूक्ष्मश्वास+आ=आसक्ति+धृ=धृति+उ=स्थिति—सूक्ष्मश्वासमें आसक्ति देके जो लोग धैर्य्य में स्थिति लाभ करते हैं अर्थात् निवृत्ति मार्गमें जो लोग धैर्य्यशील हैं, वे सबही साधु है। साधु होनेके लिये जो जो वृत्तिके दरकार है वह सबही साधु है, और जो जो वृत्ति अनिष्टकर है वह सब दुष्कृत् (दुः+कृत्=असत् वृत्ति) है। विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा प्रभृति साधनानुकूल वृत्ति ही साधु है; और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्षा, घृणा प्रभृति साधन-प्रतिकूल वृत्तिही दुष्कृत् है। पूर्व श्लोककी व्याख्यामें इष्टदेवके जैसे नाना प्रकारके रूपसे आविर्भावकी बात कही गई है, उनको उसी उसी प्रकार विविध मूर्त्तिमें आविर्भूत होनेसे, वो सद्वृत्ति समूह प्रबल होती है, संसारके खिंचाईसे किसी प्रकार से नष्ट नहीं होता; और वह दुष्कृत वा असत् वृत्ति समूह विनष्ट हो जाता है,--मनमें उदय होके और विषयमें विमोहित कर नहीं सक्ता। इस प्रकारसे सद्वृत्तिके परित्राण, और असत् वृत्तिके नाश होनेसे ही धर्म-संस्थापन होता है। संस्थापन—सम्=समान+स्थापि=स्थापन करना+अन्,-साम्यभावमें स्थापन करना ही संस्थापन है। धर्म—चौवीस तत्वके समष्टि वृत्ति वा क्रिया है, अतएव विषमता-समन्वित। यह धर्म लययोगसे

समेट आके चिन्मय चैतन्यमें अटक पड़नेसे ही, स्थिर समान होके मिल जाता है; वही धर्मके संस्थापन है। अर्थात् धर्मको कोई काम काज करने न देके चुपचाप बैठायके रखनेका नाम "धर्मसंस्थापन" है।

साधनाकी उन्नत्तिके साथ गुरुकृपासे आवरण भेद होके कूटस्थमें जैसे जैसे सच्चिदानन्द-ज्योतिर्मयका प्रकाश होता है, उसी उसी समय साधक आनन्दमें विभोर हो जाते हैं; संसारका अनित्यत्व तथा ब्रह्मका नित्यत्व हृदयंगम करके वैराग्यादिके साथ अधिकतर उद्यमसे प्रयत्न करते हैं, साधन-क्लेश करके भीत वा संकुचित नहीं होते; जिस लिये उनको और संसारमें मोहित होना नहीं होता, वह परित्राण पाते हैं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! मे (मम) एवं (स्वेच्छया कृतं) दिव्यं (अलौकिकं) जन्म कर्म च यः तत्त्वतः (स्वरूपतः) वेत्ति, सः देहं (देहाभिमानं) त्यक्त्वा पुनर्जन्म (संसारं) न एति (न प्राप्नोति), (किन्तु) मां एति ॥ ९ ॥

अनुवाद । हे अर्जुन ! जो हमारा इस प्रकार दिव्य जन्म और कर्मको स्वरूपतः जान लेते हैं, वह देह पातके अनन्तर और पुनरावृत्ति लेते नहीं, मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या । वो जो युग युगमें इष्टदेव चिन्मय, चित्तमय, विज्ञानमय, मनोमय प्रभृति विविध रूप से आविर्भूत होके, साधु-रक्षण, दुष्कृत-नाशन तथा धर्म-संस्थापन रूप क्रिया करते हैं, वही है उनके आत्म-माया कृत वा निज इच्छा कृत जन्म-कर्म; वह समस्त ही दिव्य (दिव्=अन्तराकाश + य = स्थिति) है, क्योंकि, वह सब अन्तरमें ही प्रकाश पाता है, बाहरमें नहीं पाता। क्रियाके अनुष्ठानसे साधनक्रममें अन्तरके भीतर उठते उठते जो उस जन्म-कर्मको जानते रहते हैं, वही तत्त्वतः (यथार्थ रूपसे) जान सकते हैं, वाणीके उपदेशसे वा पुस्तकादि पठन करके जाननेसे जानना नहीं होता। इष्टदेवके उस दिव्य जन्म-कर्मको तत्त्वतः जाननेसे देह-त्यागके (मृत्युके) समय मानस-नेत्र विषयावरण करके ढंका न पड़नेसे शुद्ध चैतन्य-ज्योतिमें लगा रहता है, जिसलिये और जनम लेनेका अवसर नहीं आता, परमागति (आत्म स्थिति) लाभ होती है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अन्वयः । ज्ञानतपसा पूताः (शुद्धाः) बहवः (अनेकाः) वीत-रागभयक्रोधाः मन्मयाः (मदेकचित्ताः) मां उपाश्रिताः (मां एव आश्रिताः सन्तः) मद्भावं आगताः (प्राप्ताः) ॥ १० ॥

अनुवाद । ज्ञान और तपस्यासे पवित्र अनेक साधक अनुराग-विहीन, भय-विहीन, क्रोध-विहीन और मदेकचित्त होके मुझको आश्रय करके मेरे भावको ही प्राप्त हुये हैं ॥ १० ॥

व्याख्या । मैं ही ब्रह्म हूं, ब्रह्म ही सब है—यह दृढ़ धारणा ही (विशुद्ध लौकिक) ज्ञान है । और "समंकाय-शिरोग्रीवं" होके, जिह्वाको उलट करके, दांतमें दांत दबा रखके, भ्रूमध्यमें प्राणको प्रवेश करानेके पश्चात् जो अव-स्थान है, वही तप है । इस ज्ञान और तपःसेही चित्त-शुद्धि होता है । इस प्रकारसे शुद्धचित्त हुये हैं--ऐसे लोग, एक जन नहीं, दो जन नहीं, बहुत ही जना 'मैं' के दिव्य जन्म कर्म्मको जानके अनुराग विहीन, भयविहीन, क्रोधविहीन 'मैं' मय होकरके एकमात्र 'मै' कोही अर्थात् कूटस्थचैतन्य अभीष्ट देव परमात्माको आश्रय स्वरूप पाके अपनेमें अपने विलयसे, चिरस्थिर हो गये । साधक ! आज जो तुमही केवल इस रस्ताके राही हो, ऐसा नहीं; बहुत ही होचुके, होके परागति पाचुके, भय क्या !॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

अन्वयः । हे पार्थ ! ये (जनाः) मां यथा (येन भावेन निष्काम-तया सकामतया वा) प्रपद्यन्ते (भजन्ति), अहं तान् (जनान्) तथा

एव (तेन भावेन एव) भजामि; यतः मनुष्याः सर्वशः (सर्वप्रकारैः) मम वर्त्म (मार्गं) अनुवर्त्तन्ते ॥ ११ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! मुझको जो जो जिस जिस भावमें भजना करता है, मैं उन सबको उसी उसी भावसे ही भजना करता रहता हूं । क्यों कि, मनुष्य लोग सर्व प्रकारसे हमारे ही पथका अनुर्वत्तन करते हैं॥११॥

व्याख्या । बहुत लोग मद्भाव प्राप्त हुये हैं सही, किन्तु उन सबका ही मूल है विश्वास; क्योंकि,— 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'—अर्थात् जिसके मनके भाव जैसे हैं, उसको उसी प्रकारकी सिद्धिलाभ होती है । साधक साधनामें अपने को मुक्त-बन्ध, लिप्त-निर्लिप्त, सकाम-निष्काम, एक-बहु प्रभृति जिस भावमें सजावेंगे, साधन फल करके उनकी आत्मा भी उसी भावसे सज करके उनको ग्रहण करेंगे, अर्थात् वह उसी प्रकार अवस्थाको पावेंगे । इसका कारण यह है कि मनुष्य * सर्व प्रकारसे आत्ममताका ही † अनुवर्तन करता है, अर्थात् अपने विश्वासके अनुरूप गति पाता है ।

* सुसम्पन्न मनोवृत्तिशील जीवही मनुष्य है ॥ ११ ॥

† जिस जिस विषयमें जिसके मतसे जो है, उस उस विषयमें वह उसी उसी मतामें चलता है, दूसरे मतामें चलता नहीं; जिसलिये उसी उसी विषयमें उसके अपने मताही उसके अन्तःकरणके (मनके) वर्त्म अर्थात् पथ हैं ॥ ११ ॥

जल मथन करनेसे उसमें जैसे बहुतसा तरंग बुद्बुद् और फेन उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भगवान् अपनी इच्छा शक्तिसे ही अपनेको मथन करके आपही आप इस विश्वजगतको साज लिये हैं। तरंग, बुद्बुद् और फेन जैसे जल बिना और कुछ नहीं है, केवल नाम और रूप करके अलग है; यह विश्वजगत् भी वैसे आत्मा बिना और कुछ नहीं। तब भी मनुष्य जो अपनेको आत्मासे अलग मनमें मानलेते हैं, उसका कारण है भ्रम; वह भ्रम ही है माया। जिसलिये मनुष्योंके मनमें जो कुछ भाव—सकाम हो, निष्काम हो, सु हो, कु हो, जैसे ही हो—सब एक आत्माके ही भाव हैं। जैसे एकही ज्योति लाल, नील, श्वेत, हरा प्रभृति कांचके भीतर होके बाहर आके भिन्न भिन्न रूपसे प्रकाश पाता है, वैसे एक आत्मा अपनी ही इच्छा शक्ति वा माया-शक्तिके विकार करके अपना हुआ चौबीस प्रकार तत्वके संयोगसे नाना प्रकार भावमें प्रकाश पाते हैं। ये चौबीस तत्व ही आत्मा के वर्त्म वा पथ हैं, अर्थात् आत्मा इन सब तत्व क्रमसे ही मायाका विस्तार करके स्वयं विश्व-साजसे सजे हुये हैं, ये सब ही आत्मा हैं। इसलिये उनके जीव-होनेका भाव, अपना ही इच्छाभ्रममें अपनेको आत्मासे भिन्न ज्ञान करके विविध-तत्त्वमयी मूर्त्ति करके पृथक् ज्ञानमें मोहित

होनेसे भी, उनके एक "मैं" को ही ग्रहण करना होता है; किन्तु उनके मनमें एक ज्ञान न होके बहुज्ञान रहनेसे, उनको अपना इस बहु-विश्वासके अनुरूप बहुत्त्वमें रहना पड़ता है, वह एकत्वमें मिलने नहीं सक्ते। लाल, नील, कांचका आवरण हटा देनेसे ज्योतिके जैसे विविध रंग मिट जाके एक मात्र स्वरूप ज्योति खिल आती है, तैसे स्थिर विश्वास करके अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धिसे अपनेको "मैं" ज्ञान करके लय-योगका अवलम्बन करनेसे ही सब आवरण आपही आप क्षय होता है, तब मैंही "मैं" यह ज्ञान आ करके "मद्भावमागतः" होता है ॥ ११ ॥

कांक्षन्तः कर्म्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्म्मजा ॥१२॥

अन्वयः। कर्म्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः इह देवताः यजन्ते, (किन्तु) कर्म्मजा सिद्धि मानुषे लोके क्षिप्रं भवति हि (इति निश्चयः) ॥१२॥

अनुवाद। जिन सबको बहु कर्म्मसिद्धिकी आकांक्षा रहती है, सो सब इह लोकमें देवतायों का यजन करते हैं; किन्तु मानुष-लोकमें कर्म्मज सिद्धि शीघ्रही होती है ॥ १२ ॥

व्याख्या। प्राप्तिकी प्राप्ति अर्थात् कैवल्यशान्ति वा सुख दुःखादि-द्वन्द्व-विमुक्ति ही सिद्धि है। शब्दादि विषयको

अतिक्रम करके अविषय-क्षेत्र चिदाकाशमें प्राणको फेंकने से जो स्थिर भाव आता है, उसीका नाम सिद्धि है। साधनाकी सुविस्ताके लिये प्रथमक्रिया, द्वितीयक्रिया, तृतीयक्रिया प्रभृति गुरुदत्त विविध कर्म्मका जो अनुष्ठान करना पड़ता है, उसके पृथक् पृथक् फल हैं, वही सब विभूति हैं। वह सब त्रिविध कर्म्म कर्त्तव्य बोध करके, आदेश पालनके अनुरोधसे, अपने स्वार्थ सिद्धिकी इच्छा न रखके आचरण करना ही विधि है; ऐसा होने सेही सिद्धि लाभ होती है। किन्तु साधक यदि हृदयकी दुर्बलताके लिये क्रियाकालमें उसी उसी कर्म्मके फलके प्रति आसक्ति रखके कर्म्म करते रहें—मन ही मनमें कैवल्य-शान्तिकी आकांक्षा करे, ऐसा होनेसे उसके "इह" अर्थात् धर्म्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र रूप योगमार्गमें देवतायों की आराधना करनी होती है; अर्थात् मनके भीतर आकांक्षा वा कामना रहनेसे, प्रति चक्रमें कर्म्म करते करते एक एक कर्म्मके परिपाक होनेसे ही उसी उसी कर्म्मके अधिष्ठात्री देव देवी साधकके लक्ष्यस्थलमें आविर्भूत होके काम्यफल देते हैं; मनके भीतर कामना हेतु बहुभावके वर्त्तमान रहनेसे, देवदर्शन होनेसे भी, बहुभावके बन्धनमें पड़के उसी उसी कर्म्मफलका भोग करना ही पड़ता

है, कर्म्मक्षय होता नहीं;—सुकृति लाभ होता है सही, किन्तु शान्ति लाभ होता नहीं—"मै" होने सकते नहीं। किन्तु मानुष-लोकमें कर्म्म अनुष्ठित होनेसे, सिद्धि अर्थात् प्राप्तिकी प्राप्ति जो कैवल्य-शान्ति, सो शीघ्रही मिलता है। मन्=वेद अर्थात् ज्ञान, उ=स्थिति; ज्ञान जिसमें स्थित होवे सोही मनु वा मन है। इसी मनु वा मनसे जो सब वृत्ति उत्पन्न होता है, वही मनुष्य वा मानुष। इन मनोवृत्तिकी उत्पत्ति स्थान ही मानुष-लोक। भ्रूमध्यस्थ आज्ञा ही मनके स्थान है। मन विशुद्ध अवस्थामें शुद्ध सत्वमय है। इस अवस्थामें यह मन सुषुम्नाके अन्तर्गत ब्रह्मनाड़ीके भीतरमें जो शुद्ध सत्त्व-मय ब्रह्माकाश है, उसको आश्रय करके नीचे मूलाधार पर्य्यन्त व्याप्त हो के प्रकाश पाता है; पश्चात् रजोमय प्राणके साथ मिलनेसे ही मन क्रियाशील होता है, तब उससे नाना वृत्तिका उदय हो के भूर्भुव आदि लोक समूहका प्रतिपालन होता रहता है, इस शुद्ध सत्व-मय मनके आश्रय स्थान ब्रह्माकाश ही मानुष-लोक है। इस मानुष लोकमें कर्म्मज सिद्धि क्षिप्र (शीघ्र) होता है, अर्थात् क्रिया-कालमें, किसी चक्रके प्रति वा अगल बगलका किसी चीजको लक्ष्य न करके, एकमात्र अतीव सूक्ष्म ब्रह्मनाड़ीके आकाश-को अवलम्बन करके गुरूपदेश अनुसार प्राण-चालन करने

से ही, उसके ऐसेही प्रभाव है कि, मनके आकांक्षा मिटजाय के विषय-संग कट जाता है, और लक्ष्य एकमात्र तारक-ब्रह्म नादविन्दुमें अटक जाता है । इसलिये इस समय मन निरालम्ब-भावसे व्योमचारी होनेसे तथा और कोई प्रतिबन्धक न रहनेसे, शान्ति वा कैवल्यस्थिति शीघ्र आता है । यह एकवारगी स्थिर निश्चय है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

अन्वयः । गुणकर्म्मविभागशः (गुणानां कर्म्मणां च विभागैः) मया चातुर्वर्ण्यं (चत्वार एव वर्णाः) सृष्टं, तस्य कर्त्तारं अपि मां अकर्त्तारं अव्ययं विद्धि ॥ १३ ॥

अनुवाद । गुण और कर्म्म विभागसे मैं चारो वर्णोंका सृजन किया हूं; उसके कर्त्ता होनेसे भी मुझको अकर्त्ता तथा अव्यय जानना ॥१३॥

व्याख्या । मानुष-लोकमें सिद्धि वा नैष्कर्म्यावस्थाकी प्राप्ति शीघ्र होता है सही, किन्तु शक्तिलाभ होता नहीं; क्योंकि, वर्णभेद करके अधिकारी भेद है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारवर्ण; ये सब सत्त्व, रज, तमः इन तीन गुणोंके कर्म्म विभागके अनुसार अलग अलग किया हुआ है। सत्त्वका कर्म्म प्रकाश

करना, रजोका कर्म्म क्रिया करना और तमोका क्रिया स्थिर करना है। शरीरमें तीन गुण सब समयमें समान नहीं रहते; विषय-संसर्ग भेद करके मनमें जो भावान्तर होता है, उसमें गुणका भी तारतम्य होता है। शरीरका सत्त्वप्रधान अवस्थामें अन्तराकाश शुभ्र ज्योतिसे परिपूर्ण होता है, उसमें विश्वके जो कुछ सब स्थिर भावसे प्रकाश पाता है; यह विश्वप्रकाशक वर्ण ही ब्राह्मणवर्ण है, शरीरमें सत्वरजके प्रधान होनेसे, अन्तराकाश फीका लाल रंगसे रंजित होता है; तब जो कुछ प्रतिफलित होता है, वह सब चंचलतामय तथा तेज करके परिपूर्ण है; यह तेज और चंचलतामय वर्ण ही क्षत्रियवर्ण है। शरीरके रजस्तमःप्रधान अवस्थामें अन्तराकाश जरा हुआ (काला मिला हुआ) लाल रंग करके रंजित होता है; इस समयमें कोई विम्ब ही लक्ष्य होता नहीं; जो कुछ हो वह आवछाया आवछाया, फिर चंचलतामय; यही वैश्यवर्ण है। और तमःप्रधान अवस्थामें अन्तराकाश गाढ़ा अन्धकार करके ढंका रहता है; तब न चंचलता, न प्रकाश कुछ भी लक्ष्य नहीं होता, धारणा भी नहीं होती; यही शूद्रवर्ण है।

साधनाका पूर्वावस्था ही साधकका शूद्रवर्ण है। जबतक यह अवस्था रहे, तबतक अन्धवत् शरीरकी

परिचर्य्या वा सेवा मात्र ही होता है, बहिर्विषय छोड़ करके अन्तरका कोई किसीका अधिकार नहीं होता। पश्चात् साधनामें प्रवृत्त होके जब वायुको आकर्षण करके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें आदान प्रदान करसकें, तब मेरुदण्डके शिरा प्रशिराकी जड़ता धीरे धीरे नष्ट हो जाके एक स्वच्छन्दता आती रहती है, और अन्तरमें एक शक्ति की वृद्धि होती है, उसमें क्रम अनुसार अंधियारा दूर होता रहता है, भीतरमें क्या जाने क्या है, कह करके एक बोध होता है, और शरीरके भीतर बाहरमें चंचलता की वृद्धि होती है; साधनामें यह अवस्था जब तक रहे तबतक साधकका वैश्यवर्ण है। पश्चात् जब श्वास सूक्ष्म हो आके श्वेतरक्तिमोज्ज्वल ज्योति करके अन्तर आलोकित होता है, तब शरीर और मनमें एक तेजका संचार होता है; उसी तेजसे साधनक्लेश तुच्छ हो जाता है; इच्छानुरूप प्राणका उत्थान पतन होनेसे, उसके सहारेसे चक्र समूहके विविध स्थान प्रस्फुरित तथा दृष्टिगोचर होता है, और उसी उसी स्थानकी विभूति वा शक्तिविशेष अपना आयत्तमें आता है; यह अवस्थाही साधकका क्षत्रियवर्ण है। अन्तमें इस अवस्थाके परिपाक काल करके जब रजोगुण की चंचलता और तेज घट जाता है, और अन्तरकी

लालिमा कटजाके उज्ज्वल श्वेतवर्णका विकाश होता है, तब शरीर और मन शान्त, उद्वेगरहित तथा प्रसन्न होता है; यह अवस्था ही साधकका ब्राह्मणवर्ण है । प्रणव-मूल वेदमें अधिकार पाके, ब्रह्मविद्याको पूर्ण रूपसे प्रबोधित करके ब्रह्मबल लाभ करना हो तो, साधकको सद्‌गुरूपादिष्ट क्रियाके अनुष्ठान करके द्विज होके वैश्य-क्षत्रिय-ब्राह्मणवर्ण-क्रमसे साधन-मार्गकी चरम सीमामें आना पड़ता है, नहीं तो किसीमें कुछ होता नहीं । इस लिये शास्त्रमें वर्ण भेद करके अधिकारी भेदका विधान है । ब्रह्मबल एक विभूति अर्थात् श्रेष्ठतप शक्तिविशेष है; इसलिये ब्राह्मण न होनेसे किसीसे ही सो शक्ति लाभ होती नहीं । किन्तु परागति वा मुक्ति शक्ति नहीं है, अवस्थाविशेष है; इसीलिये इसमें अधिकारी भेद नहीं । भक्तिपूर्वक इष्टमन्त्रका अवलम्बन करके जो कोई आत्मानु-सन्धानकी चेष्टा करेगा वही, ब्राह्मण-क्षत्रियकी बात क्या "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः"—स्त्री, वैश्य और शूद्र जो वर्ण और जो जाति हो, कोई चिन्ता नहीं, परित्राण अर्थात् कैवल्य-शान्ति पावेगा । साधन मार्गमें गुरूपादिष्ट विधान क्रममे एकमात्र मानुष-लोक ही उन सबका आश्रयस्थल है ।

वो जो तीन गुणके कर्म्मविभागके अनुसार चार

वर्ण हुआ है, वह "मैं" कीही क्रिया है। क्योंकि "मैं" और "मैत्व" ये दो पृथक् भावापन्न (धोखा) होनेसे भी जैसे पृथकता नहीं, विशुद्ध चैतन्य और अविशुद्ध चैतन्यभी तैसे दृश्यतः पृथक् होनेसे भी वस्तुतः पृथक् नहीं है। चैतन्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा अकर्त्ता होनेसे भी उनका जो 'तत्-त्व' अर्थात् माया हैं, उनसे ही उन्होंने अविशुद्ध होके क्रम अनुसार स्थूलसे स्थूलतम विश्व-साज सजके प्रकटित हुये हैं, और मिश्र तीन गुणके चार वर्ण बनाये हैं ॥ १३ ॥

न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभिर्न स बध्यते॥१४॥

अन्वयः। कर्म्माणि मां न लिम्पन्ति, (यतः) कर्म्मफले मे स्पृहा न (अस्ति); इति (एवं) मां यो जानाति सः कर्म्मभिः न बध्यते ॥ १४ ॥

अनुवाद । कर्म्मसमूह मुझको लिप्त कर नहीं सक्के, कर्म्मफलमें मेरा स्पृहा नहीं। जो मुझको इस प्रकार जानते हैं, वह कर्म्म समूह से आबद्ध नहीं होते ॥ १४ ॥

व्याख्या। जिन्होंने क्रियायोगसे मनको विषय-विहीन करके पंचतत्त्वके ऊपर उठ करके अपना स्वरूप देखे हैं, वह अच्छी तरह समझे हैं कि, कर्म्ममें निर्लिप्त होना तथा कर्म्मफलमें स्पृहाशून्य होनेका स्वरूप

कैसा है। साधक योगानुष्ठानसे अपना उस प्रकार आत्मभावको जानलेके नित्यसत्त्वस्थ होते हैं इस करके देहत्यागके समय वह जिस अवस्थामें रहें, तब उनका "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः" उत्तरायण काल उपस्थित होता है, जिसलिये अपुनरावृत्ति गति लाभ होती है; और उनको पुनः देहधारण रूप कर्म्मबन्धनमें फंसना नहीं पड़ता ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्म्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

अन्वयः । एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः (जनकादिभिः) अपि कर्म्म कृतम्; तस्मात् त्वं पूर्वैः (मुमुक्षुभिः) कृतं (अनुष्ठितं) पूर्वतरं (प्रथमं) कर्म्म एव कुरु ॥ १५ ॥

अनुवाद । पूर्व पूर्व मुमुक्षुगणभी इसी प्रकार जानके कर्म्म कर गये हैं; अतएव तुम पूर्व पूर्व मुमुक्षुगणके आचरित पूर्वतर (प्रथम) कर्म्म ही किया करो ॥ १५ ॥

व्याख्या । सच है कि, आत्माको निर्लिप्त और स्पृहाशून्य भाव करके जाननेसे और कर्म्मबन्धनमें पड़ना नहीं होता, किन्तु वैसा कह करके कर्म्मत्याग किया जा नहीं सक्ता; क्योंकि, कर्म्मत्यागी सिद्धके भी पतन की सम्भावना है, किन्तु कर्म्मीके किसी प्रकारसे पतन

की सम्भावना नहीं है । इसीलिये " कर्म्म ज्यायोह्य-कर्म्मणः" है । पूर्व मुमुक्षुगण जो लोग सब आत्मभावको अच्छी तरह जान लिये थे तथा समझ लिये थे कि, कर्म्ममें और फंसना न पड़ेगा, वह लोग भी कर्म्मको त्याग नहीं किये थे, वह यथारीति कर्म्मका आचरण करते ही चले गये । इसीलिये श्रीगुरुदेव कहते हैं—अर्जुन! तुम कर्म्म करो, पूर्व पूर्व मुमुक्षुगणने जिस प्रकारसे कर्म्म किया था, तुमभी उसी प्रकारसे प्राणायाम रूप प्रथम कर्म्म किया करो ॥ १५ ॥

किं कर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥

अन्वयः । कर्म्म किं, अकर्म्म (तुष्णीमासनं) किं इति अत्र (अस्मिन् विषये) कवयः (मेधाविनः, विवेकिनः) अपि मोहिताः (मोहं गताः), (अतः) ते (तुभ्यं) अहं तत् कर्म्म (कर्म्माकर्म्म च) प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अशुभात् (संसारात्) मोक्ष्यसे ॥ १६ ॥

अनुवाद । कर्म्म क्या ? अकर्म्म भी क्या ?—इस विषयमें कविलोग भी मोहित होते हैं; अतएव मैं तुमको उसी कर्म्मका विषय कहता हूं जिसे जाननेसे अशुभसे मुक्ति लाभ कर सकोगे ॥ १६ ॥

व्याख्या । जो प्रतिकथामें नवीन (नयेनये) भाव प्रकाश करते हैं, उनको कवि कहते है । जो भावावस्था

के शुरूसे प्रारम्भ करके, प्रतिदिन के अभ्याससे थोड़ा थोड़ा अग्रसर होते होते, भावातीत होते जाते हैं, उनमें प्रति क्रमसे नये नये अलौकिक घटनावलीका प्रकाश तथा विवेक-ज्ञानका उदय होता है, इस करके वह भी कवि; फिर जो क्रियाकांडके प्रथमसे आरम्भ करके नित्य अभ्याससे ज्ञानावस्थामें पहुंचनेके लिये अग्रसर होते हैं, उनके अन्तरावरणके दिन पर दिन क्षय होते रहनेसे, क्रम अनुसार तत्त्व समूह कारणके साथ नूतन प्रकारसे उनके दृष्टिगोचर होते रहते हैं,--जाग्रत अवस्थामें पुनरावृत्ति होने से भी, उसी दृष्ट तत्त्व समूहका स्मरण रहता है, इस करके, पुनराय क्रियाकालमें उनका पथ सुगम होता है; यह मेधा शक्ति तथा तत्वज्ञान सम्पन्न साधक भी कवि हैं। इस प्रकारसे क्रियामार्गमें प्रत्यह उन्नतिशील विवेकी मेधावी तत्वज्ञ साधकके भी, जाग्रत अवस्थामें शरीर-धर्म्म प्रतिपालनके लिये शब्दस्पर्शादि विषय भोग करनेसे, चित्तमें संगदोष-स्पर्श होता है। इसलिये फिर दूसरे रोज क्रियाके समय सुषुम्नामार्गमें आत्ममन्त्रका स्मरण करते करते उठ जानेसे भी, समाहित होनेके पहिले विषय-संस्पर्शके लिये वृत्तिनिचय मनमें उदय होते हैं; किन्तु तब मन क्षीण होके अवश हो आनेसे, विषय-स्मृतिकी खिंचाईमें पड़के चैतन्यसे विच्युत हो जाता है;

इसलिये चैतन्यमें समाहित न होके विषयमें समाहित होने पड़ता है। समाधिके ठीक पूर्व क्षणमें वो जो क्षीण स्मृति-सम्पन्न अवश अवस्था आती है, उस समय कर्म्म-वेग चैतन्यमुखमें रहता है, कि विषयमुखमें रहता है, उसका ज्ञान रहता नहीं; जिसलिये समाधिमें जो तुष्णीम्भाव होता है, वह ठीक अकर्म्म है कि नहीं अर्थात् वह स्थिरभाव चैतन्यमें या जड़ विषयमें, वह भी समझनेकी शक्ति नहीं रहती; इस समयमें मोहित होयके रहना पड़ता है, "कर्म्म अकर्म्म" का बोध रहता नहीं। समाधि भंग होनेके पश्चात् जब मन अच्छी तरह जाग उठता है, तब वो स्थिरभाव योगनिद्रा वा समाधि है, या विषयनिद्रा वा निद्रा है, वह समझमें आता है। क्रिया करके भी जो विषय-निद्रामें अभिभूत होना पड़ता है, यही अशुभ है, क्योंकि यही संसार-बन्धन है, कौन कर्म्म करनेसे इस अशुभसे मुक्ति मिलती है, वही उपदेश श्रीगुरुदेव पश्चात्के श्लोकोंमें प्रकाश करते हैं ॥ १६ ॥

कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्म्मणः ।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्म्मणो गतिः ॥१७॥

अन्वयः । "हि (यस्मात्) कर्म्मणः (शास्त्रविहितस्य) अपि बोद्धव्यं (अस्ति), विकर्म्मणः (प्रतिषिद्धस्य) च बोद्धव्यं (अस्ति एव),

(तथा) अकर्म्मण: (तुष्णीम्भावस्य) च बोद्धव्यं (अस्ति); (यस्मात) कर्म्मण: (कर्म्माकर्म्मविकर्म्मणां) गतिः (याथात्म्यं तत्त्वं) गहना (विषमा दुर्ज्ञेया) । "—इति शंकरः ॥ १७ ॥

अनुनाद । कर्म्म समझना होवेगा. विकर्म भी समझना होवेगा, तथा अकर्म्म भी समझना होवेगा, क्योंकि कर्म्मकीगति गहना (अतीव दुर्ज्ञेया) है ॥ १७ ॥

व्याख्या । कर्म्म ही जगत् , कर्म्म ही संसार है । कर्म्मकी गति गहना है। जो परमेश्वरी, माहेश्वरी शक्ति * वा माया है वही गहना है। वही दुर्ज्ञेया दुरत्यया माया ही कर्म्मकी गति अर्थात् आश्रय वा परिणाम है, जिसलिये माया ही कर्म्मरूपिणी जगद्धात्री है । माया जैसे एक ही पदार्थमें अनन्त भाव विकाश करके जीवको वही सब भाव करके नवीन ज्ञानमें मोहित करती है, कर्म्म भी वैसे अनुष्ठित होनेसे विविध आकारसे विविध फल प्रसव करता है । गुरुब्रह्म श्रीभगवानने उसी विशाल कर्म्मके स्वरूप ज्ञानको समझा देनेके लिये, गतिभेदसे कर्म्मको तीन अंशमें विभाग किये हैं,--(१) कर्म्म, (२) विकर्म्म, और (३) अकर्म्म ।

(१) कर्म्म। "भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः ।" --'भूत' अर्थमें जीव, 'भाव' अर्थमें अवस्था; अतएव

* "या सा माहेश्वरी शक्तिर्ज्ञानरूपातिलालसा ।
व्योमसंज्ञा पराकाष्ठा सेषा हैमवती सती" ॥ १७ ॥

'भूतभाव' अर्थमें चैतन्यका जीवावस्था वा जीव भाव है । और 'उत्' अर्थ करके ऊर्द्धमें अर्थात् पंचतत्त्वके ऊपर वा आज्ञाचक्रमें, तथा 'भव' अर्थमें स्थिति; इसलिये ऊर्द्धमें स्थिति का नाम 'उद्भव' हुआ । 'विसर्ग' अर्थमें त्याग, निश्वास त्याग वा प्राणत्याग । जो विसर्ग जीव भावके उद्भवकारी, अर्थात् जिस प्रकारसे निश्वासत्याग करनेसे जीवभावका उद्भव हो, और जीवभावको शिवभावमें स्थापन करे, उसीका नाम कर्म्म है; अर्थात् जिस प्रकार प्राणचालनसे जीवात्मा परमात्मामें मिलते हैं, उसीको ही कर्म्म कहते हैं ।

(२) विकर्म्म । वि = विपरीत + कर्म्म । जिस कर्म्मके लिये जीवको संसारमें आना अर्थात् शरीर धारण करना और विषयमें उतरना पड़ता है, वही विकर्म्म है । यह विकर्म्म पूर्वकृत कर्म्मके संस्कार, संचित और प्रारब्ध कर्म्मरूपसे जीवको फलभोग कराता है ।

(३) अकर्म्म । कर्म्म जब परिसमाप्त होता है, अर्थात् जब प्राण और अपान मिलकर स्थिर हो जायके वृत्तिविस्मरण होवे—तुष्णीम्भाव आवे, वही अकर्म्म (जो कर्म्म नहीं) है । [अवतरणिका (४) परिच्छेद देखो] ।

"मैं—मेरे" वा "आत्मा-विषय" इन दोनोंकी मिश्र-अवस्था ब्रह्म, मिल-अवस्था शिव (दृष्टि), और छाड़

(अलग)-अवस्था जीव (सृष्टि) है * । जिस क्रियासे विषयका विकाश हो, वह विकर्म्म, और जिससे आत्माका विकाश हो, वह कर्म्म है; मुख्य बात यह है कि विषयमुखी वृत्ति विकर्म्म, आत्ममुखी वृत्ति कर्म्म है । आत्ममुखी वृत्तिमें जब "मेरे" आयके "मैं" मे मिले, तब आत्म-चैतन्यमें जो वृत्तिविहीन स्थिरभाव आता है वही योगशास्त्रका अकर्म्म है । (पर श्लोक देखो) ॥ १७ ॥

कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत॥१८॥

अन्वयः । यः कर्म्मणि अकर्म्म, यः च अकर्म्मणि कर्म्म पश्येत्. मनुष्येषु सः बुद्धिमान् सः युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् (च) ॥१८॥

---

* इन तीन अवस्थाओंका एक उदाहरण दिया जासक्ता है । एक टुकड़ा मिश्रीको जलमें भिङ्गोय देनेसे, जब तक मिश्रीका कठिन अवस्था रहता है, तब तक जल और मिश्रि के छाड़ (अलग) अवस्था । मिश्री गलगया. लेकिन वो गला हुआ अवस्थामें एक जगहमें स्थिर हुआ है; व्याप्त होके सब जलको मिठा किया नहीं, तब जल-मिश्रीके मिल अवस्था; और मिश्री जब व्याप्त होके सब जलको मीठा कर चुके, जल-मिश्री एकरस होय गये, तब जल-मिश्रीके मिश अवस्था जानो ॥ १७ ॥

अनुवाद । जो कर्म्ममें अकर्म्म तथा अकर्म्ममें कर्म्म देखते हैं, मनुष्यके भीतर वही पुरुष बुद्धिमान वही पुरुष युक्त, और वही पुरुष कृत्स्नकर्म्मकृत् हैं ॥१८॥

व्याख्या । साधन-समयमें साधकके ऊपर दो महाशक्ति कामकाज करती है, एक विकर्म्म शक्ति (यह अपान वायुकी क्रिया है) और एक कर्म्म शक्ति । कर्म्म साधकको आत्मामें स्थिर करके गहनापार अर्थात् मायातीत करनेकी चेष्टा करता है, और विकर्म्म उनको खींचके विषयमें रखनेकी चेष्टा करता है । शरीर ही समष्टि-विकर्म्म क्रिया है । यह विकर्म्म एतनाही प्रबल है कि, कर्म्मयोगसे आत्मचैतन्यमें स्थिति लाभ करनेके ठीक पूर्वक्षणमें ही यह (विकर्म्म) शब्दस्पर्शादि कोई एक विषयको मनके भीतर जगाय देके चैतन्यको ढांक देता है; तब, कर्त्तृत्व मिट जाके निश्चेष्ट क्रिया होते रहने से, अवश मन चैतन्यमें स्थिर न होके उसी विषय लेके स्थिर हो जाता है । इसलिये वह स्थिति अकर्म्म न होयके विकर्म्म-भोग हो जाता है (१६ श्लोक देखो) । फिर ऐसा भी होता है, साधक जब अकर्म्ममें ही स्थिति पाके कर्त्तृत्वहीन स्वाभाविक निश्चेष्ट क्रियासे (जलमें गली हुई मिश्रीके सदृश) क्रम अनुसार व्याप्त होके परमात्मा-ब्रह्ममें घुल जायके मिलकर एक रस होते जाते हैं,

तब शारीरिक प्रबल विकर्म्मकी ताड़नासे वो स्थिर अवस्था, निद्रा टूटके चमक आनेके सरिस टूट जाता है, इस करके फिर शब्दस्पर्शादि-संकुल विकर्म्ममें आना पड़ता है। इस प्रकारसे प्रतिदिन नियमित क्रियामें अभ्यास दृढ़ होनेके पश्चात् विकर्म्मका वेग क्रम अनुसार क्षीण, और कर्म्मका वेग प्रबल होता है; तब क्षणस्थायी अकर्म्म-स्थिति धीरे धीरे बहुक्षणस्थायी होता है। बहुक्षण-स्थायी अकर्म्मस्थिति भोग करते करते जब मन मैं-मय हो जाता है, तब विकर्म्ममें उतर आने से भी * और विकर्म भोगसे अभिभूत होने नहीं पड़ता, कारण यह है कि चैतन्यमें स्थितिलाभ करके जो आत्मानन्दास्वाद मिलता है, मन उसमें विभोर रहनेसे, लक्ष्य उसी तरफ ही रहता है, इसलिये तब भी तत्साधनोपयोगी प्राणकर्म्म होता ही रहता है। इस अवस्थामें साधक कर्म्म करनेसे भी उसी आत्मानन्दमें लक्ष्य रहनेसे उनको अकर्म्म भोग भी होता रहता है; फिर अकर्म्मसम्भूत आत्मानन्दमें लक्ष्य रहनेसे भी, कर्म्म करनेके लिये कर्म्मज्ञान भी रहता है;

* निद्राका परिपाक करके शारीरिक ग्लानि नष्ट होके निद्रा जैसे आप ही आप भंग होजाती है, अकर्म्मस्थिति वा समाधि भोग भी वैसे परिपाक पाके मनमें शान्ति सञ्चार करके आपही आप भंग हो जाता है॥ १८॥

इस करके उनका एकाधारमें कर्म्म अकर्म्म दोनों ही होता रहता है। अतएव उनके कर्म्ममें अकर्म्मका और अकर्म्ममें कर्म्मका दर्शन होता है । इस प्रकार साधकही बुद्धिमान है; कारण उनका बुद्धि विषय-विमुख होनेसे आत्मामें लगकर स्थिर होकर रहता है, विक्षिप्त (खरचा) नहीं होता। इस वास्ते वह युक्त है । और भी वह कृत्स्नकर्म्मकृत् है, अर्थात् विकर्म्म-विक्षेप-विहीन सम्पूर्ण कर्म्मके अनुष्ठान करके "मैं" और "मेरे" मिल जाके, मिशके एक हो जानेके ठीक पूर्व पर्य्यन्त जो सूक्ष्मातिसूक्ष्मतम वृत्ति रहती है, उसमें, प्रवृत्ति-निवृत्ति भेदसे जितने प्रकारका कर्म्म है, उन सबका तत्त्व वह जानते हैं; इस करके वह सर्वज्ञ है। (जीवन्मुक्तावस्था यही है; इसके बादही शरीर त्यागसे विदेह ब्रह्मत्त्व है) ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

अन्वयः। यस्य सर्वे समारम्भाः (कर्म्माणि) कामसंकल्पवर्जिताः (कामैस्तत्कारणैश्च संकल्पैर्वर्जिताः) बुधाः (ब्रह्मविदः) ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तं पण्डितं आहुः ॥ १९ ॥

अनुवाद। जिनके कर्म्म सकल कामसंकल्पवर्जित हैं, ज्ञानाग्निमें उनके समुदाय कर्म्मके दग्ध हो जानेसे, बुधगण उनको पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या । विषय-बासनाका नाम काम है; आकांक्षा वा इच्छा मात्रका नामही संकल्प है। संकल्पसे ही कामकी उत्पत्ति है । मुक्तिकी इच्छाके लिये जो संकल्प किया जाय, कामना होनेसे भी वह कर्म्मबन्धनमें लाय नहीं फंसाता, इस करके उसको काम नहीं कहा जाता । पंचतत्त्वका नामही सर्व है; गुरूपदेशके अनुसारसे चित्तशुद्धिके लिये पंचतत्त्वमें जितने प्रकारकी प्राणक्रिया की जाती है, वह समस्त ही सर्व-समारम्भ है। जिनका समारम्भ समूह अर्थात् ये समस्त प्राणक्रिया काम और संकल्पविहीन है, अर्थात् क्रियासे जिनकी विभूति लाभकी तथा मुक्ति लाभकी भी इच्छा न रहे, जो अबाधतः केवल गुरु-वाक्य पालन करते हैं, उनके कर्म्ममें अकर्म्म और अकर्म्ममें कर्म्मका दर्शन होता है; इसलिये उस अवस्थामें उनको को आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें उनका सकल कर्म्म ही दग्ध हो जाता है; लोकसंग्रहार्थ वा शरीर यात्रा निर्व्वाहार्थ (लोक चक्षुमें) कर्म्म अनुष्ठित होने से भी, वह कर्म्म और अंकुरित नहीं होता, अर्थात् उस कर्म्म से फलोत्पन्न होके उनको और कर्म्ममें लिप्त कर सकता नहीं। इस प्रकार साधक ही पण्डित अर्थात् ज्ञानी है । (२०-२२ श्लोकमें इस पण्डितकी अवस्थाकी वर्णना की गई है) ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्म्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥२०॥

अन्वयः । सः (पण्डितः) कर्म्मफलासंगं (कर्म्मफले आसक्तिं) त्यक्त्वा नित्यतृप्तः (आत्मानन्दे तृप्तः, निराकांक्षः इत्यर्थः) (अतएव) निराश्रयः (आश्रयनीयरहितः सन्, आत्मना एव आत्मनि स्थितः इत्यर्थः) कर्म्मणि अभिप्रवृत्तः अपि न एव करोति (निष्क्रियात्मदर्शन सम्पन्नत्वात्) २० ॥

अनुवाद । वह कर्म्मफलके ऊपर आसक्ति त्याग करके नित्यानन्दमें परितृप्त तथा निरालम्ब होनेसे, कर्म्ममें प्रवृत्त रहनेसे भी कुछ भी नहीं करते ॥ २० ॥

व्याख्या । जो पण्डित हैं, उनका कर्म्मफलमें आसक्ति त्याग होजानेसे, वह नित्यानन्दमें परितृप्त रहते हैं, उनका और दूसरा कुछ ही आश्रय रहता नहीं । इसलिये इस असंग अवस्थामें "शरीरयात्रार्थ" वा "लोकसंग्रहार्थ" कर्म्ममें प्रवृत्त रहनेसे भी, "यत्र यत्र मनो याति तत्रैव ब्रह्म लक्ष्यते" होनेसे, उनकी एक आत्मामें ही स्थिति होती है; इसलिये कर्म्ममें रहनेसे भी उनको अकर्म्म भोग होता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म्म कुर्व्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

अन्वयः । (सः) निराशीः (निष्कामः) यतचित्तात्मा (शमदमसम्पन्नः) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (सर्वत्यागी सन्) शारीरं केवलं कर्म्म कुर्वन् किल्बिषं (संसारबन्धं) न आप्नोति ॥ २१ ॥

अनुवाद । वह निष्काम, संयमी और सर्वत्यागी होके केवल मात्र शरीरयात्रा निर्वाहोपयोगी कर्म्म करके पापमें लिप्त नहीं होते ॥२१॥

व्याख्या । जब मनमें काम और संकल्प नहीं रहता, तब शरीरमें आपही आप जिस प्रकार क्रिया होती रहती है, वही "शारीरं केवलं कर्म्म" है। केवलकर्म्ममें मात्र शरीर निर्वाह ही होता है, कोई उद्देश्य नहीं रहता। मन निष्काम संयत और त्यागी होनेसे, कर्त्तृत्वाभिमान नहीं रहता, इसलिये शरीरादिसे चेष्टा करनेसे भी पाप (चंचलता) में अर्थात् संसार-बन्धनमें पड़ना नहीं होता । साधक ! अपने क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें विषय-मिलनके ठीक पूर्वकाल पर्यन्त समयको स्मरण करो ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

अन्वयः । (सः) यदृच्छालाभसन्तुष्टः द्वन्द्वातीतः (आत्मपरशीतोष्ण-सुखदुःखेत्यादि-भेदज्ञानरहितः समदर्शीत्यर्थः) विमत्सरः (निर्वैरबुद्धिः) सिद्धौ असिद्धौ च समः (हर्षविषादरहितः) (कर्म्म) कृत्वा अपि न निबध्यते ॥ २२ ॥

अनुवाद । जो यदृच्छा लाभसे ही सन्तुष्ट हैं, द्वन्द्वातीत, वैरीभाव रहित तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान ज्ञान सम्पन्न हैं, वह कर्म्म करनेसे भी कर्म्ममें आबद्ध नहीं होत ॥ २२ ॥

व्याख्या । पण्डित व्यक्ति सबमें ही ब्रह्मदर्शन करते हैं । उनकी कामना और संकल्प न रहनेसे, शरीर निर्वाहके लिये जो आपसे आप आता है, वह उसीमें ही सन्तुष्ट है, उसमें भला बुराका विचार नहीं—अपना पराया भेद नहीं,—शत्रु-भाव भी नहीं,—उनके लिये सबही ब्रह्म है, इस करके सिद्धि अर्थात् प्राप्तिकी प्राप्ति-कैवल्यस्थिति, और असिद्धि अर्थात् तदभाव, सब एक ही एक है द्वैतज्ञान न रहनेसे, कर्म्ममें लिप्त रह करके भी वह लिप्त नहीं होते ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

अन्वयः । गतसंगस्य (निष्कामस्य) मुक्तस्य (द्वन्द्वातीतस्य) ज्ञानावस्थितचेतसः (आत्मज्ञाननिष्ठस्य) यज्ञाय (परमेश्वराराधनार्थं) आचरतः (अनुष्ठियतः पुरुषस्य) कर्म्म समग्रं (कर्म्मफलेन सह) प्रविलीयते (विनश्यति) ॥ २३ ॥

अनुवाद । (कारण यह ह कि) निष्काम, सुखदुःखादि द्वन्द्व-विमुक्त, आत्मज्ञाननिष्ठ और विष्णुप्रीतिके लिये कर्म्म आचरण करने-वाला पुरुषका कर्म्म राशि फलके साथ खय प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

व्याख्या। पूर्व श्लोकमें जो "कृत्वापि न निबध्यते" कहा हुआ है, इस श्लोकमें उसीका कारण निर्देश किया जाता है। यज्ञका अर्थ ३ य अः ९ वां श्लोककी व्याख्यामें देखो। विश्वव्यापी चैतन्य-पुरुष विष्णु ही यज्ञेश्वर (आत्मा) है; उस विष्णुकी प्रीति साधन अर्थात् उनमें मिलके विष्णु हो जाना ही आत्मप्रसन्नता है। आज्ञाचक्र पार हो उठ आके आत्मचैतन्यमें स्थिर धीर प्रकाशमय जो अवस्थाकी प्राप्ति होती है, वही आत्मप्रसन्नता है, इस आत्मप्रसन्नताके लिये अनुष्ठित कर्म्म ही यज्ञ हैं। गुरूपदेश अनुसार करके यज्ञार्थ कर्म्म अनुष्ठित होनेसे, रजोगुणके आधार स्वरूप पंचतत्व अतिक्रम हो जानेसे ही, कामना मिटजाती है, अतएव द्वन्द्वविमुक्त होके आज्ञामें स्थिर भी हुआ जाता है; इसलिये सर्व कर्म्म प्रकृष्ट रूप करके विलय पाता है, कोई बन्धन भी नहीं रहता ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अन्वयः। अर्पणं (येन करणेन ब्रह्मविद् अग्नौ हविः अर्पयति तत्) ब्रह्म, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं हविः ब्रह्म; ब्रह्मकर्म्मसमाधिना (ब्रह्म एव कर्म्म, तस्मिन् समाधिर्यस्य तेन) तेन (यज्ञकर्त्ता) ब्रह्म एव गन्तव्यं (प्राप्यं, न तु फलान्तरमित्यर्थः) ॥ २४ ॥

अनुवाद । अर्पण ब्रह्म, ब्रह्माग्निमें ब्रह्म कर्त्तृक हुत हवि ब्रह्म, ब्रह्म-कर्म्ममें समाधियुक्त कर्त्ताकी गति भी ब्रह्म (सब ही ब्रह्म) है ॥२४॥

व्याख्या । कर्म्म यज्ञके लिये आचरित होनेसे वह कर्म्म प्रकृष्ट रूप करके क्यों विलयको पाता है; उसका कारण यह है कि, मन ब्रह्मनाड़ीके भीतर प्रवेश करनेसे ज्ञान-ज्योतिके विकाशमें देखने और समझनेमें आता है कि, "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" इसलिये तब सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि आती है। इसलिये साधकके पास तब अर्पण अर्थात् शारीरिक करण समूह जिससे यज्ञकर्म्म सम्पन्न होता है, वह सब ब्रह्ममय है; सर्व शरीर व्यापी तेजोरूप जो वैश्वानर अग्नि है, वह भी ब्रह्ममय है; वह (आप) भी ब्रह्ममय है; उनका हवि अर्थात् प्राण और सहस्रार-विगलित सुधा प्रभृति हवनीय पदार्थ भी ब्रह्ममय है; और उनकी आहुतिदान रूप हवनक्रियाभी ब्रह्ममय है। इस प्रकार से ब्रह्ममें अर्थात् ब्रह्मनाड़ीके ब्रह्माकाशमें मन-प्राण-क्रियाको स्थापन करके उनको ब्रह्मही की प्राप्ति होती है। जब सबही एक हो गये, तब और बन्धन कहां? ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

अन्वयः। अपरे योगिनः दैवं एव यज्ञं पर्युपासते (श्रद्धया अनुतिष्ठन्ति); अपरे (तु) ब्रह्माग्नौ यज्ञेन (ब्रह्मार्पणमित्याद्युक्त प्रकारेण उपायेन) यज्ञं (आत्मानं) उपजुह्वति (प्रतिक्षिप्यन्ति; सर्वकर्म्माणि प्रविलापयन्तीत्यर्थः) ॥ २५ ॥

अनुवाद। योगियोंके भीतर कोई कोई दैव-यज्ञका अनुष्ठान करते हैं; फिर कोई कोई ब्रह्माग्निमें यज्ञसे यज्ञको आहुति प्रदान करते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या। ब्रह्मार्पण रूप यज्ञ, सर्व्व प्रकार यज्ञ से श्रेष्ठ है; किन्तु साधके के अधिकारित्व भेद करके ज्ञानके उपायभूत नाना प्रकार यज्ञका अनुष्ठान करना पड़ता है; वह समस्त ही अंगाङ्गीभाव करके परस्पर सम्बद्ध है। २५-२९ श्लोकमें वही सब यज्ञ उल्लेख किया हुआ है। साधक योगी होकर विश्वभ्रमको ब्रह्माग्निमें आहुति देके कैसे करके ब्राह्मीस्थिति लाभ करते हैं, और उस स्थिति के पूर्वापर साधकको कौन कौन अवस्था भोग करनी पड़ती है, वही बातें उन सब यज्ञ वर्णनसे उपदेश की गई हैं। साधक मात्र ही इन सबको अपनी क्रियाकेसाथ अच्छी तरह मिलाय लेकर अपनी कर्त्तव्य अवधारण करेंगे।

साधक जब विश्वका स्थूलत्व छोड़के गंगा-यमुना के भीतर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरस्वतीमें कूदते हैं (स्वरस्वती

स्वरके आदि), तब उनकी अपानकी खिंचाई घट जानेसे सहस्रार पर्य्यन्त समस्त कमल ऊर्द्धमुखी होता है। उस समय व्यञ्जनविहीन ब्रह्ममन्त्रके आश्रयसे मूलाधारग्रन्थि भेदकरके भी, अभ्यासके दोष करके चार पत्रेके चार शक्तिको धोखा देनेकी युक्ति न पाके, ब्रह्मन्त्रमें व्यञ्जन दे डालते हैं; इसलिये उन चार शक्तिको प्रबोध देनाही पड़ता है। यहां से नवीन बीज लेके स्वाधिष्ठानमें वज्राके भीतर उठ आकरके भी फिर असावधानताके लिये छः महा शक्तिके स्पर्शदोषमें पड़के, उन सबको भी प्रबोध देना पड़ता है। पुनराय नवीन बीज लेके मणिपुरमें चित्राके भीतर उठ आके भी दश-शक्तिको प्रबोधित करना पड़ता है। इस प्रकार से अनाहतमें बारह, विशुद्धमें सोलह और आज्ञामें उठके दो शक्तिके साथ मिलके सामान्य विश्राम लेते हैं। छायाविहीन तैजस मूर्त्तिसे ही ये सब शक्ति प्रत्यक्ष होती है; इसलिये ये सब देवता हैं। इन सबके प्रबोधके समय, इच्छा न रहनेसे भी, साधकको ठोकर दे आना पड़ता है। यह जो देवतनका ग्रहण और त्याग अर्थात् पूजन और विसर्जन है इसीको ही देवयज्ञ कहते हैं। पश्चात् जब कूटस्थ लक्ष्य होता है, तब साधक के "त्वं" और कूटस्थके "तत्" इन दोनोंके संयोग होता है; इन दोनोंके मिलने का

नाम योग है । इस कार्य्यको जो लोग करते हैं वह सबही योगी है । जब साधक अपने "भ्रम मैं" को छोड़ देके "तत्" के "विशुद्ध मैं" में आ पड़ते हैं, तब तत्क्षणात् उनको स्व स्वरूप की प्राप्ति होती है । यह जो अपनेमें अपने पड़के अपने नशामें अपने रहना, इसीको ही यज्ञसे यज्ञ करना कहते हैं । साधक का यह जो ब्रह्ममें मिलकर ब्रह्मभावमें ब्रह्मत्व भोग है इस समय उनमें कोई उपाधि नहीं रहती; इसलिये "उप" उपसर्गसे ब्रह्म-यज्ञकी ब्रह्माग्निमें उनके अहंत्व के "उपहवन" की कल्पना कीगई है ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥

अन्वयः । अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति; अन्ये शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अनुवाद । कोई कोई श्रोत्रादि इन्द्रिय सकलको संयम रूप अग्नि में आहुति प्रदान करते हैं; कोई कोई शब्दादि विषय सकलको इन्द्रिय-रूप अग्निमें आहुति प्रदान करते हैं ॥ २६ ॥

व्याख्या । साधक आत्माको ब्रह्माग्निमें आहुति देनेके पूर्वमें आत्म-ज्योतिके सहारासे अतीव सूक्ष्मदर्शी होते हैं; तब अन्तरमें इन्द्रियवृत्ति समूह की उत्पत्ति,

स्थिति और परिवर्त्तनके अतीव सूक्ष्म कारण समूहको प्रत्यक्ष करते हैं । उसी समय यदि आत्माको ब्रह्माग्निमें आहुति न देकर, अर्थात् अपनेमें आप मिल न जायके उन कारण सबको अपने बशमें लावें और आप स्थिति पदमें अटक रहें, ऐसा होनेसे, उनकी संयम अवस्था होती है । तब वह उन सबके द्रष्टा स्वरूपमें अवस्थान करते हैं। तब वह देखते हैं कि, उनके मायिक शरीरके कर्णादि इन्द्रिय सकल पूर्ववत् और उनसे क्रियाशक्ति न पाके क्रियाशून्य अवस्थामें उस संयम रूप अग्निमें पड़के संयत होके अग्निरूप धारण किये हैं, (इसीको ही संयमाग्निमें इन्द्रियों की आहुति कहते हैं); और श्रोत्रादि इन्द्रिय-ग्राह्य शब्दादि विषय समूह उस संयत अग्निरूप इन्द्रियों में आ पड़के आपही आप विलय प्राप्त होता है, इन्द्रिय गणको और क्रियामुख कर नहीं सक्ता, (इसीको ही इन्द्रियाग्निमें विषय की आहुति कहते हैं) और भी देखते हैं कि, उनके सब ही अन्तःकरण विद्यमान हैं, लेकिन कोई और क्रिया करते नहीं, समस्त ही क्रियाशून्य अवस्थामें वैठे हैं। इस अवस्थामें आसक्ति का लेश मात्र न रहनेसे गुणमयी माया साधकके पास हार जाती हैः समस्त गुणकी क्रिया भी विश्राम लेती है ॥२६॥

सर्व्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

अन्वयः । अपरे च सर्वाणि इन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि (च) ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ॥ २७ ॥

अनुवाद । अपर योगीगण सर्व इन्द्रियकर्म्म और प्राणकर्म्मको ज्ञानदीपित आत्मसंयम रूप अग्निमें आहुति दिया करते हैं ॥ २७ ॥

व्याख्या । मैं ही "मैं" वा ब्रह्म हूं, यह दृढ़ धारणा ही ज्ञान है । एक मात्र कर्म्मयोगसे ही यह ज्ञान लाभ होता है । कोई कोई योगी इस ज्ञानमें दृढ़बद्ध होके कूटस्थ लक्ष्य करके चुपचाप बैठ रहके (प्राणक्रियामें लक्ष्य न देके) आत्माको ध्यान करते करते आत्मस्वरूपमें निष्ठा लाभ करते हैं अर्थात् मनको तन्मय करके स्थिर हो जाते हैं । इसीका नाम ज्ञानदीपित आत्मसंयम है । ध्यानयोगमें इस प्रकार आत्मसंयम होनेसे दर्शन-श्रवणादि इन्द्रिय कर्म्म, और श्वास-प्रश्वास-उन्मेष-निमेषादि प्राण-कर्म्म सब आपही आप स्थिर होजाता है * ॥ २७ ॥

---

* अत्यन्त सुखसंवाद अथवा अत्यन्त शोकसम्बादसे मनुष्य जैसे मोहको प्राप्त होता है, वैसे योगद्वारा जो सब योगी चित्तको वश कर चुके, वह सब योगी आत्मध्यान करते मात्र ब्रह्मानन्द वेगसे अभिभूत होके तत्क्षणात् भावावस्थामें उपनीत होते हैं । कर्म्मयोगसे भी यह अवस्था होती है, एकासनमें १७२८ वार चातुर्थिक प्राणायाम करनेसे ध्यानावस्था होती है, और २०७३६ दफे प्राणायाम करनेसे जो अवस्था

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अन्वयः । अपरे संशितव्रताः (सम्यक् शितानि तीक्ष्णीकृतानि व्रतानि येषां ते) यतयः (यतनशीलाः) द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः योगयज्ञाः तथा स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः च (भवन्ति इत्यर्थः) ॥ २८ ॥

अनुवाद । अपर दृढ़व्रत यतिगण द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्यायज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या । जो सव साधक गुरूपदिष्ट क्रिया कलापको यतन से साधन करते हैं, वही सब लोग यति कहाते हैं। जिन सब यतिको देश काल पात्रसे अथवा दूसरे किसी कारण करके नित्य नैमित्तक उपासना प्रायश्चित्तादि कर्म्मानुष्ठानके विघ्नोत्पन्न न हो, तथा जो सब यति यथा समयमें यथाकर्म्म नियमित रूप करके सम्पादन करना बिना दूसरा कोई कर्म्म नहीं करते, वही सब संशित-व्रत यति हैं। वो लोग क्रियाकालमें यथाक्रम अनुसार द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञके अनुष्ठान करते हैं।

होती है, उसीको ही समाधि वा आत्मसंयम कहते हैं। इस समाधिसे ही "सोऽहं" ज्ञान आता है। संसाराभिमानी कल्पितात्माके एकदफे इस अवस्थाका भोग होनेसे ही, और उनको मायाकी डोरी छू नहीं सकती। इसलिये आत्मसंयम रूप योगाग्निमें अज्ञानताकी आहुति देके ज्ञानके महाप्रकाशकी प्राप्तिका इशारा किया हुआ है ॥ २८ ॥

पूण्यस्थानमें द्रव्य विनियोग करने का नाम द्रव्ययज्ञ है । पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, आत्मा, काल, और मन--ये नौ प्रकारके द्रव्य है । मूलाधारादि छः स्थान ही पूण्यस्थान हैं । प्रथमतः जो कूटस्थको लक्ष्य करके कालके वशमें रह करके वायुको आकर्षण कर लेके मनही मनमें मन्त्र संयोग पूर्वक प्रति-चक्रमें नियोग किया जाता है, तत् पश्चात् सर्वद्रव्यका सारभूत सहस्रारक्षरित अमृतको वैश्वानरमें अर्पण किया जाता है, उसीका नाम द्रव्ययज्ञ है । द्रव्ययज्ञ सम्पन्न होनेके बाद, साधक भूतप्रपञ्चके ऊपर तपोलोक आज्ञा चक्रमें उठजाके मायिक आकर्षणको दमन करके चित्तकी चंचलताको नष्ट करते हैं; इसीका नाम तपोयज्ञ हैं। पश्चात् तपोयज्ञ से चित्तके विक्षेप भाव नष्ट होनेके बाद, साधक स्थिर धीर शान्त भावसे एकमात्र स्वस्वरूपको लक्ष्य करते हैं, तब केवल दृश्य और द्रष्टाका द्वन्द्व होता है, दूसरा सब पिछाड़ी पड़ा रहता है; इसीका नाम योगयज्ञ हैं । इस अवस्थामें जब प्रथम प्रथम वेदादि प्रणव, पश्चात् उससे वेदमाता गायत्री, परिशेषमें ऋगादि वेद अशरीरि वाणी करके आपही आप उच्चारित होता रहता है, उसको स्वाध्याय-यज्ञ कहते हैं (स्वाध्याय-सु=सुन्दर अर्थात् स्व स्वरूप+आ=प्रकृति अर्थात् साधक+अध्याय=आलो-

चना), कारण यह कि त्वंरूपी साधक तथा तत् रूपी ईश्वर के (स्व स्वरूपके) आमना सामनी देखा देखी अवस्थासे ही इसका उत्थान होता है। उस स्वाध्यायके अन्तस्थित तैलधारा सदृश अच्छिन्न प्रणव-निनाद सुनते सुनते तन्मय होकर मायिक आत्महारा होके (खोके) असम्प्रज्ञात अवस्था आनेसे, स्वाध्याय-यज्ञका शेष होता है। इस शेषके भी शेषमें समाहित अवस्था भंग होनेके पश्चात् निरीक्षण करनेसे आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त त्रिकाल के जो कुछ जानने के विषय सब जाना जाता है, सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि स्थापित होता है; इसीको ही ज्ञानयज्ञ कहते हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥२९॥

अन्वयः । अपरे अपाने (अपानस्थाने) प्राणं तथा प्राणे (प्राण-स्थाने) अपानम् जुह्वति; (इत्यादि प्रकारेण) प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः (भवन्ति) । अपरे नियताहाराः (सन्तः) प्राणान् (वायुभेदान्) प्राणेषु (प्राणभेदेषु एव) जुह्वति ॥ २९ ॥

अनुवाद । कोई कोई अपानमें प्राण और प्राणमें अपान प्रक्षेप द्वारा प्राणापानकी गतिको रोध पूर्वक प्राणायामपरायण होते हैं। और कोई कोई नियताहार होके प्राणमें ही प्राणको हवन करते हैं॥२९

व्याख्या। मूलाधारमें अपान और आज्ञामें प्राण अवस्थित (बैठे) हैं। अपान अधोवृत्तिवायु, प्राण ऊर्द्ध-वृत्तिवायु है, अपान चंचल, प्राणस्थिर है, ये दोनों वायु मेरुके दोनों प्रान्तमें रहकरके विपरीत आकर्षणमें परस्पर को खींच लेनेके लिये चेष्टा कर रहे हैं। लेकिन कोई किसीको एकबारगी आयत्त कर नहीं सकते इस करके उन्न दोनोंमें कभी एकका कभी दूसरेका जय पराजयसे निश्वास-प्रश्वासकी क्रिया चल रही है। जिस क्षणमें अपानकी खिंचाईसे प्राण निश्चय (शेष) पराजित होता है, उसी क्षणमें जीवका देहत्याग होता है। जिस कौशल करके उस उर्द्धवायुको नीचे और अधोवायुको ऊर्द्धमें रखके दोनोंकी गति रोध की जाय, उसीको प्राणायाम * कहते हैं (गुरुमुखी विद्या)। वह प्राणायाम जिन लोगोंके आयत्त हुआ है, वही सब लोग प्राणायाम-परायण हैं। प्राणायाम द्वारा जब प्राण और अपानकी गतिरोध हो जाता है, तब और निश्वास-प्रश्वास नहीं रहता, इसलिये आहार अर्थात् वायुभोजन "नियत" अर्थात् संयत वा रुद्ध होता है। इस अवस्थामें साधक लोग, कूटरूपा प्रकृतिके गर्भमें रहकरके भी उनमेंसे कोई किसीके साथ संस्पर्श-दोष नहीं लेते; उन सबके समस्त व्यापार ही तब स्थिर

* "ऊर्द्धशक्तिनिपातेन अधोशक्तेर्निकुञ्चनात्।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं पदम्॥"

वायु द्वारा स्थिरवायुमें सम्पादित होता है, इसीलिये "प्राणान् प्राणेषु जुह्वति" कहा गया है । यह अवस्था भाषामें व्यक्त नहीं होता । इङ्गित (इसारा) से भुक्त-भोगी समझ लेवेंगे ॥ २९ ॥

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयित कल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥३०॥

अन्वयः । एते यज्ञविदः सर्वे अपि यज्ञक्षयितकल्मषाः (यज्ञानुष्ठानेन निष्पापाः) यज्ञशिष्टामृतभुजः (भूत्वा) सनातनं ब्रह्म यान्ति ३०॥

अनुवाद । ये समस्त यज्ञविद्-लोग यज्ञानुष्ठानमें निष्पाप तथा यज्ञशेषरूप अमृत भोजी होके अनन्त ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

व्याख्या । यज्ञक्रियाके जितने प्रकारकी प्रणाली कही हुई है, उन सबकी ही चरमगति एक है; उन सबके भीतर प्रभेद केवल विभूति प्राप्ति वा शक्तिलाभ विषयमें है । यज्ञके यथाविधि अनुष्ठान करनेसे चित्तका कल्मष वा चंचलता रूप मैला सब दूर होता है, चित्त विशुद्ध होता है, और उसमें विषयका छाप नहीं पड़ता । तत् पश्चात् यज्ञ पूर्ण होके समाधिमें परिसमाप्त होनेसे, ज्ञान-रूप जो अमृतका उदय होता है, उससे हृदयको परिपूर्ण करनेसे और मृत्यु होती नहीं; सबही "मैं" मय होजाने

से अनन्त ब्रह्मत्वकी प्राप्ति होती है * ॥ ३० ॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

अन्वयः। हे कुरुसत्तम ! अयज्ञस्य (यज्ञानुष्ठानरहितस्य) अयं लोकः न अस्ति, (विशिष्टसाधनसाध्यः) अन्यः कुतः ? ॥ ३१ ॥

अनुवाद। हे कुरुसत्तम ! यज्ञहीन लोगोंके लिये इहलोक ही नहीं है, दूसरे लोक कैसे रहेगा ? ॥ ३१ ॥

व्याख्या। जो सब लोग भक्ति श्रद्धाके साथ इष्ट-देवताओंकी आराधना द्वारा आत्मानुसन्धान नहीं करते, उनका अन्तर दुःख करके परिपूर्ण अर्थात् उनके अन्तराकाश अंधियारासे ढका रहता है, इसलिये उन सबको आत्मज्योतिका दर्शन नहीं होता; चित्तका मैला भी नष्ट नहीं होता; इस कारण करके वह लोग संसारके स्वरूप न जान करके अनित्य-असत्यको नित्य-सत्य बोध करके

---

* साधक लोग नित्य क्रियायोग करके समाधिसे जो ब्रह्मत्व भोग करते हैं अथवा एकासनमें बैठके २०७३६ दफे चातुर्थिक प्राणायाम करनेसे जो कुम्भक होता है, उसमें भी ब्रह्मत्वलाभ होता है, परन्तु वह सनातन नहीं, उसका भंग है और क्रमान्वयसे वैसे भंग-समाधिके अभ्याससे सिद्ध होनेके पश्चात् जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होनेसे सनातन ब्रह्मत्वलाभ होता है। फिन प्राण-प्रयाण कालमें शुक्लागति (देवयान) प्राप्ति होनेसे भी, सनातन ब्रह्मत्व लाभ होता है ॥ ३० ॥

मोहित होके रहते हैं; आत्मज्योतिके सहारासे सत्य ज्ञान लाभ करके, संसारके शोक-मोहके भीतर रह करके भी जो शान्ति मिलती है, वह उन सबको नहीं मिलता। इसलिये उन सबका इह लोक * भी नहीं है। इहलोक न रहनेसे साधनसापेक्ष दूसरा लोक कैसे रहेगा ? शरीर त्यागके पश्चात् सत्कर्म्मके फलसे स्वर्गादिके जिस जिस लोककी प्राप्ति होती है वह सब ही दूसरे लोक हैं। वह सब लोक क्रमोन्नत हैं। उसी क्रमके चरम ऊर्द्धमें जो लोक है, वह लोक ही गोलोक--वैकुण्ठ वा अपुनरावृत्तिगति है। यज्ञानुष्ठान न करनेसे आत्मदर्शन नहीं होता, इसलिये इहलोक अशान्तिमय रहता है, आत्मदर्शन न होनेसे भी परागतिकी प्राप्ति नहीं होती, इस करके जन्म मृत्युके आलोड़नमें रहना पड़ता है। अतएव, साधक ! यज्ञानुष्ठान करो। यज्ञानुष्ठान करनेमें तुम्हारी शक्ति है, क्योंकि तुम कुरुसत्तम अर्थात् समर्थवान् (कृति) हो ॥ ३१ ॥

---

* इ = ह्रस्वशक्ति, हा = त्याग करना, लोक = दर्शनीय जो कुछ; अर्थात् ऊर्द्धमुखी साधन क्रममें ह्रस्वशक्तिकी त्याग और दीर्घशक्ति की प्रारम्भसे जो जो दर्शनमें आता है, उसीकोही इहलोक कहते हैं। नवीन साधकों भी ये सब प्रत्यक्ष करते रहते हैं ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्म्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ३२॥

अन्वयः । एवं (यथोक्ताः) बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे, (सृष्टिकारिणः मुखे, वेदे इत्यर्थः) वितताः (उच्यन्ते), तान् सर्वान्, कर्म्मजान् (कायिकवाचिकमानसकर्म्मोद्भवान्) विद्धि; एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे (संसारबन्धनात् विमुक्तो भविष्यसि) ॥ ३२ ॥

अनुवाद । इस प्रकार बहुविध यज्ञ ब्रह्ममुख करके (वेदमें) कथित है; वह समस्त ही कर्म्मज, जानों; इस प्रकार जाननेसे ही मुक्तिलाभ कर सकोगे ॥ ३२ ॥

व्याख्या । मूलाधारमें पृथिवीबीजके भीतर सृष्टि-कारि वेदवाहु (चतुर्भुज) ब्रह्मा बैठे हैं; इनहीके मुख पद्मसे वेद उच्चारण हो रहे हैं—"मुखाम्भोजलक्ष्मीश्च-तुर्भागवेदः" । जिसलिये वेदको भी ब्रह्माजीका मुख कहते हैं। चतुष्कोणाकार पृथ्वीस्थानके भीतर त्रिकोणाकार जो योनिस्थान है, उस योनीके ऐन मध्य भागमें सुषुम्ना का मुख है, वही मुखही ब्रह्माजीका मुख है, वहीं ही वेदमाता गायत्री हैं, ऐसा दर्शनमें आता है * । वह सब ही कायिक वाचिक मानसिक कर्म्मसे उत्पन्न हैं

* दर्शन श्रवण जो कुछ जहांके सव भ्रूमध्य कूटस्थमें लक्ष्य स्थिर होनेसेही होता है । इस कारणसेही भ्रूमध्यमें प्राणस्थिर करनेके लिये गुरु महाराज आज्ञा करते हैं ।इस आज्ञाके लियेही भ्रूमध्यके चक्रका नाम आज्ञाचक्र है ॥ ३२ ॥

अर्थात् क्रियपदके भीतर शरीर-मन-वाक्य द्वारा क्रिया जिस जिस प्रकारसे अनुष्ठान किया जाय, उन सब सेही वो सब नाना प्रकारके यज्ञ उत्पन्न होते हैं;—कर्म्मातीत निष्क्रिय-पद, जहां आत्माका स्वरूप प्रकाश है, उस स्थानमें इन सबका प्रकाश नहीं। क्रियाके अनुष्ठानसे स्थिर धारणामें इस तत्त्वको जान लेनेसे ही मुक्तिलाभ होता और संसारबन्धनमें पड़ने नहीं होता ॥ ३२ ॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्व्वं कर्म्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

अन्वयः । हे परन्तप ! द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान्; (यतः) पार्थ ! सर्वं अखिलं कर्म्म ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अनुवाद । परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेयः है; क्योंकि हे पार्थ ! सर्व प्रकार कर्म्मही ज्ञानमें परिसमाप्त होता है ॥ ३३ ॥

व्याख्या । द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञका अर्थ पहिले २८ श्लोक की व्याख्यामें देखो। उससे देखा जाता है कि सर्व प्रकार कर्म्म ही क्रम अनुसार क्षीणसे क्षीणतम होते हुये अन्तमें आकरके ज्ञानमें परिणत होता है। ज्ञान ही कर्म्मों की परिसमाप्ति है। ज्ञानका उदय होनेसे सर्व-कर्म्म-विमुक्ति होती है। इसी कारणसे द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥३४॥

अन्वयः । तत् (ज्ञानं) प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया च विद्धि; तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः ते (तुभ्यं) ज्ञानं उपदेक्ष्यन्ति ॥ ३४ ॥

अनुवाद । प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा द्वारा उस ज्ञान को जानने के लिये यतन करो; (ऐसा करनेसे ही) तत्त्वदर्शी आचार्यगण तुमको ज्ञान उपदेश करेंगे ।

व्याख्या। ज्ञान क्या है, उसको जाननेके उपाय तीन हैं-, प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा। यह तीनों स्थूलसूक्ष्म भेदसे दो प्रकारके हैं । तत्त्वदर्शी गुरुदेवको भक्ति सहकार दंडवत् प्रणाम,"मोक्ष क्या है, विद्या क्या है, अविद्या क्या है"इत्यादि प्रश्न और परिचर्या-शुश्रुषादिरूप सेवा करना पड़ता है । इस प्रकारसे प्रकृत भक्तिके उदय होनेसे ही गुरु प्रसन्न होकरके ज्ञानका उपदेश करते हैं। ज्ञान जानने का स्थूल-उपाय यह है । और कूटस्थमें गुरुपदको लक्ष्य करके प्राणवायुको एक जगहसे दूसरी जगहमें यथा-रीति (गुरुमुखी प्राणायाम) फेंकना, इसके साथ ही साथ मनही मनमें आयत स्वरमें प्रणव उच्चारणरूप सेवा करना, और मनहीं मनमें जाननेका विषय प्रश्न करना-- यह सब सूक्ष्म उपाय है । इस प्रकार सूक्ष्मक्रियासे मन विषय संश्रव-रहित होआनेसे ही, गुरुलोग दर्शन

दे करके तत्त्वोंके स्वरूप प्रकाश द्वारा साधकके मनको आकृष्ट करके अन्तर्हित होते हैं। उस समय साधक या तो कोई अशरीरी वाणी श्रवण करके, नहीं तो कूटस्थमें उज्ज्वल अक्षरमें लिखी हुई भाषा पढ़ करके जानने का विषय-समूह जान सकते हैं। अथवा तब अन्तःकरणमें ऐसाही कोई भावान्तर आ पहुंचता है कि, जिसमें ज्ञातव्य विषय आपही आप आय करके मनमें उदय होता है। इस प्रकारसे श्रवण, दर्शन, बोधन द्वारा संशय समूह दूर हो जाके (निजबोधरूप) पूर्ण ज्ञानावस्थामें उपनीत होते हैं। (३९ श्लोक देखो) ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

अन्वयः । हे पाण्डव ! यत् (ज्ञानं) ज्ञात्वा त्वं एवं (एवम्प्रकारेण) पुनः मोहं न यास्यसि, (किञ्च) येन (ज्ञानेन) भूतानि (ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्य्यन्तानि) अशेषेण आत्मनि अथ आत्मानं मयि द्रक्ष्यसि ॥३५॥

अनुवाद । हे पाण्डव ! जिस ज्ञानको जाननेसे फिर और इस प्रकार का मोह प्राप्त न होवोगे; ऐसा कि जिससे ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त भूत समूहको अशेषरूप करके आत्मा में, तत् पश्चात् मैं में देख सकोगे ॥३५॥

व्याख्या । उन तीन उपायोंसे ज्ञानको जाना=मालूम होनेके बाद प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि, सूत्रमें जैसे मणि

गण रहते हैं आत्मामें वैसे भूतोंका अवस्थिति है, कुछ भी नहीं छुटा है । इस कारण करके "मैं और मेरा" रूप संसार-मोहमें (धोकेमें) पड़ना नहीं होता । तब "भूतानि" (विश्वप्रपञ्च, जगतमें जो कुछ है) "आत्मा" (क्षरचैतन्य, साधक), और " अहं " (अक्षरब्रह्म)— यह समस्त ही स्वरूप-दृष्टिसे एक हो जाता है । अतएव तब जो कुछ लक्ष्यमें आता है, सबमें ही "तत्त्वमसि" ज्ञानकी उपलब्धि होती है ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापिभ्यः सर्व्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्व्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अन्वयः । अपि चेत् (यद्यपि) सर्व्वेभ्यः पापिभ्यः पापकृत्तमः (अतिशयेन पापकृत्) असि, (तथापि) ज्ञानप्लवेन (ज्ञानपोतेन) एव सर्व्वं वृजिनं (पाप-समुद्रं) सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अनुवाद । सकल पापियोंसे तुम अतिशय पापकारी भी हो, ऐसा होनेसे भी ज्ञानरूप पोत द्वारा पापरूप समुद्र श्रम विना पार उतर जा सकोगे ॥ ३६ ॥

व्याख्या । मुमुक्षुओंके लिये सत्कर्म्म करना भी पाप है; कारण यह है कि, चाहे सत् हो चाहे असत् हो, कर्म्म रहनेसे मुक्ति होती नहीं, क्योंकि, कर्म्मक्षय न होनेसे सत्-असत् फल करके आबद्ध होना ही

पड़ता है । वही बन्धन ही पाप है । ज्ञानका स्वरूप मालूम होनेसे, अन्तःकरण-वृत्ति अशेष करके अन्तर्मुखी होजाने से, कर्म्मसमूह—संख्यामें जितनी अधिक हो, असंख्य होनेसे भी—आपही आप त्याग होजाता है, अर्थात् ज्ञानविद् अज्ञानचक्रके ऊपर कर्म्मका अतीत स्थानमें चित्त निवेश करके रहते हैं, इससे कर्म्म उनको स्पर्श कर नहीं सकता ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्ज्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्व्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥३७॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! यथा समिद्धः (प्रदीप्तः) अग्निः एधांसि (काष्ठानि) भस्मसात् कुरुते, तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते ॥ ३७ ॥

अनुवाद । हे अर्जुन ! प्रदीप्त अग्नि जिस प्रकार काष्ठ सकलको भस्मसात् करती है, ज्ञानाग्नि उसी प्रकार समुदाय कर्म्मको भस्मसात् करती है ॥ ३७ ॥

व्याख्या । ज्ञानी सहस्रारमें उठकर बैठ रहनेसे, कर्म्मके अतीत होते हैं, कह करके, कर्म्म ज्ञानीको स्पर्श नहीं कर सकता; परन्तु फिर जब उतरके विषयके भीतर आते हैं, तब उनकी जिस प्रकार अवस्था होती है, वही इस श्लोकमें कही जाती है ।

कर्म्म तीन प्रकारके हैं । प्रथम, प्रारब्ध कर्म्म,--जिसने फलदेना आरम्भ किया है, अर्थात् जिसका फल यह शरीर है । द्वितीय, सञ्चित कर्म्म,--जिसका फल सञ्चय होता है, फल देना आरम्भ नहीं हुआ, पश्चात् फल देवेगा। तृतीय, भावी कर्म्म—जो कर्म्म अबतक अनुष्ठित हुआ नहीं, भविष्यत्में होवेगा। अग्निके सहारेसे काष्ठका जल-वायु अंश जैसे उड़ जाता है, केवल पृथ्वी अंश भस्म रूपसे पड़ा रहता है, वह भी बहुत ही हलका और सूक्ष्म; ठीक वैसे ज्ञानोदय होनेके बाद, सञ्चित कर्म्म कर्म्मीको छोड़ करके महाकाशमें मिलजाता है; भावी कर्म्म अनुष्ठित होनेसे कमलपत्रके ऊपर वाला जलवत् कर्म्मीको लिप्त कर नहीं सकता; और प्रारब्ध कर्म्म यह जो शरीर है, वह रहता है सही, परन्तु भस्मवत् होजाता है,--सर्व सिद्धीकी द्वारा वह इस प्रकार आयत्ताधीन होता है कि, वह और कर्म्मीको अभिभूत नहीं कर सकता । कर्म्मभोग--जीवन--मरण, ज्ञानीका इच्छाधीन होता है ॥ ३७ ॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

अन्वयः । इह (तपोयोगादिषु मध्ये) ज्ञानेन सदृशं पवित्रं न हि

विद्यते। योगसंसिद्धः (योगानुष्ठाने संसिद्धः योग्यतामापन्नः मुमुक्षुः) तत् (ज्ञानं) कालेन स्वयं आत्मनि विन्दति (लभते) ॥ ३८ ॥

अनुवाद। तपोयोगादिके भीतर ज्ञानके सदृश पवित्र करने वाला और कुछ भी नहीं है। योगानुष्ठानमें योग्यता प्राप्त होनेसे,साधक काल प्रभाव करके अपनेमें आपही आप उस ज्ञानको लाभ करते हैं ॥३८॥

व्याख्या। ज्ञान ही मूल चैतन्याप्रकृति है, इसलिये यही ब्रह्मका स्वरूप विकाश है। विकाशमें विकार आते मात्र ही ज्ञानसे चौवीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। इस लिये विश्वकी तुलनामें ज्ञानही एक मात्र पवित्र है। तपो-यज्ञ प्रभृतिसे चित्त शुद्ध होता है सही परन्तु ज्ञानयज्ञ न होनेसे ब्रह्मविद् नहीं हुआ जाता--मुक्तात्मा नहीं हुआ जाता; इस कारण करके ज्ञान पवित्र है। यह कह करके ज्ञान कर्म्म-निरपेक्ष नहीं है। कर्म्मयोगमें सिद्धि लाभ न कर सकनेसे ज्ञानयोगका अधिकारी नहीं हुआ जाता। कर्म्मयोगद्वारा विषय-विक्षेप-विहीन स्थिर धीर अवस्थामें कूटस्थमें अवस्थित होनेसे, तब ऐसाही समय आता है * (काल प्रभाव ऐसाही होता है) कि, और कोई आयास

* मन जब तक पञ्चतत्त्वोंके भीतरमें रहता है तबतक काल प्रति-बादी, ज्ञानको ढांक देते हैं नहींतो देनेकी चेष्टा करते हैं; तब वह कल महत् है। मन जैसे पञ्चतत्त्वोंके उपर उठा, तव काल और प्रतिबदी नहीं, तब काल सूक्ष्म है तब और साधने नहीं पड़ता, काल आपहीआप

रहता नहीं,–चेष्टा नहीं करनी पड़ती, मन आपही आप ज्ञानके खिंचाई में पड़ता है, उसका संकल्प बीज भी नष्ट हो जाता है, और पूर्ण ज्ञानका उदय होता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ३९ ॥

अन्वयः । श्रद्धावान् (भक्तिपूर्वककर्म्मानुष्ठानकारी) तत्परः (तत्पदे मतिमान्) संयतेन्द्रियः ज्ञानं लभते; ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण परां शान्ति अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ३९ ॥

अनुवाद। जो साधक श्रद्धावान् तत्पर और संयतेन्द्रिय, हैं वह ज्ञान लाभ करते हैं; ज्ञान लाभ करके शीघ्र परम शान्तिको प्राप्त होते हैं ॥३९ ॥

व्याख्या । साधक को ३४ श्लोक के प्रकरणके अनुसार प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवाद्वारा ज्ञानको जानना पड़ता है । उन तीन प्रकरणके परिपाकमें (संसिद्धिमें) ज्ञान को जाननेके बाद, अन्नमय कोष अतिक्रम करके सहस्रारकी क्रिया द्वारा सहस्रारमें उठके बैठनेसे, उन तीन प्रकरणके प्रत्येकका अनुरूप तीन प्रकारकी मनोमय

ज्ञानको प्रकाश कर देते हैं । यह दोनो अवस्थाको लक्ष्य करके ही "समय का चक्कर" और "समय का गुण" यह दोनों बातें प्रथम प्रचलित हुई थी ॥ ३८ ॥

अवस्था आती है, यथा—(१) श्रद्धावान्, (२) तत्पर, (३) संयतेन्द्रिय।

श्रद्धा—श्रत्=विश्वास (विगत श्वास)+धा=धारण करना; श्वासका क्रियासे मनको उठा लाकर भीतर धारण करनेका नाम श्रद्धा * है; इस अवस्थामें जब आ पहुँचते हैं, तबही साधक श्रद्धावान् होते हैं। श्रद्धावान् होनेके बाद जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म दर्शन श्रवण मननादि क्रिया होती रहती है, उन सबको एकाग्र करके तत्ब्रह्ममें अर्थात् बिन्दुनादमें रत करना पड़ता है; यही है तत्पर अवस्था। इस प्रकार करनेसे दर्शन श्रवण मननादि वृत्ति "एकमें" आकृष्ट होजाती है कह करके, अपना अपना पृथक् कर्म्म परित्याग करके संयत हो जाती है अर्थात् परस्पर मिलकरके एक हो जाती है; यही है संयतेन्द्रिय अवस्था। यह अवस्था आनेसेही साधक ज्ञानको लाभ करते हैं, अर्थात् इतने काल पर्यन्त भीतरमें दर्शन, श्रवण मननादि द्वारा जिसका स्वरूप जानते थे, अब वही दर्शन, श्रवण मननादि गल जा करके एकरस हो करके, आ करके उसीमें पड़ता है, चित्त वृत्ति सब उड़ जाती है, साधक का "अहं" ज्ञान-मय हो जाता है; यही है ज्ञानलाभ।

---

* इसीका नाम मनमें मन देना है।

यह ज्ञान लाभ होनेसे ही ततक्षणात् पराशान्ति अर्थात् कैवल्य वा ब्राह्मीस्थितिकी प्राप्ति होती है §॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अन्वयः अज्ञः अश्रद्दधानः (श्रद्धाहीनः) संशयात्मा (सन्दिग्धचित्तः) च विनश्यति (स्वार्थात् भ्रंश्यति)। संशयात्मनः अयं लोकः न आस्ति, परः (परलोकः) न (अस्ति), सुखं न (अस्ति)॥४० ॥

अनुवाद । अज्ञ श्रद्धाहीन और संशययुक्त मनुष्य विनष्ट होता है । संशयात्माका इह लोक भी नहीं, परलोक भी नहीं, सुख भी नहीं ॥ ४० ॥

व्याख्या । प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा द्वारा जो जाननेके विषयको नहीं जानते अर्थात् जो पुरुष क्रियावान नहीं, वह अज्ञ हैं । जो साधक प्रणिपातादि द्वारा जान करके भी पूर्व श्लोकके अनुसार श्रद्धावान नहीं होता, अर्थात् जो मनमें मन देकरके अन्तर्निविष्ट नहीं होता,

§ यह श्रद्धावान आदि अवस्थात्रय प्रणिपात, परिप्रश्न, और सेवा का फल है; सुतरां सूक्ष्म प्रणिपातादिके पहिले भी साधकको स्थल भावसे श्रद्धावान्, तत्पर और संयतेन्द्रिय होना पड़ता है—न होनेसे प्रणिपातादिमें अधिकार नहीं होता । स्थूलभावका श्रद्धावान्=गुरु-वेदान्त वाक्यमें विश्वासी, तत्पर = उस विश्वासके साथ क्रियानुष्ठानकारी, और संयतेन्द्रिय-ब्रह्मचर्यपरायण ॥ ३९ ॥

वह अश्रद्दधान है। गुरुवेदान्त वाक्यमें जिसका स्थिर विश्वास नहीं है, अर्थात् संशयके लिये जो प्रणिपातादि प्रकरणके साथ क्रियानुष्ठानमें अग्रसर नहीं होता, सुतरां श्रद्धावानादि अवस्था विषयमें अनभिज्ञ है, वही संशयात्मा है। यह तीनही आत्मगतिसे भ्रष्ट होकरके संसारगतिको प्राप्त होते हैं। इसके भीतर पहिला दोनो कुछ अच्छा है, क्योंकि वो दोनो थोड़ासा योगभ्रष्टके सदृश गति पाता है, परन्तु संयशात्माका इहकाल परकालमें शांन्तितो है ही नहीं, सुख भी नहीं; अर्थात् अन्तराकाश अज्ञानान्धकारसे ढका रहनेसे वह प्रकृत रास्ता भी नहीं पाता है केवल ज्वाला यन्त्रणामय संसारावर्त्तमें फेरा मारता रहता है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४०॥

अन्वयः । हे। धनञ्जय । योगसंन्यस्तकर्म्माणं(कर्म्मयोगेन संन्यस्तानि कर्म्माणि येन तं) ज्ञानसंछिन्नसंशयम् (ज्ञानयोगेन संछिन्नः संशयः यस्य तं) आत्मवन्तं कर्म्माणि न निबन्धन्ति ॥ ४१ ॥

अनुवाद । हे धनञ्जय ! जो पुरुष कर्म्मयोग द्वारा कर्म्मसमूहको सम्यक् प्रकारसे नाश करके ज्ञानयोग द्वारा सकल संशय छिन्न करते हैं, उस आत्मज्ञानसम्पन्न साधकको कर्म्मराशि आबद्ध नहीं कर सक्ते ॥ ४१ ॥

व्याख्या । (श्रीभगवान् कर्म्म और ज्ञानमयी योग के जो दो प्रकारकी ब्रह्मनिष्ठा कह आये हैं, इस श्लोकमें और पर श्लोकमें उसीका उपसंहार करते हैं ।)

प्राणमें मन देना रूप कर्म्मयोगका आश्रय करके प्राण और अपानको समायुक्त करके, पश्चात् मनमें मन देना रूप ज्ञानयोग द्वारा भ्रम मैं (जीवात्मा) और विशुद्ध मै (परमात्मा)का योग साधनसे द्विधाभावको नष्ट करके आत्मभावमें अवस्तिति करनेसे, प्रारब्ध भोग के लिये विषय–संस्पर्शमें आनेसे भी, कर्म्म बन्धनमें फंसना नहीं पड़ता ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

अन्वयः । हे भारत ! तस्मात् (हेतोः) अज्ञानसम्भूतम् (अविवेकात् जातं) हृत्स्थं (बुद्धौ स्थितं) एनं (स्वविनाशहेतुभूतं) संशयं आत्मनः ज्ञानासिना (ज्ञानखड्गेन) छित्त्वा योगं (सम्यक् दर्शनोपायं कर्म्मानुष्ठानं) आतिष्ठ (कुर्व्व), उत्तिष्ठ च ॥ ४२ ॥

अनुवाद । अतएव, हे भारत ! अविवेकसे उत्पन्न हृदयस्थ आत्मबिनाशके हेतुभूत इस संशयको अपने ज्ञानरूप खड्गसे छेदन करके योगावलम्बन पूर्वक उत्थित होओ ॥ ४२ ॥

व्याख्या । साधक !"कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादि

पकारके आत्मविषयमें तुम्हारा यह जो संशय, यह तुम्हारे मनका भ्रम हैं; तुम विहित रूपसे कर्म्मका अनुष्ठान नहीं किया था, इस करके अबतक ज्ञान क्या है उसे नहीं जाननेसे, अज्ञानताके लिये तुम्हारा स्वस्वरूप और सामर्थ्य सम्बन्धमें संशय हुआ था; परन्तु अब तो सब समझ लिये, और क्यों ? संशयको त्याग करदो। इस संशयको त्याग करना तुम्हारा अपने हाथमें हैं; अपना संशय अपने आप समझके अपने आप त्याग न करनेसे, दूसरा कोई त्याग करा नहीं सक्ता; यहांपर ही पुरुषकार है, यहांपर ही कृतित्व है। गुरु केवल स्थानको प्रत्यक्ष करा देते हैं, इसके विना और कुछ नहीं, उसको भेद करना तुम्हारा अपनी शक्तिका काम है। लो अब उठ करके ऊपर योगस्थानमें बैठो; बैठ करके यथाविधि योगका अनुष्ठान करो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्ज्जुन संवादे ज्ञानयोगो नाम
चतुर्थोऽध्यायः ।



पञ्चमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्म्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे कृष्ण ! कर्म्मणां संन्यासं पुनः योगं च शंससि (वदसि) एतयोः (मध्ये) यत् श्रेयः (श्रेयस्करं) मे (मह्यं) तत् एकं सुनिश्चितं ब्रूहि ॥ १ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं– हे कृष्ण ! कर्म्मसंन्यास करनेका कथा कह करके फिर कर्म्म-योग करने की कथा कहते हो; इन दोनोंके भीतर जो श्रेयस्कर हो सोई एक मुझको निश्चय करके कहो ॥ १ ॥

व्याख्या । चतुर्थ अध्याय १८ श्लोकसे ४१ श्लोक पर्य्यन्त सर्व कर्म्म-संन्यासकी कथा कही हुई है; फिर ४२ वें श्लोकमें कर्म्मानुष्ठान-लक्षण योगाश्रय करने की बात भी कही हुई है । परन्तु एकही समयमें इन दोनोंका अनुष्ठान होना असम्भव है । अब कौनसा अवलम्बन करना उचित है;—सबही ब्रह्म है, इस ज्ञानको धारणा करके कुछ भी न करके निष्कर्म्मा होना उचित है

या कर्म्मका अनुष्ठान करना उचित है ? मनमें इस प्रकार भावना उदय होनेसे, कौन श्रेयस्कर है सोई जानने के लिये, साधक यह प्रश्न उठाया करते हैं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । संन्यासं (कर्म्मणां परित्यागः) कर्म्मयोगः च (कर्म्मणां अनुष्ठानं च) उभौ निःश्रेयसकरौ (मोक्षं कुर्वाते) तु (तथापि) तयोः (मध्ये) कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगः विशिष्यते (विशिष्टः भवति) ॥ २ ॥

अनुवाद । श्री भगवान् कहते हैं । संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष देने वाले हैं, तथापि इनके भीतर कर्म्मसंन्याससे कर्म्मयोग श्रेष्ठ है ।

व्याख्या । ४ र्थ अः ४१ श्लोकमें ज्ञान और कर्म्म-संन्यासको जो श्रेष्ठ कहा गया था पुनश्च इस श्लोकमें कर्म्म-योगको जो श्रेष्ठ कहाजाता है, अधिकारी भेद प्रदर्शन करना ही इसका कारण है । कर्म्म और संन्यास, साधन-सोपानके दो प्रान्त हैं; कर्म्म नीचेके, संन्यास उपर वाले के । जो साधक नीचे हैं, उनको उठना हो तो प्रथम कर्म्मको आश्रय करनाही होवेगा, तब संन्यासको पावेंगे;

कर्म्म बिना संन्यास पाया नहीं जाता; इसलिये उनके पक्षमें (लिये) कर्म्मही श्रेष्ठ है । फिर जो पुरुष ऊपर उठगये--संन्यास लेचुके, उनको कर्म्ममें प्रयोजन न रहने से, उनके पास संन्यास ही श्रेष्ठ है । मुख्य बात यह है कि, कर्म्म अवलम्बित होनेसे ही संन्यास और संन्यास होनेसे ही मोक्ष होती है; इसलिये कहा हुआ है कि, दोनों ही निःश्रेयसकर अर्थात् मोक्षप्रद हैं ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

अन्वयः । हे महाबाहो ! सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः, यः न द्वेष्टि न कांक्षति; हि (यतः) निर्द्वन्द्वः (रागद्वेषादिद्वन्द्ववर्जितः) (अनायासेन) बन्धात् (संसारात्) प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अनुवाद । हे महाबाहो ! जो पुरुष द्वेष नहीं करते, आकांक्षा भी नहीं करते, उनको नित्यसंन्यासी कहके जानना, क्योंकि, निर्द्वन्द्व पुरुष ही अनायास करके संसार बन्धनसे मुक्ति लाभ करते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या । क्रियामें सिद्धि प्राप्तिकी इच्छा--आकांक्षा और प्राकृतिक भाव त्याग करनेकी इच्छा—द्वेष है । जो मनुष्य द्वेष और आकांक्षासे वर्जित होकर केवल मात्र गुरुवाक्यके अनुसार क्रिया करते हैं, और सावधानीसे देखते हैं कि ठीक ठीक उस वाक्यके अनुसार क्रिया

होती है या नहीं (इसको छोड़ मनके भीतर और कोई किसी दूसरे भावको नहीं रखते) वही साधक निष्काम हैं, सुख-दुःख, राग-द्वेष प्रभृति द्वन्द्वभाव उनमें नहीं रहता। इस प्रकार साधकके सन्मुख किसी प्रकारका कश्मल आ नहीं सकता, आत्मपथ उनके लिये खुलासा रहता है; इसलिये मुक्ति अर्थात् विष्णुपदमें लीन होना उनके पक्षमें अनायास-साध्य है, इस वास्ते वह नित्यसंन्यासी हैं॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

अन्वयः । सांख्ययोगौ पृथक् (इति) बालाः (अज्ञाः) प्रवदन्ति, न (तु) पण्डिताः; (अनयोः) एकं अपि सम्यक् आस्थितः (अनुष्ठित·वान्) उभयोः फलं विन्दते (आप्नोति) ॥ ४ ॥

अनुवाद । अज्ञ मनुष्यगण ही सांख्य एवं योगको पृथक् कहते हैं, लेकिन पण्डित लोग कहते नहीं; जो इन दोनोंके भीतर, एकको भी सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान करते हैं, वह दोनोंके ही फल प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या । जो लोग कर्म्मानुष्ठान नहीं करते वा कर्म्म में प्रवेशाधिकार नहीं पाये हैं, वह लोग बहुशास्त्रविद् होने से भी बालक अर्थात् अज्ञ वा कर्म्मशून्य ज्ञानी हैं । क्योंकि वह लोग तत्त्वको प्रत्यक्ष कर नहीं

सकते । वैसे जो लोग कर्म्मी हैं, उन सबको शास्त्रज्ञान न रहनेसे भी, वह लोग तत्त्व तत्त्वमें विचरते विचरते विश्व-प्रपंचका आदि कारणको प्रत्यक्ष करते हैं, इस करके पण्डित हैं । वो (कर्म्मशून्य ज्ञानी) अज्ञजना केवल अनुमानके ऊपर निर्भर करके केवल भाषाके मार पेंचसे, इससे उसको, उससे और एकको अलग करता है मात्र, सत्य निर्देश करने वाला दर्शनशक्ति उन सबको नहीं है । परन्तु जो लोग पण्डित हैं वह देखे हैं कि त्रिवेणीकी युक्त-वेणीमें जो जल है मुक्त वेणीमें भी वही जल है,—धारा एक है दो नहीं; युक्तवेणीमें स्नान-पानमें जो फल, मुक्त-वेणीमें भी वही है, इसलिये जो हो एकको ही सम्यक् आश्रय करते हैं, अर्थात् मनः प्राण समर्पणसे अन्तर्बहिः (भीतर-बाहर) शुचि करते हैं । यह योगमार्ग भी वही है । प्राणमें मन देकर सम्यक् प्रकारसे "ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि, मामनुस्मरन्" करते करते तन्मय हो जानेसे भी जो फल है, कूटस्थ पार होकर सहस्रारमें उठके मनमें मन देके नाद के साथ मिलके लय हो जानेसे भी वही फल है; दोनों मेंही मोक्ष हैं । जिस तरहसे ही हो चित्तलय होनाही मोक्ष है, सो कर्म्मसेही होय, वा सांख्यसे ही हो । इसलिये कहा हुआ है कि "एकमप्यास्थितः सम्यक्" इत्यादि ॥ ४ ॥

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

अन्वयः। सांख्यैः (ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिः) यत् स्थानं (मोक्षाख्यं) प्राप्यते; योगैः अपि (कर्म्मयोगिभिरपि परमार्थज्ञानसंन्यासप्राप्तिद्वारेण) तत् (स्थानं) गम्यते। (अतः) यः सांख्यं च योगं च एकं पश्यति सः पश्यति (स एव सम्यक्दर्शी) ॥ ५ ॥

अनुवाद। ज्ञाननिष्ठ संन्यासी लोग जो स्थान लाभ करते हैं, कर्म्मयोगीगण भी सोई स्थान लाभ करते हैं; अतएव सांख्य और योगको जो पुरुष एक देखे हैं, वह पुरुषही यथार्थदर्शी ॥ ५ ॥

व्याख्या। षट्चक्रका क्रिया—योग, और सहस्रार का क्रिया—सांख्य है। इन दोनोंकी ही परिसमाप्ति एक है (पूर्व श्लोक देखो)। मूलाधारसे सहस्रारके ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त सुषुम्नान्तर्गत एक ब्रह्मनाड़ी ही विस्तृत है। इस ब्रह्मनाड़ीमें सम्यक् प्रकार करके प्रवेश करनेसे और चक्रभेद रहता नहीं, क्रियपद निष्क्रियपद भेद रहता नहीं, सब एक होय जाता है। जो इस एक भावको देखे हैं (प्रत्यक्ष किये हैं) वही यथार्थ देखनाको देखे है; वही पुरुष साक्षी स्वरूपसे द्रष्टा अर्थात् वही पुरुष ब्रह्मविद् है ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

अन्वयः। हे महाबाहो! तु (किन्तु) अयोगतः (कर्म्मयोगं विना) संन्यासः दुःखं आप्तुं (दुःखहेतुः, अशक्यइत्यर्थः) योगयुक्तः मुनिः (ईश्वररूपमननात् मुनिः संन्यासी भूत्वा) न चिरेण (क्षिप्रमेव) ब्रह्म (परमार्थसंन्यासं) अधिगच्छति (प्राप्नोति)॥ ६॥

अनुवाद। हे महाबाहो! योग बिना संन्यास किन्तु दुःख प्राप्तिके हेतु होता है। जो कर्म्मयोगमें युक्त हुये हैं, वह मुनि होयके शीघ्रही ब्रह्मसाक्षात्कार (परमार्थ संन्यास) लाभ करते हैं॥ ६॥

व्याख्या। संन्यास और योग दोनोंका ही फल एक है सच, परन्तु योगानुष्ठान बिना संन्यास नहीं होता; क्योंकि योगही चित्तशुद्धिका एकमात्र उपाय है। अगर चे कोई योगानुष्ठान न करके संन्यास ग्रहण करे तो अवश होके उनको विषयकी खिंचाईमें पड़ा रहना पड़ता है, तब इन्द्रियवृत्ति सब प्रबल रहती है, इस सबबसे कुछ भी त्याग नहीं होता। किन्तु योगके द्वारा युक्त होनेसे, मन कूटस्थ पुरुषके दर्शन मनन द्वारा तद्गत होजानेसे शीघ्रही सब नाश हो जायके ब्रह्ममें स्थिति लाभ होता है। यह ब्रह्मस्थावस्था ही संन्यास है।

(जबतक चित्तशुद्ध न होय, तबतक ही कर्म्मयोग संन्याससे पृथक्, पश्चात् दोनों ही एक है)॥ १६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः॥
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥७॥

अन्वयः । योगयुक्तः विशुद्धात्मा (विशुद्धचित्तः) विजितात्मा (विजितदेह) जितेन्द्रियः (तथा) सर्वभूतात्मभूतात्मा (सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्य्यन्तानां भूतानां आत्मभूतः आत्मा प्रत्यक्चेतन यस्य सः, सम्यग्दर्शीत्यर्थः) (सन्) कुर्वन् अपि न लिप्यते (न बद्धो भवति) ॥ ७ ॥

अनुवाद । योगयुक्त पुरुष विशुद्धचित्त विजितदेह, जितेन्द्रिय और सम्यग्दर्शी होनेसे कर्म्म करके भी (कर्म्ममें) लिप्त नहीं होते ॥७॥

व्याख्या । योगयुक्त साधक पूर्व श्लोकके क्रियानुसार ब्रह्ममें स्थिति लाभ करके उतर आयके फिर उठ कर योगयुक्त होनेके पश्चात् विशुद्धात्मा होते हैं । अर्थात् विशुद्ध "मैं"--भावमें ही रहते हैं,--ज्ञानाग्निसे उनके सब कर्म्म भस्मसात् होनेसे विजितदेह होते हैं, (४र्थ अः ३७ श्लोक देखो),--४र्थ अः ३९ श्लोक अनुसार संयतेन्द्रिय अवस्था प्राप्त होनेसे जितेन्द्रिय होते हैं, अर्थात् विषय-संस्पर्शमें आनेसे उनकी कोई इन्द्रिय भी विषयमें आसक्त नहीं होती,--तथा ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त समुदाय भूतोंके आत्माभूत होयके सर्वदर्शी होते हैं । इस कारण करके उनसे प्रारब्ध सहयोगमें कर्म्म अनुष्ठित होनेसे भी उनको लिप्त होना नहीं पड़ता । चित्त चिज्ज्योति करके विशुद्ध होनेके पश्चात्, उसमें और विषय का छापा नहीं पड़ता ॥ ७ ॥

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृन्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्
गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥९॥

अन्वयः । तत्त्ववित् युक्तः इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते इति धारयन् (सन्) पश्यन्, शृन्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्, प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि "किंचित् करोमि" इति न एव मन्येत ॥ ८ ॥ ९ ॥

अनुवाद । तत्त्वविद् योगी, इन्द्रियगण ही स्व स्व विषयमें प्रवृत्त होता है, इस प्रकार धारण करके दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, आघ्राण, आहार, गमन, शयन (निद्रा), निश्वास त्याग, प्रश्वास ग्रहण, वाक्य कथन, त्याग, ग्रहण, चक्षुरुन्मीलन तथा निमीलन प्रभृति कार्य्य करके भी 'मैं कुछ करता हूं' इस प्रकार मनमें नहीं करते ॥ ८ ॥ ९ ॥

व्याख्या । जो साधक तत्त्वको जान चुके और सतत आत्मभावमें युक्त हैं, उनके चित्त विशुद्ध रहनेसे उनको मायिक जगतके, "मैं मेरे" भावमें मोहित होना नहीं पड़ता, इसलिये प्रारब्धभोगके लिये देखना, सुनना प्रभृति जो कुछ इन्द्रिय व्यापार होय, उसमें उनको कर्त्तृत्वाभिमान नहीं रहता । प्रारब्ध वश करके कृत कर्म्मका भला बुरा फल शरीरके उपर ही कार्य्य-

करी होता है, उनके प्रशान्त भावको विचलित कर नहीं सकता । देखना, सुनना, छूना, सूंघना, खाना,—पंच ज्ञानेन्द्रियके क्रिया है । बात बतियाना, ग्रहण-करना, गमन करना, मलमूत्र त्याग करना,--पंच कर्म्मेन्द्रियोंके क्रिया है। निश्वास फेंकना, प्रश्वास लेना, ताकना, आंख-मुंदना,—पंच प्राणके क्रिया है। सोना (निद्रालेना) अन्तरिन्द्रिय बुद्धि की क्रिया है ॥८॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

अन्वयः । यः कर्म्माणि ब्रह्मणि आधाय (निक्षिप्य) संगं त्यक्त्वा (फलासक्तिरहितः सन्) करोति, सः अम्भसा (जलेन) पद्मपत्रं इव पापेन न लिप्यते (न संबध्यते) ॥ १० ॥

अनुवाद । जो पुरुष समुदय कर्म्म ब्रह्ममें अर्पण करके संगत्याग पूर्वक अनुष्ठान करते हैं, वह पुरुष, कमल पत्रके ऊपरवाला जल सदृश, पापमें लिप्त नहीं होते ॥ १० ॥

व्याख्या । ६ । ७ । ८ । श्लोकमें योगयुक्त, मुनि, ब्रह्मसंन्यास, पश्चात् फिर योगयुक्त होके तत्त्ववित् होना--साधनाके यह जो ऊर्द्धक्रम कहा गया, उस क्रम अनुसार अबतक भी जो तत्त्ववित् नहीं हुये, वह साधक जिस प्रणालीमें क्रिया करेंगे, इस श्लोकमें वही उपदेश

कहा हुआ; अर्थात् उनको संगत्याग पूर्वक ब्रह्ममें कर्म्म समर्पण करके साधन करना होवेगा ॥

मूलाधारसे प्रारम्भ करके सुषुम्ना वज्रा चित्राके भीतरे भीतर सहस्रार पर्य्यन्त जो आकाशमयं छिद्र विस्तृत है, उसीका नाम ब्रह्मनाड़ी है * । इड़ा पिङ्गलाके भीतर वाले आकाशमय छिद्रको भी ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। उस ब्रह्मनाड़ीका आश्रय करके प्राण और अपान प्रति कमल में खेलता फिरता है । चित्तशुद्धिके लिये श्रीगुरुदेव शिष्यको (जिसको जैसे) जितने प्रकारकी क्रिया देते हैं, वह सब उस ब्रह्माकाशको अवलम्बन करके प्राणचालनके द्वारा अनुष्ठान करना पड़ता है; इसीका नाम है ब्रह्ममें कर्म्म समर्पण करना । उस प्रकार उसी उपायसे उर्द्धमें जाते

---

* ब्रह्मनाड़ी सुषुम्नाके अन्तर्गत वज्रा चित्राके भीतर देकर उठके समुदय कमलको भेद किया है। इसके भीतर मनको प्रवेश करानेका नाम ही कुल कुण्डलिनी शक्तिको जगाना है। इसके भीतर मन प्रवेश करनेसे शुद्धबुद्धिका विकाश होता है, जाननेका जो कुछ है सब जाना भी जाता है; इसलिये इसको ज्ञाननाड़ी भी कहते हैं । इस ब्रह्मनाड़ीका एक मुख मूलाधारमें, और एक मुख दोनों तरफसे सहस्रारकी ब्रह्मरन्ध्र में है (द्वितीय चित्र देखो); मूलाधारका मुख ही खुला हुआ है, सहस्रारके मुख बन्द है। सिद्ध पुरुषोंके देहत्यागके समय सहस्रारका मुख खुल जाता है, उसीको कहते हैं ब्रह्मरन्ध्र फटजाना । ब्रह्मरन्ध्र फटनेसे ही विदेह मुक्ति होती है । इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्नाकी तीन मुख ही मूलाधारमें एक है ॥ १० ॥

जाते इन तीनों नाड़ीके भीतर, विशेषतः सुषुम्नाके भीतर में, चित्र विचित्र रूप दर्शन होता है, और विविध स्थान में विविध शक्ति प्रबुद्ध होके साधकको भोग दानसे आवद्ध करनेके लिये आश्रय करने आती है; उन सब रूपमें मोहित होना वा उन सब शक्तिके किसीको आश्रय देना दूरकी बात, उन सबकी ही उपेक्षा करके केवल मात्र कूटस्थ लक्ष्य करके "मामनुस्मरन्" करते करते सीधा उठ जाना पड़ता है, कुछ किसीको स्पर्श करना न चाहिये; इसीका नाम संगत्याग करना है। इस रीतिसे क्रिया करनेसे पापमें लिप्त होना नहीं पड़ता, अर्थात् चांचल्य जनित कर्म्म बन्धनमें पड़ना नहीं होता। कमल पत्र जैसी जलमें जन्म लेकर जलमें ही बढ़ता हुआ तथा जलमें ही रहके जलमें लिप्त नहीं होता—जलका छापा उसमें नहीं पड़ता, ब्रह्मार्पित-कर्म्म संग-त्यागी साधक भी वैसे कर्म्मका आश्रय करके ही ऊर्द्ध क्षेत्रमें उठते हैं, कर्म्मको आश्रय करके ही प्रारब्ध अनुसार विषय भोग करते हैं, करके भी कर्म्ममें आवद्ध नहीं होते ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

अन्वयः । योगिनः आत्मशुद्धये (शरीरं चित्तं च परिशुद्धयर्थं)

संगं त्यक्त्वा (फलाकांक्षारहितः सन्) मनसा बुद्ध्या केवलैः (ममत्व-बुद्धिशून्यैः) इन्द्रियैः अपि कर्म्म कुर्वन्ति ॥ ११ ॥

अनुवाद । योगीगण आत्मशुद्धिके लिये, फलाकांक्षा त्याग करके शरीर, मन, बुद्धि तथा केवल इन्द्रिय सकलसे ही कर्म्म करते हैं ॥११॥

व्याख्या । [दशम श्लोकके प्रणालीसे योगीगण कितने प्रकारके क्रिया करते हैं, वह इस श्लोकमें कहा हुआ है] ।

वायु-पित्त-कफके क्रियासे शरीरकी नाड़ी-पथ सब बंद रहता है; उस अबस्थामें उस पथमें प्राण चालन करके उठा जा नहीं सकता; वह समस्त ही शारीरिक मल है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस प्रभृति विषयके प्रति परम रमणीय बोध करके आसक्त होयके वासनापर होना ही चित्तका मल है। चित्तका मल रहते आत्मामें निष्ठा नहीं होता । इसलिये शरीर और चित्तका मल दूर करना आवश्यक है; और इसके फलका नाम आत्म-शुद्धि है । इस आत्मशुद्धिके लिये योगीगण गुरु उपदेश अनुसार नानाविध आसन-मुद्रादि रूप शारीरिक क्रिया का अनुष्ठान करते हैं;--प्राण क्रियाके साथ आत्ममन्त्र, इड़ापिङ्गला-शोधन मन्त्र, ग्रन्थिभेद मन्त्र प्रभृति विविध प्रकार जप और कीर्तनादि रूप मानसिक क्रियाका अनु-ष्ठान करते हैं;--बुद्धिसे सत् और असत् निश्चय करके

"हृदि सन्निविष्टः" होते हैं,—और अन्तरतम प्रदेशमें प्रवेश करके "केवल इन्द्रिय" द्वारा तत्-पद्, नाद, बिन्दु प्रभृति परमार्थ तत्त्वोंके दर्शन, श्रवण, बोधनादि क्रिया करते हैं। बहिर्विषयसे प्रतिनिवृत्त ममत्वबुद्धि-शून्य अन्तर्मुखी इन्द्रिय ही "केवल इन्द्रिय" है। योगीगण यह सब जो जो क्रिया करते हैं, उसमें फल प्राप्तिकी आशा नहीं रखते, केवल गुरु वाक्यके पालन करते रहते हैं। संग वा आसक्ति रहनेसे आत्मशुद्धि नहीं होती ॥११॥

युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

अन्वयः। युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा नैष्ठिकीं (निष्ठासम्भूतां) शान्तिं आप्नोति; अयुक्तः कामकारेण (कामतः प्रवृत्त्या) फले सक्तः (सन्) निबध्यते (नितरां बन्धं आप्नोति) ॥ १२ ॥

अनुवाद। युक्त पुरुष कर्म्मफलको त्याग करके नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त होते हैं, और अयुक्त व्यक्ति, कामना वशसे फलमें आसक्त होयके कर्म्ममें आबद्ध होय पड़ता है ॥ १२ ॥

व्याख्या। (दशम श्लोकके प्रणालीसे, और ११ श्लोकके प्रकार अनुसार क्रिया करके साधक जो जो अवस्था प्राप्त करते हैं, वही बात १२ से १५ श्लोक पर्य्यन्त चार श्लोकमें कहा हुआ है, अर्थात् साधक प्रथमतः

युक्त पश्चात् नैष्ठिकी-शान्ति-प्राप्त, उसके बाद वशी, उसके बाद प्रभु, उसके बाद विभु होयके अज्ञान (परिपूर्णत्व हेतु सर्व-सम्बन्ध रहित) होते हैं।

ब्रह्ममें कर्म्म समर्पण करके काय, मन, बुद्धि और "केवल इन्द्रिय" द्वारा योगानुष्ठान करनेसे कर्म्मफल पर्य्यन्त ईश्वरार्पित (ब्रह्मार्पण) हो जाता है; तब साधक युक्त होते हैं, अर्थात् उनके अन्तःकरणके चारो वृत्ति सम्पूर्ण रूपसे अन्तर्मुखी होयके कूटस्थमें युक्त होता है। (यही है साधकके मनःक्षेत्रकी क्रिया,—४ र्थ अध्याय ७म श्लोकके व्याख्या देखो)। इस समय साधक एकदम कूटस्थमें उठ जाते हैं, नीचेके साथ उनका कोई सम्पर्क रहता नहीं, और नीचेवाली शक्तिद्वारा किसी प्रकारसे आक्रान्त भी होते नहीं इस करके अविचलित रहते हैं; इस अविचलित अवस्थामें परमार्थदर्शन करके जो शान्तिमय आनन्द होता है, उसीका नाम नैष्ठिकी शान्ति है। यह नैष्ठिकी-शान्ति-अवस्थाही बुद्धि-क्षेत्रकी क्रिया है। इस अवस्थामें विशुद्धात्मा होनेसे समझने और देखनेमें आता है कि, युक्त न होनेसे, अर्थात् आज्ञाचक्रमें आके स्थिर न होना पर्य्यन्त, उस शान्तिमय अवस्था पाया जाता नहीं; क्योंकि, अयुक्त अवस्थामें (आज्ञाके नीचे जबतक रहना होय, तब तक) रजोगुण-समुद्भव कामके द्वारा

आक्रान्त होनेसे कर्म्मफलमें आसक्त होयके बन्धनमें पड़ने होता है-पथहारा होने पड़ता है—ऊंचेमें उठ जाने सकते नहीं ॥ १२ ॥

सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्वयः । देही मनसा (विवेकबुद्ध्या) सर्वकर्म्माणि संन्यस्य (कर्म्मादौ अकर्म्म-सन्दर्शनेन संत्यज्य) नवद्वारे पुरे (देहे) वशी (जितेन्द्रियः भूत्वा) न एव कुर्वन् न एव कारयन् सुखं (यथास्यात् तथा) आस्ते (तिष्ठति) ॥ १३ ॥

अनुवाद । देही विवेक बुद्धिद्वारा सर्वकर्म्म त्याग करके वशी होयके नवद्वारयुक्त पुरमें (देहमें) कुछ न करके और कुछ न करायके सुख से अवस्थिति करते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या । साधक बुद्धिक्षेत्रमें नैष्ठिकी शान्तिके अवस्था प्राप्त होनेके पश्चात् अतीव सूक्ष्म भावसे द्रष्टा हो के (४र्थ अः २६ श्लोक देखो) संयमी होते हैं । इस समय आत्म-बुद्धिके उदय से सर्व्व-कर्म्म-संन्यास होता है, अर्थात् मनके संकल्प क्रियाका नाशके साथही साथ षट्चक्रमें प्राण-क्रिया भी त्याग हो जाता है, इस लिये दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुह्य, लिंग—देहके इस नवद्वारके क्रिया भी बन्द होयके बहिर्विषयसे

सम्बन्ध एकवारगी मिटजाता है; तब साधक वशी होते है (इसीको अहंक्षेत्रकी क्रिया कहते हैं) । इस समयमें संकल्प और निश्चय इन दोनों वृत्तिके मिटजानेसे, देहके भीतर रह करके भी, साधककी कोई क्रिया भी नहीं रहती, केवल सुखमें अर्थात् सुन्दर आकाशमें प्रकाशमय ज्योतिके भीतर आत्मानन्दमें अवस्थिति होती है । (७म श्लोकके विजितात्मा अवस्था यही है) । वशी-अवस्थामें क्रिया न रहनेसे भी, क्रिया-शक्ति और पूर्ण अहंत्व ज्ञान वा अहंज्ञान रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्म्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्म्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१४॥

अन्वयः । प्रभुः (ईश्वरः सन् सः) लोकस्य कर्त्तृत्वं न सृजति (उत्पादयति), कर्म्माणि न (सृजति), कर्म्मफलसंयोगं न (सृजति); स्वभावः तु (प्रकृति एव) प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

अनुवाद । प्रभु (ईश्वर) लोगोंके कर्त्तृत्व सृजन नहीं करते, कर्म्म सृजन नहीं करते, और कर्म्मफलके संयोग भी सृजन नही करते; स्वभावही प्रवर्त्तित होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या । वशी होनेके पश्चात् साधक चित्त क्षेत्रमें उठ जायके प्रभु (प्रकृष्टरूपसे स्थित) होते हैं । तब एकमात्र चिन्तन-वृत्ति वर्त्तमान रहता है, और वह

निरहंकारत्व हेतु सर्वज्ञ होते हैं। प्राकृतिक २४ तत्त्व के भीतर चैतन्यका सर्व प्रधान अवस्था यही है, इसलिये वह प्रभु (ईश्वर) हैं। इस समय साधक अपनेको देखते हैं कि, और वह प्रकृतिके अधीन नहीं हैं, प्रकृति ही उनके अधीन है, उन्हींको अवलम्बन करके प्रकृति अपना खेल खेल रही है। सत्यादि चतुर्दश * भुवनमें जो कुछ कर्त्तृत्व, कर्म्म, और कर्म्मफल-संयोग होता है, उसे वह कुछ नहीं करते, वह उन सबका साक्षी मात्र हैं; प्रकृति उनही को आश्रय करके वह सब कर रहीं है। यही प्रकृति ही उनका स्वभाव अर्थात् अपना भाव वा अवस्था है। यह स्वभाव वा अवस्था दो प्रकारका—स्वाधीन और अधीन। जब तक चैतन्यसत्त्वा अहंक्षेत्र पार न होके जीवभावमें रहते हैं, तब तक वह स्वभाव स्वाधीन,—चैतन्य उनके गर्भमें अधीन है, इस अवस्थामें ही प्रकृति जननी, जीव पुत्र है, जब चैतन्यसत्वा ईश्वर-भावमें रहते हैं—तब वह स्वभाव अधीन—चैतन्य उसके ऊपर प्रभुत्व करते हैं; इस अवस्थामें ही प्रकृति रमणी, ईश्वर स्वामी है। साधन बल करके प्रभु पदमें उठ बैठने

---

* मूलाधारादि सहस्रार पर्य्यन्त सात चक्र ही सप्तस्वर्ग और पगके वृद्धांगुष्ठके अग्रभाग और दो गांठ पाउंलि गांठ जंघागांठ घुटना (उरुकटि-सन्धि) और कटि (कमर)—सातस्थान सप्तपाताल है। इन सबकी क्रिया गुरूपदिष्ट साधनामें पाया जाता है ॥ १४ ॥

सेही "जननी रमणी, रमणी जननी" वाक्यके सार्थकता समझा जा सकता है । प्रभु अवस्थामें क्रियाशक्ति लीन हो जाता है, एक "मै ही मै" मात्र भाव व्यतीत और कुछ नहीं रहता। यही है ७म श्लोकके जितेन्द्रिय अवस्था ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

अन्वयः । विभुः (भूत्वा सः) कस्यचित् पापं न आदत्ते (गृह्णाति) न च एव सुकृतं (आदत्ते)। ज्ञानं (अहंवृत्तिरपि) अज्ञानेन (वृत्ति विस्मरणेन) आवृतं (भवति); तेन (हेतुना) जन्तवः (चित्तवृत्तय उत्पत्तिस्थितिनाशशीलाः) मुह्यन्ति (निरुद्धाः भवन्ति) ॥१५॥

अनुवाद । विभु किसीका पाप ग्रहण करते नहीं, सुकृति भी ग्रहण करते नहीं; अज्ञानसे ज्ञान आवृत होता है, इसलिये जन्तु सब मोहको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या । प्रभु-अवस्थाके बाद साधक विभु होते हैं अर्थात् विश्वव्यापी होके चिन्मात्रावशिष्ट होते हैं । यही है गुणातीत अवस्था—शिवपद; ७ वां श्लोकके सर्व भूतात्म-भूतात्मा अवस्था भी यही है। यह भी एकठो अवस्था है, क्योंकि इस समय चैतन्यसत्त्वा चित्त वा महत्तत्त्वके बाहर जानेसे भी अव्यक्त और चित्तके संक्रम-स्थानमें रहनेसे

थोड़ासा संस्पर्श दोष रहता है। इस समय पाप और सुकृति अर्थात् प्रवृत्ति निवृत्ति सब मिट जाता है, किसीका ग्रहण नहीं रहता; क्योंकि चैतन्य माया-मुक्त अवस्थाको त्याग करके मायातीत हो जानेसे, मायिक और प्राकृतिक क्रिया समूह लीन हो जाती है। यह गुणातीत विभु-अवस्था अनतिविलम्बमें ही लयको पाता है; तब सर्व अवस्था का ही शेष होता है,—अवस्थाविहीन अवस्था--जिसको व्यक्त किया जा नहीं सकता, समझना और समझाने के अतीत सोई अव्यक्त-अवस्था--अज्ञान-अवस्था--सब-मिट जाना अवस्था आता है। यह विभु-अवस्था पर्य्यन्त ही ज्ञान टिकता है, और उसके ऊपर जा नहीं सकता। उस सब-मिटना अवस्थामें ज्ञान भी मिट जाता है। उस अज्ञान-अवस्था आनेसे "जन्तवः" अर्थात् उत्पत्तिस्थिति-नाश-शील इन्द्रिय-वृत्ति समूह मोहको प्राप्त होता है अर्थात् निष्क्रिय होयके जड़ीभूतप्राय हो जाता है*॥१५॥

* यह जो अज्ञान अवस्था होती है, इसमें सर्व वृत्ति जड़ीभूत प्राय--निष्क्रिय हो रहता है, लय होता नहीं, क्योंकि देह रहता है। देह त्याग न होनेसे विश्वका अर्थात् सर्ववृत्तिका लय नहीं होता। यह अज्ञान-अवस्था साधनाका चरम फल करके तो होता ही है, मृत्यु होनेसे भी जीवमात्रके होता है। असम्प्रज्ञात-समाधि भङ्ग हो जायके विषयमें उतर आनेसे साधकका जैसे सब वृत्ति क्रियामुखी होती है, वैसे जीव मृत्युके बाद जन्म द्वारा पूनराय देह धारण करने

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् ॥१६॥

अन्वयः। तु (किन्तु) येषां तत् अज्ञानं आत्मनः ज्ञानेन (समाधिभंगेन पुनरहंज्ञानप्राप्तिद्वारेण), नाशितं, तेषां तत् ज्ञानं (आत्मज्ञानं) आदित्यवत् (भूत्वा) परं (परमार्थतत्त्वं) प्रकाशयति ॥१६॥

अनुवाद। किन्तु जिन लोगोंका वह अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा विनष्ट होता है, उन लोगोंका वह आत्मज्ञान आदित्य सदृश (स्वप्रकाश और पर-प्रकाशक) होके परमार्थ तत्त्वको प्रकाश कर देते रहते हैं ॥१६॥

व्याख्या। वह सब-मिटजाना अवस्था (समाधि) भंग हो के प्रभु-अवस्थामें उतर आने के पश्चात् जिस आत्मज्ञानका विकाश होता है, वह आत्मज्ञान आदित्यवत् प्रकाशमय है; उसमें ज्ञान, ज्ञेय और इस शरीर रूप विश्वका प्रत्येक अनु परमाणु पर्य्यन्त प्रत्यक्ष होता है—

से पूर्वजन्मके सब वृत्ति ही एक एक करके प्रकाश होता है। मृत्युके अज्ञानता और समाधिकी अज्ञानतामें प्रभेद यह है कि,—मृत्युमें देह त्याग होता है, समाधिमें देह त्याग नहीं होता; जीव मृत्युमें प्रकृतिकी अधीन ही रहते हैं, समाधिमें स्वाधीन होते हैं, मृत्युमें—असाधकके लिये विषय और योगभ्रष्ट साधकके लिये ज्ञान अवलम्बन रहता है, समाधिमें कुछ भी नहीं रहता निरालम्ब होके निर्वाण मुक्ति होती है ॥ १५ ॥

भूत और भविष्यत् भी वर्त्तमान के सदृश दृष्टिगोचर होता हैं * ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

---

* भगवान ६ष्ठ श्लोकमें "योग बिना संन्यास नहीं होता" यह कथा कहकर देखलाये कि, योगयुक्त होनेसे शीघ्रही तत्त्वातीत होयके ब्रह्म प्राप्ति होता है । फिर शरीरके शेष निःश्वास त्याग न होने से स्वभावके वश करके साधक जब तत्त्वमें उतर आते हैं, तब साधक तत्त्ववित् (८म श्लोक) होते हैं,—उनमें एकाधारमें योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय, सर्वभूतात्मभूतात्मा—इन पांचों अवस्थाओंका समावेश होता है । किन्तु साधनामें उठ जानेके समय ये पांच अवस्था एकके बाद एक क्रम करके पृथक् पृथक् भावमें होता है । ६-८ श्लोकमें योगफल साधारण भावसे व्यक्त करके, सो सब अर्जुनको (साधकको) विशेष भावसे समझानेके लिये १०-११ श्लोकमें साधनाके ऊर्द्ध क्रमके प्रणाली और प्रकार कह दिये, तथा १२-१५ श्लोकमें उन पांच अवस्था पृथक् भावसे वर्णन किये । अतएव ८म श्लोकके तत्त्ववित् अवस्था भी जो है, इस १६श श्लोकके वर्णित अवस्था भी वही है; दोनों ही एक । इस अवस्थामें ही साधक ईश्वर है । परंतु साधकके ईश्वरत्वमें और जगदीश्वरके ईश्वरत्वमें प्रभेद यह है कि, साधक, साधकके क्षुद्र ब्रह्माण्डके (शरीरके) ईश्वर; और जगदीश्वर इस बृहत् ब्रह्माण्डके ईश्वर; साधकके लयसे बहिर्ब्रह्माण्डके पंचभूत-निर्म्मित उनके देहका उपादानका लय नहीं होता, सो सब पंचभूतमें ही पड़ा रहता है, परन्तु जगदीश्वरके लयमें समुदायका लय होता है ॥ ३६ ॥

अन्वयः । (ते) तद्बुद्धयः तदात्मानः तन्निष्ठाः तत्परायणाः ज्ञान-निर्धूतकल्मषाः (सन्तः) अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति ॥ १७ ॥

अनुवाद । उस आदित्यवत् ज्ञानमें जिनकी बुद्धि रहता है—चित्त रहता है, उसीमें ही जिन सबकी निष्ठा, और वही जिनकी परमगति है, ज्ञानद्वारा उन सबका कल्मष धौत होनेसे, उन सबको अपुनरावृत्ति-गतिकी प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

व्याख्या । (पूर्वोक्त प्रकारसे जो साधक साधना किये हैं, उनका परिणाम क्या होता है, वही इस श्लोकमें कहा गया है) ।

साधन अवस्थामें असम्प्रज्ञात समाधि भङ्ग होजानेके पश्चात् जो अवस्था होती है, वही जीवन्मुक्तावस्था (ज्ञानासीनावस्था) है । उस समय किंचित्मात्र भी कश्मल नहीं रहता; तब सबही ज्ञानमय वा ब्रह्ममय—बुद्धि ब्रह्म, चित्त ब्रह्म, स्थिति ब्रह्म, अयन ब्रह्म; इसलिये साधक जीवन्मुक्त हैं । इसी कारण करके शरीर त्याग होनेसे ही विदेह मुक्ति वा अपुनरावृत्ति गति प्राप्ति होती है ॥ १७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

अन्वयः । (ते) पण्डिताः (ज्ञानिनः) विद्याविनयसम्पन्ने (विद्या आत्मबोधः विनयश्च उपशमः ताभ्यां सम्पन्नः तस्मिन्, उत्तमसंस्कार-

वति) ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि, शुनि (कुक्कुरे), श्वपाके (चण्डाले) च एव समदर्शिनः (ब्रह्मदर्शिनः भवन्ति) ॥ १८ ॥

अनुवाद । वह ज्ञानीगण विद्याविनय-सम्पन्न ब्राह्मणमें, गाभिमें, हस्तिमें, कुक्कुरमें और चण्डालमें भी समदर्शी (समान एक ब्रह्म स्वरूपसे सबका दर्शन करते हैं) ॥१८॥

व्याख्या । जो सब महात्मा ज्ञानावस्था पाके अपुनरावृत्ति गतिके अधिकारी हो चुके हैं, वह लोग संसारमें रह करके किस प्रकार चालसे चला फिरा करते हैं, वही इस श्लोकमें और पर श्लोकमें कहा गया है) ।

जिन लोगोंका आदित्यवत् ज्ञानका प्रकाश होता है, उनकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि स्थापित होनेसे भेदाभेद नहीं रहता, भला बुरा बोध नहीं रहता, शुचि अशुचिकी उद्वेग नहीं रहता । सब एक ब्रह्ममय होता है,— ब्राह्मण भी जो ब्रह्म,—गौ, हाथी, कुत्ता, चण्डाल भी वही ब्रह्म है—उनके चक्षुमें जगत् "सर्व ब्रह्ममयं" भासमान है॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

अन्वयः । येषां मनः (अन्तःकरणं) साम्ये स्थितं, तैः इह एव सर्गः (जन्म, संसारः) जितः (वशीकृतः निरस्तः); हि (यस्मात्) निर्दोषं यत् समं तत् ब्रह्म, तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः ॥ १९ ॥

अनुवाद। वही समदर्शी पण्डितगण—जिनका मन समतामें स्थित है, वह लोग जीवद्दशामें ही संसारको निरस्त करते हैं। वह लोग ब्रह्ममें ही अवस्थित हैं, क्योंकि दोषशुन्य समभाव जो ब्रह्म भी वही है॥१६॥

व्याख्या। जब प्राणस्थिर होजाता है, मन भी स्थिर होता है, तबही "सम" होता है; जब साधक उस सममें रहते हैं उस रहनेका नाम तब उनकी समाधि कहते हैं। उस समताका निर्दोष भावही ब्रह्म है। शास्त्रमें राग द्वेष मोह को दोष कहते हैं; शब्द-स्पर्शादि विषय ही उस दोषका विषय है; इसलिये विषय ही दोष,—ब्रह्मसे विषयका पृथक् ज्ञानही दोष है। साधक जब मनको लय करके समाधि लेने जाते हैं, उस समय यदि विकर्म्मसे आक्रान्त न होय तो उनका मन चैतन्यमें लय हो जाता है; यह लय होना ही—यह समता ही निर्दोष है। किन्तु उस समय यदि विकर्म्म आकर उनको आक्रमण कर सके तो, उनके मनमें शब्द-स्पर्शादि कोई एक विषय जाग उठता है; तब उनका मन उसी विषयको लक्ष्य करके ही लय होता है, इसलिये वह समाधि (सममें स्थिति) निर्द्दोष न होयके सदोष होता है। यह सदोष समाधि ब्रह्मत्व नहीं है। जो लोग तत्वदर्शी हैं, उनका समाधि निर्दोष है; इसलिये वह लोग ब्रह्ममें स्थित अर्थात् ब्रह्मभाव प्राप्त है; वह लोग प्रारब्ध वश करके विषयमें आने से भी विषयको ब्रह्मसे पृथक् भावसे देखते नहीं, उनके

लिये सबही ब्रह्म है; इस करके जीवद्दशामें ही वह लोग सर्गजित् है। जीवका शरीर ही सर्ग (सृष्टि) है। जीव जब तक जीवित रहते हैं, तबतक शरीराभिमान रहनेसे विषय और इन्द्रिय संस्पर्श करके शारीरिक सुख-दुःखमें अभिभूत होते हैं; किन्तु देहत्याग करके चलजाने के पश्चात् उस मृत देहमें आत्माभिमान करके और सुख दुःख भोग नहीं करते, तब उस देहके ऊपर उनका आत्माभिमान निरस्त होजाता है। ठीक वैसे जो लोग ज्ञानावस्थापन्न होते हैं, उनका शरीराभिमान एक दम दूर हो जाता है, इसलिये, वो लोग ब्रह्मभावमें अवस्थित रहनेसे, विषय और इन्द्रिय संस्पर्शसे उनके मनमें सुख दुःखादि कोई विकार उपस्थित नहीं होता; जीविता-वस्थामें भी वह लोग अविच्छेद (समाने समान) ब्रह्मा-नन्दमें रहते हैं, इसीलिये वो सब महापुरुषों स्वर्ग-जयी हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढ़ो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

अन्वयः । ब्रह्मवित् स्थिरबुद्धिः (निश्चलबुद्धिः) असंमूढ़ः (संमोह-वर्जितः) ब्रह्मणि एव स्थितः; अतः प्रियं (ईष्टं) प्राप्य न प्रहृष्येत् (न हर्षं कुर्य्यात्) अप्रियं (अनिष्टं) च प्राप्य न उद्विजेत् (न विषी-दति ॥ २० ॥

अनुवाद । ब्रह्मविद् पुरुष स्थिरबुद्धि, मोहवर्जित, ब्रह्ममें ही अवस्थित हैं; इसी कारणसे वह प्रियवस्तु प्राप्त होके आनन्दित वा अप्रिय प्राप्त होके उद्विग्न नहीं होते ॥ २० ॥

व्याख्या । (जो साधक ब्रह्मभावमें अवस्थित हैं, उनका लक्षण क्या, इस श्लोकमें वही कहा हुआ है)।

साधारण लोग और साधनामें जो लोग सिद्ध नहीं हुये हैं, वह सब जिस जिस पदार्थको इष्टकर तथा अनिष्ट-कर ज्ञान करते हैं, ब्रह्मवित् प्रारब्ध भोगकालमें * वही सब वस्तु पाके आनन्दित अथवा दुःखित नहीं होते; उनकी बुद्धि अचल अटल भावसे ही ब्रह्ममें अव-स्थित, इसलिये मोहवर्जित है ‡ । वह " अगाधबुद्धि-रक्षुब्धः" ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखं ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

---

* जगतमें रहके जो कुछ करना हो, उद्देश्यशुन्य होके कर चलनेका नाम प्रारब्ध भोग है ॥ २० ॥

‡ "हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता ॥
यत् पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो ! तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥" अष्टावक्रः ॥

अन्वय: । बाह्यस्पर्शेषु (शब्दादि बहिर्विषयेषु) असक्तात्मा (अनासक्तचित्तः) आत्मनि यत् सुखं (तत्) विन्दति; (अतः) सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ब्रह्मयोगेन समाहितान्तःकरणः भूत्वा) अक्षयं सुखं अश्नुते ॥ २१ ॥

अनुवाद । बाह्यविषयमें अनासक्तचित्त पुरुष, आत्मामें जो सुख है उसीको लाभ करते हैं, तत् पश्चात् ब्रह्ममें समाहित होके वह अक्षय सुख भोग करते हैं ॥ २१ ॥

व्याख्या । (ब्रह्मवित्‌की स्थिरबुद्धि और असंमोह होनेका कारण निर्देश करनेके लिये इस श्लोकमें कहा हुआ है कि, विषयासक्ति विहीन पुरुष शान्त होयके अक्षय सुख भोग करते हैं ।)

प्राणायामादि क्रिया द्वारा शरीर और मन शुद्ध होनेके पश्चात्, बाहरके शब्द-स्पर्श प्रभृति विषयसे मन उठ आके भीतरमें प्रवेश करता है, तब और आंख खुलके ताकनेकी इच्छा करते नहीं, बाहरवाले किसीके प्रति मन जाता नहीं, आसक्ति भी रहती नहीं । यह अवस्था थोड़ासा साधानासे ही धारणामें आता है । इस समय कूटस्थके व्यापार प्रत्यक्ष करके मन प्राण सर्व इन्द्रिय आनन्दमें मोहित हो जाता है; इसीका नाम आत्म-सुख लाभ । उस सुखको जिन्होंने जान लिये, वही समझ लिये; वह भाषामें व्यक्त होता नहीं । इस अवस्थाके वाद ४र्थ अः २५ श्लोक अनुसार ब्रह्मयज्ञका प्रारम्भ

होता है, अर्थात् साधक ब्रह्माग्निमें आत्माको आहुति देके ब्रह्म-समाधि लाभ करते हैं । इस समाधि भोग होनेके पश्चात् चित्तमें जो स्रोत बहती रहती है, उसीको ब्रह्मानन्द कहते हैं । यह ब्रह्मानन्द जिन्होंने एक दफे भोग किये हैं, उनका मन विषयमें और रहता नहीं, उसी आनन्दमें ही मतवारा रहता है; उसका और शेष होता नहीं,—इस लिये वह अक्षय सुखभोग करते हैं । इस कारण करके ब्रह्मवित् संसारके प्रिय तथा अप्रिय विषयमें मोह प्राप्त होते नहीं । अतएव, साधक ! तुम भी बाहरके विषयसे सब इन्द्रियों को निवृत्त करो, यह इङ्गित किया गया ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! हि (यस्मात्) ये भोगाः संस्पर्शजाः (विषयेन्द्रियसंस्पर्शेभ्यः उत्पन्नाः) ते एव दुःखयोनयः (आध्यात्मिकादेः दुःखस्य कारणभूताः) आद्यन्तवन्तः (उत्पत्तिनाशशीलाः); (अतः) बुधः (विवेकी) तेषु न रमते ॥ २२ ॥

अनुवाद । जो सब भोग विषय और इन्द्रिय संयोगसे उत्पन्न, सो समस्त ही दुःखके कारण और आदि-अन्त विशिष्ट (अनित्य) है; हे कौन्तेय ! इसी लिये विवेकी पुरुष उन सब भोगमें आसक्त होते नहीं ॥ २२ ॥

व्याख्या। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पांच विषय, कर्ण, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, और नासिका इन पांच इन्द्रियसे ही भोग होता है । प्रत्येक इन्द्रियके विषय भोग करने की शक्ति की सीमा है; उस सीमा अतिक्रम होनेसे ही उसमें और भोग सुख मिलता नहीं, दुःख उत्पन्न होता है,—जैसे मिठाई खायके तृप्त होनेके पश्चात् और खाया जाता नहीं, वमन चेष्टा, शिरमें दर्द उठ कर कष्ट होता है; तैसे। एही है जगतके नियम । इसलिये विषयभोग-सुख मात्र ही अल्पस्थायी और परिणाममें दुःख उत्पन्न करता है, कहा गया । और भी, विषय भोगमें आसक्त होनेसे मनका आध्यात्मिकी (आत्माभिमुखमें उठने की) शक्ति निस्तेज होता है, अर्थात् जिस शक्ति-द्वारा परमात्माको अनुभव किया जाय, और जिसके तेज करके चित्तमें विषयके स्पर्श न होनेसे अन्तराकाश परिष्कार रहता है, वही शक्ति घट जाती है, अतएव अन्तराकाश ढका पड़ता है। किन्तु बाहरके विषय भोग से विरत होनेके बाद अन्तरमें जिस सुखका उदय होता है, उस सुखका और शेष नहीं, अनन्तकाल भोग करनेसे भी उस सुखसे विकार उत्पन्न होता नहीं । विवेकी पुरुष इसीलिये विषय सुखमें आसक्त होते नहीं ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

अन्वयः। यः नरः इह एव (जीवन्नेव) शरीरविमोक्षणात् प्राक् (आमरणं) कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं (सहितुम्) शक्नोति, सः युक्तः सः सुखी ॥ २३ ॥

अनुवाद। शरीर त्यागके पूर्व समय पर्य्यन्त जो मनुष्य इह लोक में काम और क्रोधका वेग सहन कर सकता है, वही पुरुष युक्त—वही पुरुष सुखी है ॥ २३ ॥

व्याख्या। सुख ही मनुष्यका लक्ष्य है। उसके भीतर विषय-सुख अनित्य और दुःखकर, किन्तु आत्मानन्द-सुख अक्षय है। अतएव आत्मानन्द-सुख ही परम पुरुषार्थ है। परन्तु काम और क्रोध इस परम पुरुषार्थ लाभके अन्तराय (विघ्न) है। विषय की मोहिनीशक्ति वा आकर्षण ही काम है; यह काम प्रतिहत (बाधा-प्राप्त) होनसे ही क्रोधमें परिणत होता है (३ य अः ३७ श्लोक देखो)। काम क्रोध साधकको भीतर बाहरमें आक्रमण करते हैं। जो मनुष्य जाग्रत् अवस्थामें विषय-संश्रवमें आके मृत्युके पूर्व पर्य्यन्त शरीरके सुस्थ, असुस्थ, सब अवस्थामें ही भोगके विषयमें अनुरक्त अथवा भोगवाली विषय की हानि करके विरक्त न होते हैं, वही पुरुष युक्त—वही पुरुष सुखी है। यह तो गये बाहर की बात। वैसे भीतर में गुरूपदिष्ट मार्गमें क्रिया करनेके समय जबतक मन

"इह" अर्थात् पञ्चतत्त्वके भीतर रहता है, तबतक मनोवृत्ति समूह अतीव सूक्ष्म होनेके साथही साथ उस काम और क्रोधका वेग प्रबल होता है,—और अनजानसे मनको आक्रमण करता है । जो साधक इस अवस्थामें पंचतत्त्वके ऊपर उठकर अज्ञानचक्रको भेद करके कूटस्थमें पड़नेके पूर्व पर्य्यन्त (प्राक् शरीरविमोक्षणात्), विवेक और वैराग्यको आश्रय करके उस वेगको सहन कर सकते, अटल स्थिर भावसे कूटस्थको लक्ष्य कर रह सकते हैं, थोड़ा सा भी विचलित नहीं होते हैं, वही पुरुष युक्त—वही पुरुष सुखी, अर्थात् वह साधक सुन्दर चिदाकाशमें आश्रय प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

अन्वयः । यः अन्तःसुखः (अन्तः आत्मनि सुखं यस्य सः) अन्तरारामः (आत्मनि आरामः क्रीड़ा यस्य सः) तथा एव यः अन्तर्ज्योतिः (अन्तः आत्मा एव ज्योतिः प्रकाशः यस्य सः), सः योगी ब्रह्मभूतः (ब्रह्मणि भूतः स्थितः सन्) ब्रह्मनिर्वाणं (ब्रह्मणि लयं) अधिगच्छति ॥ २४ ॥

अनुवाद । जिनको आत्मामें ही सुख, आत्मामें ही आराम और आत्मामें ही प्रकाश है अर्थात् जो अन्तःकरणमें स्वयं आत्माके बिना और

किसीको नहीं लेते, वही योगी ब्रह्ममें स्थिति लाभ करके ब्रह्मनिर्वाण (कैवल्य मुक्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या। केवल काम-क्रोधके वेग धारण करनेसे ही नहीं होता; जिन्होंने अन्तर्दृष्टि द्वारा कूटस्थके भीतर प्रवेश पूर्वक चित्-स्वरूपको दर्शन करके सुख अनुभव करते हैं, अर्थात् उत्फुल्ल होते हैं, पश्चात् चंचलता विहीन हो के वही चित्-स्वरूपमें आराम लाभ करते हैं, अर्थात् स्थिर होते हैं, और वही चित्-ज्योतिके सहारेसे जो कुछ लक्ष्य होता है उसीको सूक्ष्म दृष्टि द्वारा भेद करते हैं, उसकी बुद्धि सूक्ष्म ,अतिसूक्ष्म, उससे भी सूक्ष्म होते होते अनन्तमें मिलजाता है--सर्ब बूत जाता है, अपने भी ब्रह्ममें मिश करके ब्रह्म हो जाते हैं। यही योगीका ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

अन्वयः। क्षीणकल्मषाः (निष्पापाः) छिन्नद्वैधाः (छिन्नसंशयाः) यतात्मानः (संयतचित्ताः) सर्वभूतहिते रताः (सर्वेषां भूतानां हिते आनुकुल्ये रताः) ऋषयः (सम्यगदर्शिनः) ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते ॥२५॥

अनुवाद। निष्पाप, संशय शून्य, सर्वत्यागी और सर्व भूतोंके हित साधनमें रत ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाणको लाभ करते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या। पूर्व श्लोकमें जिस प्रकारसे योगी ब्रह्म-निर्वाणको लाभ करते हैं, दिखायके, भगवान इस श्लोकमें संन्यासीके ब्रह्मनिर्वाण प्राप्तिकी कथा कहते हैं। जो साधक योगानुष्ठान द्वारा सर्व कर्म्म त्याग करके ऋषि अर्थात् सम्यक्दर्शी होते हैं, वह पुरुष ही संन्यासी, आब्रह्म स्तम्बपर्य्यन्त सबमें ही उनकी ब्रह्मदृष्टि, इसलिये उनमें कोई कल्मष वा द्विधा नहीं रहता। फिर उनका चित्त भी सदाही विक्षेप-विहीन अवस्थामें ब्रह्मभावमें रहता है, इससे वह सर्वत्यागी, और वह मंगलमय होके सर्व प्राणियोंका हित करते हैं, अर्थात् उनके दर्शन मात्र ही से जीव जगतके प्राणमें शान्तिका संचार होता है; और उनके उपदेशसेही ज्ञान लाभ कीया जाता है। इसी प्रकारसे काल कटायके संन्यासी लोग भी ब्रह्म-निर्वाणको पाते हैं॥ २५॥

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

अन्वयः। कामक्रोधविमुक्तानां यतचेतसां (संयतचित्तानां) विदितात्मनां (ज्ञातात्मतत्वानां) यतीनां (संन्यासीनां) अभितः (उभयतः जीवतां-मृतानां च) ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते॥ २६॥

अनुवाद । कामक्रोध-विमुक्त, संयतचित्त, सम्यक्‌दर्शी संन्यासियों के जीवित और मृत दोनों अवस्थामें ही ब्रह्मनिर्वाण विद्यमान रहता है ॥ २६ ॥

व्याख्या । जो संन्यासी उन सब गुण सम्पन्न है, वह जीवन्मुक्त—जीवितावस्थामें भी मुक्त (ब्रह्म स्वरूप में सदा अवस्थित रहते हैं इस करके उनमें संगदोष नहीं होता है) मरणमें भी मुक्त (मृत्यु होते मात्र ही उनको अपुनरावृत्ति वा परमागतिकी प्राप्ति होती है) । कामक्रोध-विमुक्त प्रभृति गुण कर्म्मयोग बिना लाभ होता ही नहीं, उसीको लक्ष्य कराय देनेके लिये श्रीभगवान संन्यासीके उन सब विशेषण दिये हैं । इसलिये पश्चात्‌के श्लोकमें कर्म्मयोग विस्तार करके कहते है । विदितात्मा अर्थात् आत्माको विदित होना है, जैसे दीप शिखामें दीप शिखाका मिलन ॥ २६ ॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

अन्वयः । बाह्यान् स्पर्शान् (शब्दादि विषयान्) बहिः कृत्वा (तच्चिन्तात्यागेन इति भावः) चक्षुः च एव भ्रुवोः अन्तरे (भ्रूमध्ये)

कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा यः यतेन्द्रियमनो-बुद्धिः विगतेच्छाभयक्रोधः मोक्षपरायणः (सन्) मुनिः (भवति), सः सदा (जीवन्नपि) मुक्तः एव ॥ २७ ॥ २८ ॥

अनुवाद । शब्दादि विषय-समूह को अन्तरसे दूर करके, चक्षुको भ्रूमध्यमें स्थापन करके, नासाभ्यन्तरचारी प्राण और अपानको समान करके जो पुरुष इन्द्रिय-मन-बुद्धि संयत करते हैं तथा इच्छा-भय क्रोध-विहीन और मोक्षपरायण होके मुनि हुये हैं, वह पुरुष सदाही मुक्त हैं ॥ २७ ॥ २८ ॥

व्याख्या । भगवान बराबर कह आये हैं कि, कर्म्म-योगही मोक्षका कारण है; इसलिये योग और संन्यास दोनोंका ही ब्रह्मनिर्वाण स्वरूप एक परिणाम देखाय करके, अब फिर कर्म्मयोगके अन्तर्गत ध्यानयोग विशेष करके कहते हैं ।

विषयचिन्ता न करनेसे ही 'अन्तरसे विषयको बाहर करना' होता है; कारण कि चिन्ता करनेसे ही विषय अन्तरमें प्रवेश करता है । दोनों भ्रूके अयेन वीचमें जहां तिलकका विन्दु लगाया जाता है, उसी स्थानमें—दृष्टि स्थिर रखने पड़ता है, उसीका नाम भ्रूमध्यमें आंख चढ़ाना । सहज क्रियामें प्राणायाम करते करते जब निश्वास और प्रश्वास बारीकसे बारीक हो आता है और उसकी बेग नासिकाके भीतरमें ही बहती है, उस समयमें

गुरूपदिष्ट उपायसे * प्राणापानको समान करना पड़ता है । प्राणापानका समान होनेसेही 'यतेन्द्रिय मनोबुद्धि' प्रभृति अवस्था आपही आप आता है । (जो पुरुष क्रिया करेंगे, निजबोधसे वह सब अवस्था आपही आप समझेंगे) । उन सब अवस्थासे जब मुनि हुआ जाता है अर्थात् तत्पदमें मन संलीन हो जाता है, तबही साधक सिद्धयोगी होते हैं । इस प्रकारसे सिद्ध होनेके पश्चात्, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि सकल अवस्थामें ही उनको ब्रह्म भावमें रहना होता है; इसी कारणसे वह साधक सदामुक्त हैं ॥ २७ ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

अन्वयः । यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं (सर्वेषां लोकानां महान्तं ईश्वरं) सर्वभूतानां सुहृदं (निरपेक्षोपकारिणं) मां (नारायणं) ज्ञात्वा शान्तिं (सर्वसंसारोपरतिं) ऋच्छति (प्राप्नोति) ॥ २९ ॥

---

* अपान अर्थात् जो वायु बाहर जानेवाला गति लिया है, उसको पुरक करके आकर्षण करनेसे ही (खिंचनेसेही) प्राणके स्थान संकीर्ण होनेसे, प्राण आपही आप अपानमें जाके पड़ता है और दोनों मिल कर समान होता है । इसीको ही अपानमें प्राणके हवन वा आहुति देना कहते हैं; वैसे रेचकसे निश्वासके द्वारा प्राणमें अपानका हवन होता है । यह कार्य्य पुस्तक देखके करना नहीं; खुद अपने गुरु साजके भी करना नहीं चाहिये । (४ र्थ अः २९ वां श्लोकके व्याख्या देखो) ॥२७॥२८॥

अनुवाद । इस प्रकारसे मुझको यज्ञ तपस्याका भोक्ता, सब लोगों के महान् ईश्वर और सर्व भूतोंके सुहृद् जान करके शान्तिलाभ करते हैं ॥ २९ ॥

व्याख्या । (पूर्व श्लोकके अनुसार क्रिया करनेसे ही जो मुनिकी अवस्था होती है वह नहीं; ज्ञान होना चाहिये, ज्ञान न रहनेसे उस प्राणायामका फल बाजिगिरके वाजीके कुम्भक होवेगा । इसीलिये उसी ज्ञानकी कथा इस श्लोकमें कहते हैं) ।

योगी समाहित होके जब देखते हैं और समझते हैं कि, जितने प्रकारका यज्ञ और तपस्या कीया जाता है, (नारायण) विष्णुही उन सबके भोक्ता हैं,--भूः भूवः आदि जिन सब लोकमें मन्त्र विन्यास करके आत्म-प्रतिष्ठा करके आना पड़ता है, भगवान विष्णु ही उन सबके नियन्ता,--और वही विष्णु ही सर्व प्राणीयोंके हृदयमें (अन्तरमें) आत्मा रूपसे विराजित हैं, और "मैं" ही वही विष्णु रूपसे विश्वव्यापी हूं; तब वह योगी सर्वव्यापी होके विष्णुमें मिश जाते हैं,--शान्ति पाते हैं—और मुक्त होजाते हैं ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्ज्जुनसंवादे कर्म्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ।

षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । यः कर्म्मफलं अनाश्रितः (अनपेक्षमानः सन्) कार्य्यं कर्म्म करोति, सः संन्यासी च योगी च, निरग्निः न, अक्रियः च न (संन्यासी योगी) ॥१॥

अनुवाद । श्रीभगवान कहते हैं,—जो पुरुष कर्म्मफलका आश्रय न करके कार्य्य कर्म्म करते हैं, वही पुरुष, संन्यासी और योगी है; (बाहर में) निरग्नि और अक्रिय होनेसे ही संन्यासी और योगी हुआ नहीं जाता ॥ १ ॥

व्याख्या । (भगवान ५म अध्यायमें कर्म्मयोग और संन्यास-योगके विषय कह आयके, उपसंहार के शेष तीन श्लोकमें सूत्र सदृश अति संक्षेप वाक्यमें योगके विषय जो कुछ कहनेका था, प्रथमसे शेषपर्य्यन्त सब कह चुके हैं; परन्तु किस तरहसे उन सबका साधन करना पड़ता है—अभ्यासमें लाना होता है, वो सब

वहां नहीं कहे हैं । अभ्यासका वही नियम समूह ६ष्ठ अध्यायमें विशद करके कहते हैं। इसीलिये इस अध्याय का नाम अभ्यास योग है * ।)

पहले ही कहा हुआ है † कि भीतरमुखी क्रियाके अनुष्ठानमें प्राणचालनका नाम कर्म्म है, और बहिर्मुखमें प्रारब्ध वश करके शरीरयात्रा निर्वाह करनेका नाम कार्य्य है । जो साधक इस कार्य्य और कर्म्मका अनुष्ठान करते हैं, परन्तु फलकी आकांक्षा नहीं रखते,—सर्व कर्म्मफल वासुदेवमें अर्पण करते हैं, अपने में थोड़ासा भी नहीं रखते, सम्पूर्ण अनासक्त रहते है, एकाधारमें वही साधक संन्यासी और योगी दोनों ही हैं । श्रुति-स्मृति-योगशास्त्रमें निरग्नि और अक्रिय हो के संन्यासी और योगी होनेका व्यवस्था कहा हुआ है । साधक ! जब चित्तपथमें तुम ब्रह्मनाड़ीके ठीक मध्यभाग से परम शिवमें कुल-कुण्डलिनीकी मिलन और मूलाधारमें उनकी पुनस्थापन करनेका अविरोधी क्रियामें

* इस अध्यायको ध्यानयोग भी कहते हैं । इसीलिये श्रीमत् श्रीधरस्वामी कहते हैं कि—"चित्ते शुद्धेऽपि न ध्यानं विना संन्यास मात्रतः । मुक्तिः स्यादिति षष्ठेऽस्मिन् ध्यान योगो वितन्यते" ॥ १ ॥

† तृतीय अः १७ श श्लोककी व्याख्या और १९ श्लोककी टीका देखो ॥ १ ॥

मतवारा रहते हो, उस समयमें ही केवल तुमको कर्म्म फल छू नहीं सकता। इसके बाद क्रियाके अन्तमें भी जब तक तुम उस नशेमें विभोर होके बाहरवाला व्यापार सम्पन्न करते हो, तब तक भी कर्म्म फल तुमको स्पर्श नहीं करता। तुम्हारी इस अवस्थाको ही अनाश्रित कर्म्म फल भोग वाला अवस्था कहते हैं। जिस भाग्यवानके निरन्तर (अविच्छेद) इस अवस्था चलता रहता है, बीच बीचमें भंग नहीं होता, उसीको ही संन्यासी तथा योगी कहा जाता है। नहीं तो अग्निहोत्र-सन्ध्यावन्द-नादि नित्यक्रिया और पितृश्राद्धादि नैमित्तिक क्रियासे अव्याहति लेकर बिना परिश्रमसे पराया रसोईके अन्नमें (भिक्षा निमन्त्रणमें) पेट चलाना, और आलसी बनकर मनही मनमें विषय भोगके खेल खेलते हुये लोक चक्षुमें धूर डारके चतुराई करना,—इसमें योगी वा संन्यासी बना जा नहीं सकता। तुम निश्चय जान रक्खो कि योगी संन्यासीके लिये सूर्य्यका उत्ताप बोधमें भी अग्निस्पर्श दोष लगता है, और स्वभावतः इन्द्रियग्राह्य विषयमें पुनर्लक्ष्य करनेसे ही तुम्हारा संन्यास अथवा योग बन नहीं सकता है॥ १॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

अन्वयः । हे पाण्डव ! यं संन्यासं (सर्वकर्म्मतत् फलपरित्याग-लक्षणं परमार्थं संन्यासं) प्राहुः (श्रुतिस्मृतिविदः इति भावः) तं योगं विद्धि (जानीहि), हि (यतः) असंन्यस्तसंकल्पः कश्चन (कश्चिदपि) योगी (समाधानवान्) न भवति ॥ २ ॥

अनुवाद । हे पाण्डव ! श्रुतिस्मृतिमें जिसको संन्यास कहा है, उसीको ही योग कह करके जानना; क्योंकि सङ्कल्प परित्याग न करनेसे कोई कभी योगी हो नहीं सकता ॥ २ ॥

व्याख्या । योग किसको कहते हैं ?—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"—"योगश्चित्तसमाधानं" अर्थात् चित्त-वृत्ति की निरोध वा चित्त की समाधान अवस्थाको योग कहते हैं । विषय और इन्द्रियोंके संयोग करके चित्तमें जितना प्रकार भावका उदय होता है, उसका प्रत्येक को एक एक वृत्ति कहते हैं। वह समस्त ही चित्तके क्षिप्त-मूढ़ विक्षिप्तादि अवस्था या विषम अवस्था है। विषय और इन्द्रियोंके संयोग छिन्न हो जानेसे चित्तमें और किसी प्रकार वृत्ति की उदय नहीं होती, समता आती है; उसी अवस्थाको ही चित्तवृत्ति की निरोध वा चित्त की समा-धान कहते हैं । चित्तकी समाधान करना होय तो, अभ्यासयोग द्वारा पहले संकल्पत्याग करना पड़ता है, उस प्रकार संकल्प त्यागसे ही विकल्प भी आपही आप त्याग होता है; नहीं तो नहीं होता; इसलिये संन्यास

अर्थात् सर्वनाश वा त्याग न होनेसे योग भी नहीं होता। ५म अः में भी कहा हुआ कि, योग बिना संन्यास नहीं होता। अतएव योग और संन्यास परस्पर सापेक्ष है, एकको छोड़के दूसरा होता ही नहीं। श्रुति-स्मृति की मतामें भी सर्व कर्म्म तथा कर्म्मफलत्याग करनेकी नाम संन्यास है। सो होनेसे ही परमार्थतः योग और संन्यास पदार्थ एक ही है॥ २॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥३॥

अन्वयः। योगं आरुरुक्षोः (आरोढुमिच्छतः) मुनेः (कर्म्मफल-संन्यासिनः) कर्म्म कारणं (साधनं) उच्यते; योगारूढ़स्य (पुनः) तस्य शमः (सर्वकर्म्मभ्यः निवृत्तिः) एव कारणं (साधनं) उच्यते॥३॥

अनुवाद। जो मुनि योगारूढ़ होने की इच्छा करते हैं, कर्म्मही उनको साधन; किन्तु योगमें आरूढ़ होने पश्चात् शमः अर्थात् कर्म्मत्याग ही उनके साधन है॥ ३॥

व्याख्या। जो साधक कर्म्मफलके वासना त्याग किये हैं, ईश्वरमें * मन संलीन (आत्मसमर्पण) करते हैं, वही पुरुष मुनि है। जब तक वह योगमें आरूढ़ न होय

* योगी क्षुद्र ब्रह्माण्ड की ईश्वरमें लय अभ्यास करेंगे॥ ३॥

के, अर्थात् आज्ञाचक्रमें कूटस्थमें न उठजायके उठने की इच्छा करते हैं, तब तक एकमात्र कर्म्मही अर्थात् प्राणायाम द्वारा षट्चक्रमें यथाविधि प्राण-विन्यास करना ही उनका साधना है, दूसरा साधना नहीं है। यही है आरुरुक्षु अवस्था। उस प्राणायामद्वारा एक चक्रसे दुसरे चक्रमें उठते उठते आज्ञा चक्रमें उठ जानेके पश्चात्, कर्म्मराज्य अतिक्रम होनेसे, प्राणकर्म्म आपही आप त्याग हो जाता है; तब शम आता है अर्थात् अन्तरिन्द्रिय विक्षेप विहीन होता है। उस प्रकारसे योगारूढ़ होयके विक्षेप विहीन होनेसे ही ठीक 'मनमें मन देना' होता है; तब "हिरण्मये परे कोषे विरजन् ब्रह्म निष्कलं" यह भावना बिना और कोई वृत्ति ही नहीं रहती, तन्मना हुआ जाता है; यही है अष्टाङ्ग योग का सप्तमाङ्ग ध्यानयोग। यह ध्यान योगही सहस्रार-क्रिया है; इसकी परिपाक अवस्था ही ज्ञानयोग है। [क्रिया-द्वारा किसप्रकार अवस्था प्राप्त होनेसे योगारूढ़ होता है, उसे पर श्लोकमें कहेंगे] ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥४॥

अन्वयः। यदा हि ना (नरः) इन्द्रियार्थेषु (शब्दादिविषयेषु) कर्म्मसु च न अनुषज्जते (आसक्तिं न करोति), तदा (सः नरः) सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगारूढ़ः उच्यते ॥ ४ ॥

अनुवाद । जब मानव शब्दादि विषयमें और कर्म्मसमूहमें संसक्त न होते, तबही उनको सर्वसंकल्पत्यागी योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

व्याख्या । साधक ! क्रिया करते करते जब तुम देखोगे कि, तुम्हारा मन विषयके आकर्षणमें और गिरता नहीं, प्राण क्रियाके साथ भी और तुम्हारा मनका कोई सम्बन्ध नहीं, प्राण स्थिर धीर हो गया, इच्छामात्रके भी ओर उदय नहीं होता, तब ही जानो तुम योगारूढ़ हुये हो । उस समय मन आपही आप सहस्रार-क्रियाको आश्रय करता है; उसके बिना तब और उसका दूसरा कोई साधना नहीं रहता; इसके थोड़ासा बाद हीं ब्राह्मी-स्थितिकी प्राप्ति होती है । उस स्थितिभोगकाल में ही सर्व संकल्पसंन्यासी योगारूढ़ अवस्था होता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अन्वयः । आत्मना आत्मानं उद्धरेत् (संसारात् योगारूढ़तामापादयेत्) आमानं न अवसादयेत् (नाधोगमयेत्) हि (यतः) आत्मा एव आत्मनः बन्धुः, आत्मा एव आत्मनः रिपुः ॥ ५ ॥

अनुवाद । आत्मा द्वारा आत्माको ऊर्द्ध (ऊंचे) में ले जावेंगे, आत्माको अधःपातित न करेंगे, क्योंकि आत्माही आत्माका बन्धु, आत्मा ही आत्माका शत्रु है ॥ ४ ॥

व्याख्या। मूलाधारादि पांचो चक्रही शब्द स्पर्शादि पांच विषयके लीलाक्षेत्र है, संसार यही है। मन जबतक यहां रहता है, तबतक विषयके आकर्षणमें पड़के सत् असत् नाना वृत्तिके अधीन होता है। इसीलिये गुरूपादिष्ट क्रियानुष्ठानसे मनको उठाय लेके कूटस्थमें स्थिर रखना पड़ता है; इसीका नाम आत्मा का उद्धार है। इस उद्धार-साधन करनेसे ही विक्षेप विहीन अनासक्त अवस्था आ जाता है और नित्य-सुख भोग होता है। उद्धार-साधन न कर सकनेसे संसारके (चक्रमें घुमना पड़ता है, सुख नहीं मिलता। इसीलिये कहा हुआ है कि "नात्मानमवसादयेत्" अर्थात् आत्माको (मनको) आज्ञाके नीचे आने नहीं देना अर्थात् विषय -संस्पर्शमें नहीं लाना। आपही आप अपनेको उद्धार न करनेसे दूसरा कोई नहीं कर सकता (४र्थ अः ४२श्लोक की व्याख्या देखो)। मनको मनसेही वश करने होता है, अर्थात् विचार-बुद्धिकी सहारासे विषय-वासना त्याग करके मनको अन्तर्मुख करना पड़ता है। मनको आज्ञा भेद कराके योगारूढ़ कर सकनेसे आपही आपका बन्धु हुआ जाता है, नहीं तो आपही आपका रिपु। अपना इष्ट अनिष्टका कर्त्ता आपही है, दूसरा नहीं। श्रीगुरुदेव उपदेश द्वारा पथ और लक्ष्यको मात्र देखला देते हैं, अनुष्ठान और पथ अतिक्रम आपही आप करना

पड़ता है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

अन्वयः । येन आत्मना एव आत्मा जितः (वशीकृतः), आत्मा तस्य आत्मनः बन्धुः; तु (किन्तु) अनात्मनः (अजितात्मनः) आत्मा शत्रुवत् एव शत्रुत्वे वर्त्तेत ॥ ६ ॥

अनुवाद । जो पुरुष आत्मासे आत्माको वशीभूत कर चुके उनका आत्माही उनका बन्धु है । किन्तु जो अनात्मा अर्थात् आत्मासे आत्माको वश कर नहीं सकते, उसका आत्मा शत्रु सदृश उसका शत्रुताचरण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या । पूर्व श्लोकमें कहा हुआ है कि, आत्माही आतमाका बन्धु--आत्माही आत्माका रिपु है। किस प्रकार लक्षणाक्रान्त आत्मा आत्माका बन्धु, और किस प्रकार आत्मा आत्माका रिपु है, वही कथा इस श्लोकमें कहा हुआ है कि, जितेन्द्रिय पुरुषका आत्मा बन्धु, और अजितेन्द्रियका आत्मा रिपु है । जो साधक क्रियायोगके अनुष्ठान फल करके अधिक समय कूटस्थमें अटक रहके--देह 'मैं' नहीं है, 'मैं' का भी देह करके कुछ नहीं है--इस प्रकार दृढ़ज्ञानसे देहाभिमानशून्य होते हैं, वही साधक जितेन्द्रिय हैं। जितेन्द्रिय पुरुष ही

महापुरुष । वही भाग्यवान आत्मा द्वारा आत्माको अर्थात् मन द्वारा मनको जय करके आप ही आपके बन्धु हुये हैं; अर्थात् सकल अवस्थामें ही वह आत्मामें रहते हैं; आत्मासे विच्युत होके उनको विच्छेद भोग करना नहीं पड़ता, किन्तु जो अजितेन्द्रिय देहाभिमानी है, वह अनित्य असत्यको नित्य-सत्य ज्ञान करके मोहित हो रहते हैं, अपना उद्धार साधन कर नहीं सकते । देहाभिमान वश करके उसका स्वभाव ऐसाही होता है कि, शत्रु जैसे इष्टनाश करके अनिष्ट साधन करता है, वह भी वैसे अज्ञानताके मारे मायाकी घोरमें पड़के अपनी प्रकृत इष्ट-त्याग करके अनिष्ट विषयमें इष्टज्ञान करता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

अन्वयः । "जितात्मनः (जितेन्द्रियस्य) प्रशान्तस्य (रागादि-रहितस्य) परमात्मा समाहितः (साक्षादात्मभावेन वर्त्तते इत्यर्थः) किञ्च शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः (पूजापरिभवयोः) [समः स्यात् इत्यध्याहारः]"—शंकरः ॥ ७ ॥

अनुवाद । जो पुरुष जितात्मा और प्रशान्त, उनको परमात्मा साक्षात् आत्माभावमें अवस्थित हो रहते है,—ऐसे कि, शीत उष्णमें सुख दुःखमें, मान अपमानमें अविचलित रहते हैं ॥७॥

व्याख्या । जितात्माका आत्माही जो बन्धु है, उसी

को स्पष्टतया व्यक्त करनेके लिये यह श्लोक कहा हुआ है। क्रियायोग करके ऊर्द्धमें उठ जायके जितेन्द्रिय और प्रशान्त (रागद्वेषादि रहित) अवस्था प्राप्ति होने के पश्चात् साधकका सर्वत्र आत्मदृष्टि प्रतिष्ठित होता है—आत्मभावमें ही अवस्थिति होता है; और तब उनको परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार लाभ भी होता है। संसार के भीतर प्रारब्धभोग कालमें भी, साधरण लोगोंके सदृश शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान प्रभृतिके द्वारा विचालित होके, उनको उस परमात्मतत्त्वसे विच्युत होना नहीं पड़ता है, उनको उस परमात्मसङ्ग भोग अविच्छेद करके होता ही रहता है ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्म कांचनः ॥८॥

अन्वयः । ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थः (अप्रकम्पः) विजितेन्द्रियः समलोष्ट्राश्मकांचनः योगी युक्तः (योगारूढ़ः समाहितः) इति उच्यते ॥ १८ ॥

अनुवाद । जो साधक ज्ञान और विज्ञान करके तृप्तात्मा—कूटस्थ—विजितेन्द्रिय—मृत्खण्ड पत्थर और सुवर्णमें समान ज्ञान सम्पन्न, उसी योगीको ही युक्त (योगारूढ़) कहते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या । (इस श्लोक और परश्लोकमें योगारूढ़ के लक्षण कहा हुआ है) ।

ज्ञान और विज्ञानका थोड़ा थोड़ा ३य अः४१श्लोक में व्याख्या किया हुआ है; किन्तु विशेष करके समझाने के लिये पुनः कहा जाता है। उपदेश और अनुष्ठान द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत जो कुछ बोध उत्पन्न होता है उसीका नाम ज्ञान है; इसका चरम है ब्रह्मज्ञान वा आत्मज्ञान, अर्थात् सबही ब्रह्म--"मैं" ही ब्रह्म, इस प्रकार स्थिर निश्चय (अकम्पन स्थिति) होना। इस आत्मज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं। विज्ञान शब्दके दो अर्थ हैं, "वि" उपसर्गके 'विशेष' और 'विगत' इन दो प्रकार अर्थभेद करके एक अर्थ है विशेष ज्ञान, दूसरा विगत ज्ञान है। २४ श तत्वके पृथक् पृथक् सत्वा के बोध, और उन सबके मिश्र तथा अमिश्र क्रिया कलाप समझना और उन सबका अनुसन्धान करना--विशेष ज्ञान है और क्रिया द्वारा अन्तःकरण लय हो जा करके जब सब मिटजाता है, किसी प्रकारका ज्ञान भी नहीं रहता, तत्त्वज्ञान और तत्त्वातीतका ज्ञान सब मिट जाता है, स्फुरण मात्रका अभाव होजाता है, तब ही विज्ञान अर्थात् विगत ज्ञान होता है। इस अवस्थामें 'विज्ञान' और 'अज्ञान' समान अर्थ बोधक है अर्थात् ज्ञानका परिपाक अवस्था। जो पुरुष प्राकृतिकज्ञान (तत्त्वज्ञान वा विशेष ज्ञान), आत्मिक ज्ञान (तत्त्वातीतका ज्ञान वा ज्ञान) और वृत्तिविस्मरण अवस्था (विगतज्ञान) सब जान चुके, उनके लिये और

जाननेको कुछ बाकी न रहनेसे, उनका अन्तःकरण तृप्त हुआ है। इस प्रकार साधक ही "ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा" है। अतएव वह "कूटस्थ" अर्थात् उनमें कम्पन और चंचलता मात्र न रहनेसे वह पुरुष निर्विकार है,--"जितेन्द्रिय" अर्थात् इन्द्रियवृत्ति समूह उनके अधीन होते हैं; उनके परिपूर्ण होके ब्रह्मभावमें रहनेसे उनका इन्द्रिय समूह ब्रह्म बिना दूसरा कुछ अवलम्बन नहीं पाता, इसलिये साम्य भावमें रहता है। "सर्व्वं ब्रह्ममयं" होनेसे ईंटा, पत्थर, सोना, चांदी प्रभृति सब उनके लिये समान हो जाता है। जो साधक इस प्रकार अवस्था प्राप्त हुये हैं, वही साधक युक्त वा योगारूढ़ हैं ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अन्वयः। सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु (सुहृत्=प्रत्युपकारं अनपेक्ष्य उपकर्त्ता, मित्रं=स्नेहवान्, अरिः=शत्रुः, उदासीनः=विवदमानयोः उभयोः अपि उपेक्षकः, मध्यस्थः=विवदमानयोः उभयोः अपि हिताशंसी, द्वेष्यः=द्वेष विषयः, बन्धुः=सम्बन्धी, एतेषु) साधुषु (सदाचारेषु) पापेषु (दुराचारेषु) च अपि समबुद्धिः (रागद्वेषशून्यबुद्धिः) विशिष्यते (योगारूढ़ानां सर्व्वेषां उत्तम इत्यर्थः) ॥ ९ ॥

अनुवाद। सुहृत्, मित्र, अरि, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और पापी इन समस्तमें समबुद्धि सम्पन्न जो पुरुष, योगारूढ़ साधकोंके भीतर वही श्रेष्ठ हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या । उपकारकी प्रत्याशा न रखके जो उपकार करता है, उसीको सुहृत् कहा जाता है । स्नेहवशतः जो उपकार करता है, वह मित्र है । जो शत्रुता करता है, वह अरि है । विवाद उपस्थित होनेसे दोनों दलके किसी पक्षमें जो नहीं रहते हैं, वह उदासीन हैं; दोनों दलके ही हितकी इच्छा जो करता है, वह मध्यस्थ है । जो द्वेषका पात्र—अप्रिय है, वह द्वेष्य है । जिसके साथ कोई सम्बन्ध है, वह बन्धु है । शास्त्र वचन अनुसार जो कियानुष्ठान करते हैं, वह साधु हैं; और शास्त्र जो मानते नहीं, वह पापी हैं । योगारूढ़ योगी इन समुदयमें समज्ञान सम्पन्न कह करके विशिष्ट है ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

अन्वयः । [एवमुत्तमफलप्राप्तये] योगी (ध्यायी) रहसि (एकान्ते निर्जननिरुद्वेगप्रदेशे) स्थितः (सन्) (तथा) एकाकी (संगशून्यः) यतचित्तात्मा (चित्तं अन्तःकरणं आत्मा देहश्च संयतो यस्य सः) निराशीः (वीततृष्णः) अपरिग्रहः (सन्) सततं आत्मानं (अन्तः-करणं-मनः) युञ्जीत (समाहितं कुर्य्यात्) ॥ १० ॥

अनुवाद । योगी आकांक्षा और परिग्रह त्याग तथा देह और मन संयत करके निर्जन स्थान में अकेला बैठके मनको सर्वदा समाहित करेंगे ॥ १० ॥

व्याख्या। योगारूढ़ अवस्थाही योगका उत्तम फल है:, वह प्राप्त करनेके लिये योगीको निर्जन उद्वेगविहीन एक गुप्त स्थानको चुनकर, साथ किसीको न रखके अकेला वहां बैठके देह और मनको संयत करना होवेगा; मनसे आशा (आकांक्षा) मात्रको दूर करना होवेगा; और सर्वत्यागी होना होवेगा; अर्थात् अन्तःकरणमें जब जिस भावका उदय होवेगा, तत्क्षणात् उसीको दूर करना पड़ेगा। इसी प्रकार सावधान हो कर मनको समाहित करना पड़ता है।

बाहरमें जैसे निर्जन गुप्त स्थानको रहस कहते हैं, शरीरके भीतर तैसे सुषुम्नाके अभ्यन्तर ही रहस है। वहां जानेसे मन बहिर्लक्ष्य विहीन होता है, बाहरके विषय तब मनको और स्पर्श नहीं कर सक्ते। देह संयत करना, गुरूपदिष्ट नियममें आसन करके बैठनेसे ही होता है, और मन संयत करना, गुरूपदिष्ट नियमसे लक्ष्य स्थिर रखनेसेही होता है॥ १०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

अन्वयः । तत्र (रहसि) शुचौ देशे (शुद्धस्थाने) नात्युच्छ्रितं (नात्युच्चं) नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं (चैलाजिनकुशानां उत्तरं उपरिस्थं, कुशानामुपरि चर्म्म तदुपरि वस्त्रं तदुपरि स्थितमित्यर्थः) स्थिरं (निश्चलं) आत्मनः (स्वायत्तीकृतं स्वस्तिकासनादिकं) आसनं प्रतिष्ठाप्य, तत्र आसने उपविश्य मनः एकाग्रं कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः (सन्) आत्मविशुद्धये (अन्तःकरणस्य शुद्ध्यर्थं) योगं युञ्ज्यात् (अभ्यसेत्) ॥ ११ ॥ १२ ॥

अनुवाद । उस निर्जन गुप्त प्रदेशमें (गोमयादि लेपन द्वारा) पवित्र स्थानमें अपना (अभ्यस्त) आसन स्थापन करना चाहिये; वह आसन अति उच्च अथवा अति नीचा होना न चाहिये—हेलता डोलता न रहे—और पहले कुश, उसके ऊपर (लोमयुक्त मृगचर्म्म वा विड़ाल जातीय चर्म्म) उसके ऊपर (अरञ्जित) पट्टवस्त्र (रेशमी कपड़ा) विछायके उसके उपर बैठने होता है; इस प्रकार आसन पर बैठके मनको एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियोंके क्रिया संयत करके आत्मशुद्धि के लिये योगाभ्यास करने पड़ता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

व्याख्या । क्या करता हूं, क्या नहीं करता हूं, कोई जानने न पावे ऐसे गुप्तस्थानमें गौके गोबरसे मार्जन करके अपना-आसन (स्वस्तिकासन, सिद्धासन प्रभृति जो कोई आसन अपना आयत्त हुआ हो वही) करना होता है; यह आसन "चैलाजिनकुशोत्तरम्" होना

चाहिये अर्थात् पहिले कुश बिछाके * उसके ऊपर लोमश मृगचर्म्म अथवा कम्बल, उसके ऊपर गरद, तसर आदि (कीटवाले) रंग न लगायां हुआ रेशमका वस्त्र बिछा लेना, उसके ऊपर आसन करके बैठना। इस चैलाजिनकुशोपरिस्थित अपना-आसन जमीनसे अधिक ऊंचा न हो, जमीनके बराबर भी न हो, भींगा (गीला) हुआ वा शैत्य न लगने पावे अथवा हठात् कोई कीटादि सरीसृप उसके ऊपर न उठने पावे, इतना ऊंचा (अन्दाज तीन पाव वा एक हाथ ऊंचा) बेदीके ऊपर होनेसे ही होवेगा । और भी, आसनमें इतना अभ्यस्त होना होगा, जैसे बहुत देर तक बैठ रहनेसे भी किसी प्रकारका क्लेश उत्पन्न न हो, जैसे शरीर में टन् टन् झन् झनादिसे आसन छोड़ना न पड़े। और "उपविश्य" शब्दसे यह समझा जाता है कि, आसनके ऊपर खड़े होके अथवा सोके आसन मारना नहीं चाहिये, योगाभ्यास कालमें बैठ करके आसन मारना चाहिये । यह बैठा हुआ-आसन प्रधानतः दो

---

* कुशाकी डोरी देके अथवा कुशाकी चटाई बिनवाके आसन तैयार करना पड़ता है। कुश बिना दूसरी कोई चीज (जैसे पटुवाकी डोरी, कार्पासकी डोरी, शनकी डोरी प्रभृति) देके कुशासन बिनवा लेने से नहीं होवेगा ॥ ११ ॥ १२ ॥

प्रकारका लिया गया है जिसे नीचे उद्धृत कर दिया गया*।

इस प्रकार आसन करके बैठना योगका बहिरंग है। किन्तु योगी बाह्यिक देश-काल-पात्र निरपेक्ष हैं; शरीरही उनका सब है, शरीरही उनका आसन है; शरीरके भीतर ही वह उस प्रकार आसन स्थिर कर लेते हैं। सुषुम्नाके अभ्यन्तर ही उनका रहस अर्थात् गुप्तस्थान है। यहां जो ब्रह्मनाड़ी है, वह "महापापविमोचनी महापुण्यमयी नित्या" है, इस कारण शुचि (पवित्र) है। गुरूपदिष्ट नियम अनुसार बाहरके आसनमें यथारीति उपवेशन करके सुषुम्नाके उस शुचिस्थानके न-अति उंचे न-अति नीचे, मध्यस्थानमें, अर्थात् सात चक्रके मध्य चक्र हृदयस्थ अनाहत चक्रमें, (वायु आकर्षण द्वारा) शरीरके अधोगामी वेगका भार अर्पण करना होता है; इसीका नाम आत्म-आसन प्रतिष्ठा करना † है। क्रम अनुसार अभ्यास

* आसन, अष्टांग योगका तृतीयांग है, यह आसन अनेक प्रकारका होनेसे भी, स्वस्तिकासन (सहजासन) और सिद्धासन ये दो प्रकार आसनही योगाभ्यासके लिये प्रधान हैं, सो ऐसे हैं (१) "जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे। ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्ष्यते"। (२) योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत् मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरं। स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येत् भ्रुवोरन्तरं, ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते"॥

† प्रश्वास सम्पूर्ण रूप खींच लेकर शरीर शिथिल न रखके संकुचित वा संयत करके छातीमें जोर लगाके बैठनेसे ही शरीरके अधो-

द्वारा उस वेग धारण करनेमें जब आयास न होवेगा, अंग-कम्पनादिकी चेष्टा भी न रहेगी, तब ही वह आसन स्थिर होवेगा। फिर अनाहतमें स्थापन करनेसे वह आसन "चैलाजिनकुशोत्तरम्" अर्थात् चैल, अजिन, और कुशाके ऊपर स्थापित होता है। क्योंकि, ब्रह्माजी की प्रथम सृष्टि कुश ब्राह्मीशक्ति--पृथ्वीतत्त्व है, इनका स्थान मूलाधार; अजिन वैष्णवी शक्ति है, इनका स्थान स्वाधिष्ठान; चैल रौद्री शक्ति है, इनका स्थान मणिपुर; इन तीन शक्तिके ऊपर हृत्कमलमें आत्मशक्ति की प्रतिष्ठा करनेसे ही आत्मासन चैलाजिनकुशोत्तर होता है। बाहर जैसे कुशके ऊपर लोमश चर्म्म, उसके ऊपर रेशमी वस्त्र बिछाकर आसनमें बैठके क्रिया करनेसे शरीरमें जो वैद्युतिक तेज और शक्ति संचार होती है उसको पृथिवी खींच ले नहीं सकता; वैसे मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपुर

गामी वेग हृत्कमलमें धारण करना होता है। वायु खींच कर छाती में जोर देनेके समय जैसे हृत्पिंड और फुसफुसमें वायुका धक्का न लगने पावे; वायुका धक्का मेरुदण्डके भीतर अनाहत चक्र वायुस्थानमें (हृत्कमलमें) फेंकना होवेगा (क्रिया गुरूपदेशसे बोधगम्य होता है)। इस प्रकार सावधान होके गुरूपदेश क्रम अनुसार सहज क्रियामें प्राणचालन करनेसे ही योग सिद्ध होता है; नहीं तो नाना प्रकार विघ्न होनेकी सम्भावना है॥ ११॥ १२॥

के ऊपर अनाहतमें शरीरका वेग धारण तथा उसमें सम्पूर्ण रूप बोझ दे कर स्थिर हो सकनेसे, मन पर पार्थिव विषयकी चंचलता आक्रमण कर नहीं सकती ।

भीतर और बाहरमें उस प्रकार आसनके ऊपर स्थित होके मनको एकाग्र करना होता है, अर्थात् मनोवृत्ति समूहको एकमें केन्द्रीभूत करना होता है । मूलाधारादि पांच चक्र पांचों तत्त्वके आधार हैं कह करके वह सब पांच हैं, और आज्ञाका विन्दुही एक है । मनको मस्तक-सन्धि वा योग-स्थानमें रखके (दूसरा चित्र देखो), इस विन्दुको दिल लगाकर लक्ष्य करनेसेही, मनको एकाग्र करना होता है । इस प्रकारसे एकाग्र करनेसे ही चित्त और इन्द्रियोंकी क्रिया आपही आप समेट आती है, और विषयमें नहीं जाती ।

उपरोक्त प्रकारमें योगाभ्यास (प्राणचालन) करनेसेही चित्त शुद्ध होता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

अन्वयः । कायशिरोग्रीवं (कायः देहस्य मध्यभागः शिरः ग्रीवा च मूलाधाराद्यारभ्य मूर्द्धाग्रपर्यन्तं) समं (अवक्रं) अचलं च धारयन्, स्थिरः (दृढ़प्रयत्नः सन्) स्वं (स्वकीयं) नासिकाग्रं (नासिकायाः

अग्रं शीर्षदेशं भ्रुवोर्मध्यभागं इत्यर्थः) संप्रेक्ष्य (भ्रूमध्ये बद्धदृष्टिः भूत्वा इति भावः) दिशः च अनवलोकयन् (योगं युञ्ज्यात् इति पूर्वेणान्वयः) १३ ॥

अनुवाद। काय (शरीरका मध्यभाग) शिर और ग्रीवाको समान और अचलभावमें रखके दृढ़ प्रयत्न के साथ अपनी नासिकाके अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करके, किसी दिशामें अवलोकन न करके (योगाभ्यास करेंगे) ॥ १३ ॥

व्याख्या। पूर्व श्लोकमें योगाभ्यासका आसन-प्रकरण कहके किस प्रकार भावसे शरीरको रखना होगा, इस श्लोकमें उसी कथा कहते हैं। दोनों स्कन्ध स्वाभाविक अवस्थामें रखके, पीछेकी तरफ छातिको थोड़ासा चिताय करके, कटि-पीठ खड़ा (सीधा) करके, चिबुक (ठुड्ढी) को कण्ठकूपकी तरफ थोड़ासा झुकाकर मस्तकको जितना खड़ा किया जा सके, करनेसे ही "समं कायशिरोग्रीवं" हुआ जाता है। मस्तक, घाड़ (गर्दन) और पीठकी रीढ़ (मेरुदण्ड) इस प्रकार भावसे सीधा करना होगा, जैसे ये तीन एक हो जायँ, किसी प्रकार न हिल सकें। उस प्रकारसे शरीरको धारण करके मस्तक-ग्रन्थिकी भीड़से दोनों भ्रूके अयन बीचमें--जहां आज्ञाचक्र है उसी स्थानमें--मनही मनसे ताकना होवेगा; चक्षुके ऊपर किसी प्रकार जोर जबर्दस्ती न करना चाहिये, आंख मूँदके भीतर भीतर स्वाभाविक भावसे मनही मनमें दृष्टि

प्रक्षेप करनेसे ही नजर भ्रूमध्यमें स्थिर होता है । उस प्रकारसे नजर स्थिर करके क्रिया करनेसे दसों दिशामें नाना प्रकार रंग बिरंग दर्शनमें आता है, परन्तु उन सब को मन लगाकर देखना न चाहिये; दृष्टि केवल ठीक मध्यमें रखना होता है। इसी प्रकार भावसे योगानुष्ठान करना कर्तव्य है ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अन्वयः । (तदनन्तरं) प्रशान्तात्मा (प्रकर्षेण शान्तान्तःकरणः) विगतभीः (विगतभयः) ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (सन्) मनः संयम्य (मनसो वृत्तीरुपसंहृत्य) मच्चित्तः (मयि अर्पितचित्तः) मत्परः (मदेकनिष्ठः) (एवं) युक्तः (समाहितः सन्) आसीत (तिष्ठेत्) ॥ १४॥

अनुवाद । (तत्पश्चात्), प्रशान्तात्मा, भयवर्जित, ब्रह्मचर्य्यशील संयतमना, मद्गतचित्त, मत्परायण और युक्त होके अवस्थान करेंगे॥ १४॥

व्याख्या । पूर्वश्लोकके उपदेश अनुसार योगानुष्ठान करनेसे आत्मविशुद्धि होती है। तब अन्तःकरण प्रशान्त होता है अर्थात् विक्षेप-वर्जित होके कूटस्थमें स्थिर होता है, भय रहता नहीं, विक्षेप न रहनेसे विच्युत होनेकी सम्भावना दूर होके निर्भय होती है। इस अवस्थामें, प्राकृतिक संग त्याग हो जानेसे अन्तर्देशमें जो नाद-ब्रह्मका उत्थान

होता है, साधक उसीको अनुसरण करते रहते हैं; और दूसरी कोई क्रिया ही नहीं करते; कर्म्मत्यागी होते हैं, सहस्रारमें उठ जाते हैं। इस समय केवल नाद-ब्रह्म मात्र अवलम्बन रहनेसे वह ब्रह्मचारी होते हैं, और उनके मनकी संकल्प-विकल्प क्रिया आपही आप सिमट जाती है कह करके संयतमना होते हैं; और चित्त भी क्रम अनुसार उसी नादके अभ्यन्तरमें प्रवेश करते रहनेसे एक अपूर्व ज्योति लक्ष्य होता है; पश्चात् उस ज्योतिके भीतर प्रवेश भी करता है। अन्तमें वह अन्तरनुसरण-वृत्ति मिट कर जो स्थिर अवस्था आती है, उसीको मत्पर (मन्निष्ठ) अवस्था कहते हैं। इसके बाद और चित्त-वृत्ति नहीं रहती, उसी ज्योतिमें मिलकर युक्त हो जाती है—इसीको वृत्तिविस्मरण वा चित्त-वृत्तिका निरोध वा समाधान अवस्था—युक्त (योगप्राप्त) समाहित अवस्था कहा जाता है। इस अवस्थामें शरीर एक जलसे भरा हुआ कुम्भ सदृश मात्र बैठा रहता है॥ १४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

अन्वयः। एवं (यथोक्तेन विधानेन) सदा आत्मानं (अन्तःकरणं) युञ्जन् (समाहितं कुर्वन्) नियतमानसः (संयतचित्तः) योगी

निर्वाणपरमां (निर्वाणं मोक्षः, तत् परमा निष्ठा यस्याः तां) मत्-संस्थां (मद्रुपेणावस्थितिं) शान्तिं (संसारोपरतिं) अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ १५ ॥

अनुवाद । यथोक्त विधान अनुसार मनको सदा समाहित करते करते संयत चित्त होकर योगी, आत्मामें स्थित जो निर्वाण रूप परम शान्ति, उसे प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या । ब्रह्मनिर्वाण ही परम शान्ति—योगका चरम फल है। सदा काल समाधि अभ्यास करते करते ही वह प्राप्त होता है । इस श्लोकके 'सदा' शब्द और १०म श्लोकके 'सतत' शब्द एकार्थ प्रतिपादक है अर्थात् इन दोनोंका ही अर्थ 'सर्वदा' है। अब बात यह है कि, योगाभ्यासीके लिये अविच्छिन्न भावमें समाधि भोग असम्भव है; वह होनेसे बात एक कैसे हुई ? फिर योगशास्त्रमें है कि "दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ नैव च पूजयेत्। सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ।" अर्थात् तारक ब्रह्म कूटस्थ पुरुषकी पूजा दिनमें भी नहीं करना, रात्रिमें भी नहीं करना, सर्वदा करना; वह होनेसे ही सर्वसिद्धि मिलता है * । "सर्वदा" किसको कहते हैं ? सूर्य्योदयसे

* यह अर्थ इस श्लोकके बाहर वाला अर्थ है, इससे बाहर वाला काल-निरूपण किया हुआ है। इसका आध्यात्मिक अर्थ है, दिवा=सूर्य्य-संचारमें अर्थात् पिङ्गलामें, रात्रौ=चन्द्रसंचारमें अर्थात् इड़ामें । कूटस्थ ब्रह्म की पूजा करना हो तो इड़ा किम्वा पिङ्गलाके भीतर देके

सूर्य्यास्त पर्य्यन्त दिवा, और सूर्य्यास्तसे सूर्य्योदय पर्य्यन्त निशा है। इस निशामें सन्ध्यासे साढ़े नौ बजे समय पर्य्यन्त और साढ़े चार बजेसे सवेरे पर्य्यन्त समयको रात्रि कहते हैं, और साढ़े नौ बजे समयके बाद साढ़े चार बजे समयके भीतर इस सात घण्टे समयको महानिशा—महामहानिशा—कालरात्रि वा सर्वदा कहते हैं। इस समयमें पूजा करनेसे इष्टदेवता प्रसन्न होके सर्वसिद्धि प्रदान करते हैं कह करके इसका नाम सर्वदा हुआ। इस 'सर्वदा' को लक्ष्य करके ही 'सदा' और 'सतत' शब्द बैठाया हुआ है, इस समयको ही योगाभ्यासके लिये प्रकृष्ट समय जानना, क्योंकि, अष्टप्रहरके भीतर इस समयमें ही तमोगुणका पूर्ण प्रभाव वर्त्तमान होता है, इस समयमें क्रिया करनेसे मन शीघ्र विशुद्ध तमोके आकर्षणमें पड़कर स्थिर होके स्थिति-पद पाता है, अर्थात् समाहित होता है। प्रथम प्रथम समाधि निमिष-स्थायी होता है; क्रम क्रमसे अभ्यास वृद्धिके साथही साथ समाधिका स्थिति-काल भी बढ़ता है। अवलम्बन भेद करके समाधि

प्राण चालना करना न चाहिये, इड़ा पिङ्गला निरोध करके सुषुम्नाके भीतर से प्राणचालन करने होता है (क्रिया गुरुमुखगम्य); सो करनेसे ही मन स्थिर होता है, और कूटस्थ भेद होके परम शिवमें लय होता है। "सुषुम्नान्तर्गतेवायौ मनः स्थैर्य्यं प्रजायते"। सुषुम्ना ही सर्वसिद्धिदायिनी है जिस लिये इसको "सर्वदा" कहते हैं।

दो प्रकारका है,--जड़-समाधि और चैतन्य-समाधि। ध्यानावस्थामें प्राकृतिक किसी पदार्थको अवलम्बन करके यदि अन्तःकरणवृत्ति मिट जाय, तो जड़-समाधि कहा जाता है; यह निकृष्ट है। परन्तु ध्यानावस्थामें चैतन्य वा आत्मासे च्युत न होके यदि मन उस चैतन्य वा आत्मामें ही लीन हो जाय तो उसे चैतन्य-समाधि कहा जाता है। यह चैतन्य-समाधि ही इस श्लोकमें 'मत्संस्थां शांति' है। चैतन्य-समाधिको ही योगशास्त्रमें समाधि कहा है। यह समाधि भी पुनः दो प्रकारकी है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। जिस प्रकारकी समाहित अवस्थामें प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान रहता है, अर्थात् जिस अवस्थामें अन्तःकरण सर्वतोभाव करके आत्म-लक्ष्यमें आबद्ध होता है, विक्षेपका नाम मात्र नहीं रहता, किन्तु अपने अस्तित्वकी विभिन्न अवस्थाका बोधन होता रहता है, इस प्रकार समाधिको ही सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि फिर अन्तःकरणकी मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त इस क्रमसे क्षेत्रभेद से वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मिता इन चार प्रकारकी है। और जब सब मिट जाती है, वृत्तिविस्मरण अवस्था आती है कोई ज्ञानही न रहे, उसीको ही असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यही है सर्वोत्कृष्ट चरमसमाधि; यह, सर्वोत्कृष्ट असम्प्रज्ञात समाधि ही इस श्लोकमें "मत्संस्थां निर्वाण-

परमां शान्ति" अर्थात् चैतन्यमें निर्वाणरूप शान्ति (चैतन्यमें मिलकर मिटजाना अवस्था) है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! तु (किन्तु) अत्यश्नतः (अत्यधिकं भुञ्जानस्य) योगः (समाधिः) न अस्ति (न भवति)—न च एकान्तं (अत्यन्तं) अनश्नतः (अभुञ्जानस्यापि), न च अतिस्वप्नशीलस्य (अतिनिद्राशीलस्य)--न च एव (अति) जाग्रतः (योगः अस्ति इत्यर्थः) ॥ १६ ॥

अनुवाद । परन्तु हे अर्जुन ! अति भोजन करने वालोंका योग नहीं होता, एकदम भोजन न करनेसे भी योग नहीं होता तैसे अति-निद्रालुके भी नहीं होता, और एकदम जागनेवालेको भी (योग) नहीं होता ॥ १६ ॥

व्याख्या । १७ श्लोककी व्याख्यामें देखो ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्म्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

अन्वयः । युक्ताहारविहारस्य (नियमितभोजनपादक्रमस्य) कर्म्मसु युक्तचेष्टस्य (नियमानुसारेण चेष्टां कुर्वतः) युक्तस्वप्नावबोधस्य (नियमितनिद्राजागरस्य) दुःखहा (सर्वसंसारदुःखक्षयकृत्) योगः भवति (सिध्यति) ॥ १७ ॥

अनुवाद । नियमित आहार विहार करनेवाला, कर्म्म सकलकी नियमित चेष्टा करनेवाला, और नियमित निद्रा तथा जागरित रहनेवाला जो है, उसीको दुःखहारी योगसिद्धि होती है ॥ १७ ॥

व्याख्या । योगीके लिये अति आहार, अनाहार दोनों ही निषिद्ध है, नियमित आहार ही उनको विधेय है। १७ अः ८ म श्लोकके अनुसार सात्त्विक आहार, सोभी परिमित परिमाण होनेसेही आहार नियमित होता है। उदरका आधा अंश अन्नद्वारा, एक चतुर्थांश पानीय (दुग्ध, जल) द्वारा पूर्ण करके अवशिष्ट चतुर्थ अंश वायु चालनके लिये खाली रखनेका नाम मिताहार है*। जिस प्रकार चाल चलनमें चलनेसे अंग-प्रत्यङ्ग की परिचालना हेतु शरीर कर्म्मठ रहे, अथच श्रमका उदय न हो उसीका नाम नियमित विहार है। क्रिया (साधना) अब थोड़ा सा कर दिया, इसके बाद थोड़ा करूंगा, आज नहीं हुआ, कल दो दिनका एक साथ कर लूंगा, इस प्रकार करनेसे योगसिद्धि नहीं होती, साधनाके लिये नियम ठीक रखना चाहिये; अर्थात् किस समय कै घड़ी क्रिया करना होगा उस विषयमें प्रथम दृढ़ता चाहिये; इसमें किसी प्रकार व्यतिक्रम न होनेसे ही युक्तचेष्ट होना

* "मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं च कारयेत् ।
नाना रोगो भवेत्तस्य किञ्चिद् योगो न सिध्यति ॥"

होता है। तैसे निद्रा-जागरण भी नियमित होना चाहिये; क्योंकि, अधिक निद्रा सेवनमें शरीर अवसन्न और वायु-पथ समूह श्लेष्मायुक्त होनेसे योगानुष्ठानमें विघ्न होता है; तैसे एकदम न सोनेसे भी शरीर ग्लानि-युक्त होके नाना प्रकार विकारग्रस्त होता है, योग होता ही नहीं। योगाभ्यासीके लिये एक प्रहर काल निद्रा लेना ही यथेष्ट है। प्रथम प्रथम योगाभ्यासके समय रात्रिमें पूरी एक नींद खुलासा लेनी होती है; तिसके बाद उठकर शौच प्रस्त्रावादि त्याग करके, हाथ मुख धोके शुचि होके आसन करके बैठके क्रिया करना होता है। योगमार्गमें कुछ अग्रसर होने के पश्चात्, उस निद्रा दिनमान में आहारके बाद लेकर रात्रिका सम्पूर्ण समय योगा-नुष्ठान में लगाना अच्छा है। पुनश्च नियमित परिमाण निद्रा लेके दिनरात योगाभ्यास करोगे, सो नहीं होगा; स्वाभाविक अवस्थामें सजाग रहना भी चाहिये। यह सब आहरके नियम हैं।

बाह्यिक आहार-विहार सम्बन्धमें जैसे बांधा हुआ नियम पालन करना होता है, क्रियाकालमें अन्तरके भीतर भी इसी प्रकार नियम पालन करना होता है; वही कहा जाता है। शरीर पोषणके लिये किसी द्रव्य गलाधःकरण द्वारा उदरस्थ करनेका नाम आहार है; क्रिया

के समय एक मात्र वायुही आहार होता रहता है। वह वायु-आहार अति अधिक अथवा एक दम न होनेसे योग नहीं होता, अर्थात् प्रश्वासके साथ वायुको खूब जोरसे खींच लोगे, उसमें सर्व शरीरमें कम्पन आवेगा, इस प्रकार होनेसे योग नहीं होता, रोग होता है। तैसे श्वासको न खींचके किम्वा श्वास न फेंकके एक बारगी दम बन्द करके रहनेसे भी रोग होता है। निश्वास-प्रश्वास सहज प्राण चालनसे आपही आप जैसे चलता है, उसीके वशमें रह करके गुरूपदिष्ट कौशल प्रयोग करना पड़ता है, वह होनेसे ही योग होता है, इसीका नाम युक्ताहार है। और यह श्वासके क्रिया यथा समयमें यथा नियममें अनुष्ठान करनेसे ही अर्थात् श्वासको कभी दीर्घ कभी ह्रस्व, कभी बारीक कभी मोटा न करके मन्त्र-समन्वय द्वारा समान आकारसे उठाने फेंकने से ही युक्तविहार तथा युक्तचेष्ट होना होता है। अब स्वप्न और जागरण क्या है? वह भी कहा जाता है। हम लोग साधारण अवस्थामें दिन रातके भीतर जितने प्रकार की अवस्था पाते हैं, वह समस्त ही योगशास्त्रके मतमें स्वप्न है, इसलिये कहा हुआ है कि, यह जगत् स्वप्नवत् है; अर्थात् आत्मचिन्ता वा ईश्वर चिन्ता त्याग करके जो विषय-संश्रव होता है, वही स्वप्न है। और साधना

में ऊपर उठके अन्तरतम प्रदेशमें प्रवेश करके जिस अवस्थामें संसारके अनित्यत्व, अकिञ्चित्करत्व और आत्माके नित्यानन्दत्व अपरोक्ष ज्ञानसे अनुभव किया जाता है, उसीको जागरण या "प्रबोध-समय" कहते हैं। इस स्वप्नावस्थामें अर्थात् विषय संश्रवमें अधिक समय रहनेके लिये मन उसीमें आसक्त हो जानेसे भीतरमें प्रवेश कर नहीं सक्ता; तैसे योगानुष्ठानमें जो जाग्रत अवस्था (समाधि नहीं) मिलती है, प्रथम प्रथम उसमें अधिक क्षण रहनेकी चेष्टा करनेसे (रहा तो जाता ही नहीं, अभ्यास दोष करके उससे भ्रष्ट होनाही पड़ता है; तथापि एकासनमें बैठके निरन्तर प्राण-क्रिया करके उसी अवस्था ठीक रखनेकी चेष्टा करनेसे) शरीरका उपादान क्षय होता है, सुतरां शरीर भी रोगग्रस्त हो पड़ता है । इसलिये प्रथमतः नियम बांधकर यथा समयमें योगानुष्ठान करना होता है; पश्चात् जैसे जैसे अभ्यास दृढ़तर होते रहे (ऐकान्तिकी इच्छा से नियम पालन करनेसे अभ्यास शीघ्रही दृढ़ होता है), वैसे वैसे क्रियाकी स्थिति काल आप ही आप बढ़ता जाता है; तब और किसी विघ्नका डर नहीं रहता । गुरूपदेशके ऊपर निर्भर करके अति सावधानीसे और अति यतनके साथ इन सब उपाय अनुसार क्रियाके अनुष्ठान

करनेसे समाधि-लाभ होता है, समस्त दुःखका भी क्षय होता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निष्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

अन्वयः । यदा चित्तं विनियतं (विशेषेण संयतं एकाग्रतामापन्नं सत्) आत्मनि एव अवतिष्ठते, तदा सर्वकामेभ्यः (दृष्टादृष्टविषयेभ्यः) निष्पृहः [योगी] युक्तः इति उच्यते ॥ १८ ॥

अनुवाद । जब चित्त विशेष भावसे नियत होकर आत्मामें ही स्थिति लाभ करता है, तबही योगी सर्वकामसे स्पृहाशून्य होकर युक्तनामसे अभिहित होते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या । १७वां श्लोकमें कहा हुआ है कि, नियमबद्ध होके कर्म्म करनेसे ही योग (समाधि) होता है । अब कर्म्मका अनुष्ठान करनेसे किस समय युक्त होना होता है, इस श्लोकमें वही कहा जाता है । जब चित्त एकाग्र होकर एकमात्र आत्मामें स्थिर हो जाता है, आत्मा बिना दूसरे किसीको धारण (चिन्ता) नहीं करता है, अपनेमें आप रहता है, उसी समयको ही सर्वचिन्ता विवर्जित अवस्था कहा जाता है, अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, मरुत्, व्योम यह जो सर्व हैं, इनके साथ सम्बन्ध रहित हो जानेसे

इनके ऊपर और स्पृहा नहीं रहता; एकमात्र आत्मा ही अवलम्बन होते हैं; यही है युक्त अवस्था ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

अन्वयः । यथा निवातस्थः (वातवर्जितस्थाने स्थितः) दीपः न इङ्गते (न चलति), आत्मनः योगं युञ्जतः (समाधिं अनुतिष्ठतः) योगिनः यतचित्तस्य (संयतान्तःकरणस्य) सः (दीपः) उपमा (दृष्टान्तः) स्मृता ॥ १९ ॥

अनुवाद । वायु-विहीन स्थानमें जैसी दीप शिखाकी कम्पन नहीं होता, आत्मयोगनुष्ठानमें रत योगीके संयतचित्तकी तादृश उपमा स्थिर किया हुआ है ॥ १९ ॥

व्याख्या । वायु-विहीन स्थानमें दीपशिखा क्रमशः वारीक (सूक्ष्म) हो आके सुचीकी अग्रभाग सदृश होता है; यह क्रम-सूक्ष्म शिखा अङ्कित हुआ तसवीर सदृश निश्चल है, तथा उसमें ऊर्द्ध-प्रवाह वर्त्तमान है । बत्तीसे लेके शिखाके अग्रभाग पर्य्यन्त ही प्रकाश है ठीक उसके बाद ऊपरसे ही अप्रकाश (निराकार) है । चित्त संयत करनेके पश्चात्, ठीक उसी प्रकारसे समुदाय वृत्ति एकाग्र होकर एक अतीव सूक्ष्म विन्दुमें स्थिर-प्रवाह आकारसे प्रवेश करके मिट जाता है, अर्थात् वह सब

वृत्ति अपना अपना उत्थान पतन रूप साकारत्व परित्याग करके निराकारत्वमें (साम्यत्वमें) परिणत होता है ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितं ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

अन्वयः । योगसेवया (योगानुष्ठानेन) निरुद्धं (निवातप्रदीपकल्पं एकाग्रीभूतं) चित्तं यत्र (यस्मिन् अवस्थाविशेषे) उपरमते (उपरतिं गच्छति), यत्र च एव (यस्मिन् अवस्थाविशेषे) आत्मना समाधिपरिशुद्धेनान्तःकरणेन) आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति;— यत्र स्थितः (सन्) अयं (योगी) आत्यन्तिकं (अनन्तं) बुद्धिग्राह्यं अतीन्द्रियं (इन्द्रियसम्बन्धातीतं) यत् सुखं तत् वेत्ति, न च एव तत्त्वतः (आत्मस्वरूपात्) चलति;—यं (अवस्थाविशेषं) लब्ध्वा च अपरं लाभं ततः अधिकं न मन्यते, यस्मिन् स्थितः (सन्) गुरुणा (महता) दुःखेन अपि न विचाल्यते (नाभिभूयते);—तं (पूर्वोक्त-

प्रकारं अवस्थाविशेषं) दुःखसंयोगवियोगं (विषयेन्द्रियसंस्पर्शोद्-भवा सर्वा मनोवृत्तिः एव दुःखं, तस्य संयोगेन वियोगः यस्मिन् तं, दुःख-रहितमित्यर्थः) योगसंज्ञितम् (योगशब्दवाच्यं) विद्यात् (जानी-यात्) । सः (योगः) अनिर्विण्णचेतसा (निर्वेदरहितेन चेतसा) निश्चयेन (अध्यवसायेन) योक्तव्यः (अभ्यसनीयः) ॥ २० ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अनुवाद । योग सेवा (योगानुष्ठान) द्वारा निरुद्ध चित्त जिस अवस्था विशेषमें उपरत (निवृत्त) होता है, और जिस अवस्था विशेषमें आत्मा द्वारा आत्माको दर्शन करके आत्मामें ही तुष्टि लाभ किया जाता है; जिस अवस्था विशेषमें स्थित होके, योगी बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय अनन्त सुख अनुभव करते हैं, अथच आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होते; जिस अवस्था लाभ करके पश्चात् दुसरे किसी लाभको जिससे अधिक लाभ करके मनमें नहीं मानते, और जिसमें स्थित होनेसे (आधिव्याधिरूप) महत् दुःखसे भी विचलित नहीं होते;—उसी दुःखसंस्रव विहीन अवस्थाको ही योगशब्द वाच्य जानना । उस योगको अध्यवसाय सहकार निर्वेद-रहित चित्तसे अभ्यास करना होता है ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

व्याख्या । चित्तवृत्तिकी निरोध अवस्थाका नाम योग है । मनको एकाग्र करके [१२श श्लोककी व्याख्या देखो] क्रिया करते करते जब शिरा प्रशिरा आदि सब वायु-पूर्ण हो आवे, फुसफुसके क्रिया धीर भावसे सम्पन्न होते रहें, शरीरमें किसी प्रकारकी चंचलता वा उद्वेग

न रहे, तब मन भी सम्पूर्ण रूपसे पांचों चक्रके सम्बन्ध त्याग कर उठ आके आज्ञामें स्थित होता है, इसीको ही चित्तकी निरुद्ध अवस्था कहते हैं। इस अवस्थामें आने से नीचे वाले आकर्षणशक्ति निस्तेज हो जानेसे, स्वभावके वशमें मन आपही आप ऊर्द्धदिशामें आकर्षित होता है, और सहस्रारमें उठ जाता है। निरुद्ध (बहिर्विषय-व्यापार-परिशून्य) चित्त सहस्रारमें उठ जा करके निर्वापित न होना पर्य्यन्त, भिन्न भिन्न क्रममें उठता रहता है; वही एक एक क्रम योगका वा समाधिका एक एक अवस्था है; वही सब अवस्था ही २०-२२ श्लोकमें पर पर व्यक्त किया हुआ है।

योगसेवा द्वारा (क्रिया करते करते) चित्त निरुद्ध होनेके बाद पहले ही उपरम प्राप्त होता है अर्थात् विषयाकर्षण की खींचाई मिट जानेसे स्थिर होता है; उस स्थिर अवस्था बाहाल रखनेके लिये और किसी प्रकार नवीन चेष्टा करना नहीं पड़ता; परन्तु मनकी संकल्प-क्रिया अब तक भी नष्ट न होनेसे एक आकांक्षा रहती है; वह आकांक्षा न मिटनेसे, वह क्या है, जाननेके लिये उस विषयमें एक विशेष प्रकारका तर्क उपस्थित होता है; इस कारण करके इस उपरम अवस्थाको योगशास्त्रमें वितर्क-अवस्था कहा हुआ है। यह वितर्क ही सम्प्रज्ञात

समाधिका प्रथम स्तर है। तत्पश्चात् चित्त और थोड़ासा अग्रसर होनेसे, संकल्प-क्रिया अभिभूत हो आता है, तब आत्माद्वारा आत्माको साक्षात् करके चित्तमें तुष्टि आता है; इस समय आत्मा क्या है, प्राकृतिक पदार्थसे उनका प्रभेद क्या है, वह अपरोक्ष स्वरूप ज्ञानसे विचार कर लेनेसे आकांक्षा मिट जाती है; इसीलिये इस अवस्थाको विचार-अवस्था कहते हैं। यह विचारही सम्प्रज्ञात समाधिका द्वितीयस्तर है। इसके बाद एक प्रकारका सुख उदय होता है; वह सुख अतीन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और मनके अतीत है, इन सबसे वह सुख अनुभवमें नहीं आ सकता, अर्थात् संकल्पात्मक मनकी क्रिया रहनेसे उस सुखका उदय होताही नहीं, इसलिये उस सुख वाणीमें कह करके समझानेकी कोई युक्ति नहीं--अव्यक्त है; यह सुख बुद्धिग्राह्य है, अर्थात् संकल्प विहीन निश्चयात्मिका वृत्तिसे ही अनुभवमें आता है; और भी यह सुख आत्यन्तिक है, अर्थात् अनन्त-भोगसे शेष नहीं होता, और भोग करनेसे आत्मतत्त्वसे विचलित भी होना नहीं होता, यह सुखावस्थाही योगशास्त्रके आनन्द-अवस्था, सम्प्रज्ञात समाधि का तृतीय स्तर है। इसके बाद और एक अवस्था आती है, वह प्राप्त होनेसे, उसके बाद प्राप्त होनेको और कुछ नहीं रहता; वही प्राप्तिकी प्राप्ति—पराकाष्ठा स्थिति है,

यही अपनेमें आप रहना-अवस्था, योगशास्त्रका अस्मिता-अवस्था, सम्प्रज्ञात समाधिका चतुर्थ और शेष स्तर है। इस चतुर्थ अवस्थाके बाद वृत्ति-विस्मरण अवस्था—परिपूर्ण ज्ञानके परिपाकके लिये अज्ञान अवस्था कैवल्य वा निर्वाण अवस्था आती है; उस अवस्थामें गुरुतम दुःख से भी विचलित होना नहीं पड़ता, अर्थात् तब और मायाविकार स्पर्श कर नहीं सकता, किसी प्रकारका मालूम करनेका व्यापार ही नहीं रहता, अन्तःकरण ही नहीं है, तो जाने कौन ? इसलिये इसको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्थाको लेके साधक अपने शेष निश्वासको फेंकनेसे ही अपुनरावृत्ति गतिलाभ करते हैं। अतएव संसारके हर्ष-विषाद रूप जो दुःख है उसके संयोगमें और उनको आना नहीं पड़ता। इसी कारण करके योगको "दुःखसंयोगवियोगं" कहा हुआ है। इसीलिये यह योग योक्तव्य अर्थात् अभ्यास द्वारा आयत्त करना सर्व जनको ही उचित है। अभ्यासके प्रथममें आयास (कष्ट) है कह करके त्याग करना उचित नहीं; निर्वेद-रहित चित्तसे अर्थात् वेदविहित उत्साह तथा उद्यम सहकार, और निश्चय द्वारा अर्थात् "करूंगा ही करूंगा" इस प्रकार दृढ़ अध्यवसाय (पण) द्वारा यत्न करना पड़ता है, चेष्टा करने होता है,

करनेसे ही आयत्त भी हो जाता है ॥ २० ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

अन्वयः । संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः (निर्लेपेन सवासनां) त्यक्त्वा, मनसा एव इन्द्रियग्रामं (इन्द्रियसमूहं) समन्ततः (सर्वतः) विनियम्य (विशेषेण नियमनं कृत्वा) [सः योगो योक्तव्य इति पूर्वेणान्वयः] ॥ २४ ॥

अनुवाद । संकल्पजात समुदय कामनाको सम्पूर्ण रूप त्याग करके तथा मनके द्वारा इन्द्रिय समूहको सर्व विषयसे उठा लाकर योगाभ्यास करना होता है ॥ २४ ॥

व्याख्या । जिस नियममें योग अभ्यास करना होता है, इस श्लोकमें वही कहा हुआ है । यथा नियममें आसन पर बैठ करके विषय-चिन्ता और प्राप्तिकी इच्छा मात्रको एकबारगी परित्याग करके मनको कूटस्थमें नियुक्त करनेसे ही इन्द्रिय समूह आपही आप नियमित होते हैं। क्योंकि, समुदय इन्द्रिय मनहीको अनुगमन करता है । इसलिये मन जिस जिस विषयमें जाता है, उस उस विषय भोग करनेवाला इन्द्रिय भी तत्क्षणात् क्रिया-मुख होता है । किन्तु मन यदि विषय त्याग करके

अविषयमें अर्थात् आत्मतत्त्वमें संलग्न होय, तो इन्द्रिय समूह विषयको अवलम्बन स्वरूप न पायके सर्व विषय से निवृत्त और निष्क्रिय होता है । मन द्वारा मनही मन में इन्द्रिय निग्रह करना ही, इन्द्रिय-निग्रहका एकमात्र उपाय है, दूसरे उपायसे नहीं होता, मिथ्याचारी होना पड़ता है ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२५॥

अन्वयः । [योगी] धृतिगृहीतया (धैर्य्येण युक्तया) बुद्ध्या. शनैः शनैः (अभ्यासक्रमेण, न तु सहसा इत्यर्थः) उपरमेत् (उपरतिं कुर्य्यात्); मनः आत्मसंस्थं कृत्वा किञ्चिदपि न चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

अनुवाद । (योगी) धैर्य्ययुक्त बुद्धिद्वारा धीरे धीरे उपरत होवेंगे, मनको आत्मामें सम्यक् स्थापन करके कुछ भी चिन्ता न करेंगे ॥२५॥

व्याख्या । धैर्य्य सहकार बुद्धिको चलायके अर्थात् ठीक ठीक गुरूपदिष्ट विधान अनुसार क्रिया होती है या नहीं, अनुक्षण (सर्वदा) उस पर सतर्क रहके, अति धीरे धीरे उपरति करना होता है, अर्थात् मनको विषयसे निवृत्त करना पड़ता है। धीरे धीरे,—इसका अर्थ यह है कि, जलदी जलदी न करके क्रम अनुसार एक चक्रसे दूसरे चक्रमें, वहांसे और एक चक्रमें, इस रीति

से प्राणको ऊर्द्धमें लेजाके धारण करना होता है, कारण कि—प्राणही मनका नियन्ता है; प्राणके चंचलता-स्थिरतादि अवस्था भेदसे मनका भी तद्रूप अवस्था प्राप्ति होती है । प्राणके प्रथमतः अति वेगके साथ ऊर्द्धमें चालन करनेसे योग नहीं होता, रोग होनेकी सम्भावना होती है; क्योंकि क्रिया-विहीन साधारण अवस्थामें नाड़ी-पथ समूह क्रूरवायु और श्लेष्मासे रुद्ध रहता है, इस लिये प्राणवायुको पहले ही वेगके साथ ऊंचेमें प्रेरणा करनेसे वह वायु पूर्ण वेगसे आके उस रुद्ध पथमें धक्का देता है; परन्तु उस धक्कासे पथ परिस्कार न होनेसे नाड़ी-चक्र समूह क्षुब्ध और विपर्यस्त हो पड़ता है, और उल्टी उत्पत्ति होती है । इसलिये उपदेश है कि धीरे धीरे उठना होता है । प्रथमतः स्वभावके वशमें रह करके वायुको धीरे धीरे कौशल क्रम अनुसार उठा ला करके, यथा नियममें निश्वास प्रश्वास चालन द्वारा मूलाधारादि चक्र क्रममें वायुको भीतरमें संयत करना पड़ता है। इस प्रकार करनेसे भीतरमें एक तेजका संचार होता है; जिसमें नाड़ीपथ सब परिस्कार होता है, और वह संयतवायु उसी उसी पथमें प्रवेश करके शरीरको वायुसे परिपूर्ण करता है, वायुका आलोड़न भी मिट जाता है, प्राण धीर सूक्ष्म प्रवाहसे ब्रह्मनाड़ीमें बहता रहता है, मन उपरति प्राप्त होता है अर्थात् विषयमुखी वृत्ति

छोड़के चंचलताको परित्याग करता है । उसी समय मनको 'आत्मसंस्थ' करना होता है, अर्थात् आत्मामें—कूटस्थ तारकब्रह्ममें सम्यक् प्रकार करके स्थिर करना होता है; लक्ष्य-प्रवाह उन्हींमें प्रवेश कराने पड़ता है, किसी प्रकारकी चिन्ता न करना चाहिये । इस अवस्थामें किन्तु स्मृति-संस्कार अति सूक्ष्माकारसे अन-जान भावसे आकर मनको आक्रमण करके विच्युत करनेका (पिछाड़ि हटाय देनेकी) चेष्टा करता है, कृत-कार्य्य भी होता है; उससे निष्कृति पानेका उपाय श्री-भगवान् पश्चात्‌के श्लोकमें ही उपदेश किये हैं ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

अन्वयः । चंचलं (अत्यर्थं चलं अतएव) अस्थिरं मनः यतः यतः (यस्मात् यस्मात् शब्दादेर्निमित्तात्) निश्चरति (स्वभावदोषान्निर्गच्छति), ततः ततः (तस्मात् शब्दादेर्निमित्तात्) एतत् (मनः) नियम्य (प्रत्याहृत्य) आत्मनि एव वशं नयेत् (स्थिरं कुर्य्यात्) ॥ २६ ॥

अनुवाद । चंचल और अस्थिर मन जिस जिस कारणसे निर्गमन करेगा, उसी उसी कारणसे उसको घुमायके आत्मामें लाकर वशमें लावेंगे ॥ २६ ॥

व्याख्या । स्मृति-संस्कार मनमें शब्दादि किसी एक विषयको जगा देके ज्योंही मनको आत्मच्युत करता है,

त्योंही वह मालुम हो जाता है। तब वैराग्य भावनासे उस उस विषयके स्वरूप (असारत्व) दर्शन करके उससे मनको फिर आत्मामें ही घुमा लाकर वश करना पड़ता है । इसी प्रकार बार बार करते करते, स्मृति-संस्कार निस्तेज हो जावेगा, मन भी चंचलभाव त्याग करके स्थिरत्वको लेवेंगे ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

अन्वयः । एनं (एवं प्रत्याहारादिभिः पुनः पुनः मनो वशीकुर्वन्तं) शान्तरजसं (प्रक्षीणमोहादिक्लेशरजसं) प्रशान्तमनसं अकल्मषं (धर्म्माधर्म्मादिवर्जितं) ब्रह्मभूतं (जीवन्मुक्तं) योगिनं हि (एव) उत्तमं सुखं (समाधिसुखं स्वयमेव) उपैति (गच्छति) ॥२७ ॥

अनुवाद । इस प्रकार करते करते मन जब समस्त रजोगुणके मलिनतासे विमुक्त होकर प्रशान्त भाव ग्रहण करता है, तबही ब्रह्म भावापन्न उस योगीको उत्तम सुख प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

व्याख्या । मनको पुनः पुनः पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्याहार द्वारा आत्मामें लाकर वश करनेसे, योगी प्रशान्त-मना होते हैं, अर्थात् उनका मन चंचलताको त्याग कर के स्थिर होता है; पश्चात् उनके रजोगुण की क्रिया भी शान्त होती है, तब उनके अन्तःकरणमें मोह आदि क्लेश

समूह क्षीणसे क्षीणतम हो जानेसे वह पुरुष शान्तरजस् होते हैं; तत्पश्चात् ब्रह्मभूत वा जीवन्मुक्त होते हैं, तब और उनमें भेदज्ञान रूप दोष नहीं रहता । इस कारण करके उत्तम सुख जो ब्रह्मानन्द--जो वाणीसे प्रकाश हो नहीं सकता,—जिसके सादृश्य नहीं,—जो एकमात्र बुद्धि-ग्राह्य—नित्य-अतीन्द्रिय है, वह निरतिशय सुख उनमें आपही आप उपस्थित होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

अन्वयः । एवं (अनेन प्रकारेण) सदा (सर्वदा) आत्मानं (मनः) युञ्जन् (वशीकुर्वन्) योगी विगतकल्मषः (विधूतपापः सन्) ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं (सर्वोत्तमं) सुखं अश्नुते (भुङ्क्ते) ॥२८॥

अनुवाद । उपरोक्त प्रकारसे मनको सर्वदा वशमें लाते लाते योगी विगतपाप होकरके ब्रह्मसाक्षात्कार रूप सर्वोत्तम सुख भोग करते हैं ।

व्याख्या । २७ वां और २८ वां श्लोकका विषय एकही है, दोनोंमेंही योगी जीवन्मुक्त है । परन्तु प्रभेद यह है कि, २७ श्लोकमें योगी सुखके आश्रय स्वरूप, स्वयं निष्क्रिय हैं; २८ श्लोकमें योगी सुखका भोक्ता इसलिये सक्रिय हैं । २७ श्लोकमें योगी ब्रह्ममें समाहित अवस्था प्राप्त, २८ श्लोकमें योगी ब्रह्ममें प्रबुद्ध अवस्था प्राप्त है । २८ वां श्लोककी अवस्था २७ वां श्लोककी अवस्थाका परिपाक-फल है॥२॥२

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

अन्वयः । योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः (सर्वभूतेषु भेदज्ञान-परिशून्यः सन्) आत्मानं (स्वं) सर्वभूतस्थं (सर्वेषु भूतेषु व्याप्य स्थितं) सर्वभूतानि च आत्मनि (स्थितानि इति शेषः) ईक्षते (पश्यति) ॥ २९ ॥

अनुवाद । योग द्वारा युक्तचित्त और सर्वत्र समदर्शन सम्पन्न योगी आत्माको सर्वभूतमें स्थित और सर्वभूतको आत्मामें (स्थित) अवलोकन करते हैं ॥ २९ ॥

व्याख्या । पूर्वश्लोकोक्त जीवन्मुक्त अवस्थाका लक्षण यह है कि, जीवन्मुक्त पुरुष अपनेमें और सर्वभूतमें समदर्शी—अभेद ज्ञान सम्पन्न है; उनके लिये सबही ब्रह्म है, अतएव ब्रह्म बिना दूसरा कुछ उनकी दृष्टिमें पृथक् बोध नहीं होता । साधक ! क्रियाके परावस्थाके परावस्थामें उतर आ करके तुम जो आत्ममिलन करते हो, जिसमें तुम्हारा विपरीत बोधन अन्तःकरणमें उठने ही नहीं पाता, यह श्लोक उसीका साक्षी देता है, मिलाय लेवो ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

अन्वयः । यः मां (सर्वस्यात्मानं) सर्वत्र पश्यति, सर्वं ब्रह्मादि-

भूतजातं) च मयि (सर्वात्मनि) पश्यति, तस्य (आत्मैकत्वदर्शिनः एव) अहं (ईश्वरः) न प्रणश्यामि (न परोक्षतां गमिष्यामि) सः च (विद्वान्) मे (मम) न प्रणश्यति (न परोक्षो भवति) ॥ ३० ॥

अनुवाद । हमको जो सर्वभूतमें तथा सर्वभूतको हमहीमें दर्शन करते हैं, उनके पास कभी मैं नष्ट (अदृश्य) नहीं होता हुं तथा वह भी कभी हमारे पास नष्ठ (अदृश्य) नहीं होता है ॥ ३० ॥

व्याख्या । सिद्ध होनेके बाद, साधक साधनाके चरम सीमामें पहुंचनेके पश्चात् अपनी इच्छानुसार ब्रह्ममें मिल जाकर निराकार रूपसे "सदसत्तत्परं यत्—एकमेवाद्वितीयं" भी हो सकते हैं, फिर मिश न जाकर "हरिहरात्मा" के सदृश साकारमें उपास्य उपासक भाव रक्षा करके भी अवस्थिति कर सकते हैं, यह दोनों ही उनके आयत्ताधीन रहता है । प्रथम अवस्था अद्वैत-वादका विषय है, और द्वितीय अवस्था विशिष्टाद्वैतवाद का विषय है । इस श्लोकमें वो दोनों अवस्थाही व्यक्त हुआ है, यथा—

सर्वत्र समदर्शी, अभेद ज्ञान सम्पन्न होनेसे योगी परमात्मामें मिशकर नित्ययुक्त होते हैं, तब उनके अन्तःकरणमें उभयत्व मिट जाके एक अद्वितीय "मैं" ही रहता है; जिसलिये 'मैं' देके उनको, उनको देके "मैं" को ढांकना नहीं होता। दोनों मिट जाके एक होनेसे—

'तत्' और 'त्वं' मिश करके एक 'अहं' होनेसे, उनके 'मैं' और मेरा 'वह' दोनों मिलकर 'एक'—इस भावका नाश नहीं होता। (यह अद्वैतवाद है)।

समदर्शी और अभेदज्ञान सम्पन्न होनेसे योगी परमात्मा वा परमेश्वरके साथ मिलकर नित्ययुक्त होते हैं, दोनों ही परस्परके आकर्षणमें आबद्ध रहते हैं; इस लिये योगीका निर्म्मल सूक्ष्म दृष्टि सतत प्रकाश रहती है, और वहा दृष्टि किसी आवरणसे ढका न पड़नेसे, उनके चक्षुमें सर्वत्र ही परमेश्वर विराज करते हैं; वैसे उनके ज्ञान भक्तिमें मुग्ध होकर परमेश्वर भी उनके प्रति अपना अनुग्रह-प्रवाह सतत खुलासा रखते हैं, निमेष-मात्रके लिये भी उनको अनुग्रहसे वञ्चित नहीं करते। असल बात, दोनोंमें जैसे एकात्मक होते हैं। (यह विशिष्टाद्वैतवाद है) ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

अन्वयः । यः सर्वभूतस्थितं मां एकत्वं आस्थितः (अभेदमाश्रितः सन्) भजति, सः योगी सर्वथा (सर्वप्रकारैः) वर्त्तमानः अपि मयि (वैष्णवे परमे पदे) वर्त्तते ॥ ३१ ॥

अनुवाद । जो मुझको सर्वभूतस्थित एकत्वमें (अभेद भावसे)

आश्रय करके भजना करते हैं, वह योगी सर्व प्रकारमें वर्त्तमान रह करके भी हमहीमें वर्त्तमान रहते हैं ॥ ३१ ॥

व्याख्या । सुषुम्नाके अन्तर्गत ब्रह्मनाड़ीका अवलम्बन करके क्रिया विशेष द्वारा जो साधक तन्मय हुये हैं, दृष्टि ब्रह्ममयी कर चुके हैं, उनके पास सबही एक है; वह योगी आत्माको सर्व भूतमें ही अभेद भावसे ग्रहण करते हैं; इसलिये उनके पास विषय और ब्रह्मके भेद न रहनेसे, वह योगी जहां जब जिस अवस्थामें रहते हैं, साधारण जीव सदृश सर्वतोभावमें विषय भोग करनेसे भी, वह योगी है अर्थात् योगावस्थासम्पन्न है, इसलिये "मैं" में अर्थात् आत्मपदमें—परमपद विष्णुपदमें अवस्थित है; वह नित्य मुक्त है; कोई कुछ भी उनके मोक्ष मार्गमें बाधा दे नहीं सकता। क्या शरीर धारण अवस्थामें, क्या शरीरान्तमें, वह योगी 'मैं' हो करकेही रहते हैं ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! यः आत्मौपम्येन (आत्मतुलनया) सुखं वा यदि वा दुःखं सर्वत्र (सर्वदेशकालपात्रेषु) समं पश्यति, सः योगी परमः (उत्कृष्टः) मतः ॥ ३२ ॥

अनुवाद । हे अर्जुन ! जो पुरुष आत्मतुलनामें सुख किम्बा दुःख को सर्वत्र समान दृष्टिसे दर्शन करते हैं, हमारे मतामें वही पुरुष परम योगी है ॥ ३२ ॥

व्याख्या । योगीगण साधन-फल करके दो अवस्था भोग करते हैं—एक आत्मभावावस्था और दूसरा जीवभावावस्था है । जब वह लोग बाहर वाले विषय को त्याग करके अन्तर (भीतर)में चरण करते हैं, तब उन लोगोंका आत्मभावावस्था और जब बाहरके विषय में रहते हैं, तब जीवभावास्था है । आत्मभावमें सर्वज्ञत्व हेतु निर्विकार साम्यावस्थाकी प्राप्ति होती है, स्थिर आनन्द-प्रवाह बहता रहता है, तथा विषय-संस्पर्शमें आने से भी जिस प्रकार वृत्तिका उदय हो करके मनमें सुख दुःखका विकाश करता था, उस प्रकार (विषय मतवारा) और नहीं होता । इस आत्मभावसे जीवभावमें उतर आके विषय-संस्पर्शमें आनेसे, पहिले पहल "संगात् संजायते कामः"—इस वाक्यके अनुसार विषय-वृत्तिका उदय होता है । परन्तु जब अभ्यास सिद्ध हो करके अन्तर्बहिः समान होता है, तब जीव भावमें विषय-संग होनेसे भी, विषयाकारा वृत्तिका उदय न होके अन्तःकरणमें समान आत्मानन्द-प्रवाह बहता रहता है, सुख, दुःख सबही एक चिद्-विलास बिना दूसरे भावसे

लक्ष्य नहीं होता, इसलिये समान आकार धारण करता है। इस आत्मभावके सादृश्यमें बाह्यभावको गठन करना ही साधनाका चरम फल है, इस अवस्थामें जो साधक आ पहुंचते हैं, वही पुरुष परम योगी हैं।

श्रीभगवान ब्रह्मज्ञके (जीवन्मुक्तके) लक्षण और अवस्था २९।३०।३१ श्लोकमें कह आये हैं; विशेषतः "सर्वथा वर्त्तमानोऽपि" इत्यादि वचन द्वारा दिखला दिये हैं कि, उनको (उस योगीको) और कोई विधि निषेध नहीं है, इसलिये संसारवाही मूढ़ सरिस आचार व्यवहार उनको होना भी असंगत हो नहीं सकता। तब उनके मनोभाव कैसा होता है सो लक्ष्य करा देनेके लिये भगवान् ३२वां श्लोकमें कह आये हैं कि, उनके भीतर बाहर एकरस बरोबर समान, भीतरमें भी जैसे निर्विकार रहते हैं, बाहर आनेसे भी वैसे सुख दुःखका तरंग उनके मनमें उठता ही नहीं। इस अवस्थाको लक्ष्य करके ही अष्टावक्र ऋषि कहते हैं,—

"हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
न हि संसारवाहीकैः मूढ़ैः सह समानता ॥
यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो ! तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति" ॥३२॥

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे मधुसूदन ! अयं यः योगः त्वया साम्येन (समत्वेन) प्रोक्तः (कथितः), अहं चंचलत्वात् एतस्य (योगस्य) स्थिरां (अचलां) स्थितिं न पश्यामि (नोपलभे) ॥३३॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं । हे मधुसूदन ! साम्यरूप यह जो योग आप मुझको कहते हैं, मनके चंचलताके लिये इसका अचल स्थिति मैं नहीं देखता हुं ॥ ३३ ॥

व्याख्या । परश्लोकके व्याख्यामें देखो ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः । हे कृष्ण ! हि (यतः) मनः चंचलं प्रमाथि (प्रमथनशीलं देहेन्द्रियक्षोभकरं इत्यर्थः) बलवत् (प्रबलं) (तथा) दृढं (विषयवासनानुबन्धितया दुर्भेद्यं), अहं तस्य (एवम्भूतस्य मनसः) निग्रहं (निःशेषेण रोधं) वायोः (निग्रहं) इव सुदुष्करं (सर्वथा कर्त्तुं अशक्यं) मन्ये ॥ ३४ ॥

अनुवाद । हे कृष्ण ! मन तो अति चंचल, प्रमाथि, बलवान और दृढ़ है । हमारे मनमें होता है कि इस मनको निग्रह करना वायुके निग्रह करनेके सदृश अति कठिन व्यापार है ॥ ३४ ॥

व्याख्या । चित्तकी साम्य भावको ही योग कहते हैं । यह साम्य भाव एक बारगी जल्दी नहीं आता । प्रथम प्रथम यह योग क्षणस्थायी सदृश होता है, तत्-क्षणात् फिर चमक-भंग सरिसे भंग हो जाता है; विषयाकर्षणके लिये मनका चंचलता ही इसका कारण है । इस अवस्थामें साधक स्थिर स्थिति अर्थात् दीर्घस्थायी समाधि नहीं पाते । ३३ श्लोकमें यह बात ही अर्जुनके मुखसे व्यक्त हुआ है। परन्तु साधक क्रियायोगसे क्षणिक स्थितिभोग करके मनकी प्रकृति जान सकते है; देखते हैं कि, मन अति "चंचल"-"प्रमाथि" अर्थात् एक न एक विषयमें धावित हो करके इन्द्रिय समूहको विलोड़ित कर रहा है, स्थिर होने नहीं देता, "बलवत्" अर्थात् इतना प्रबल है कि, वशमें लाना मुश्किल है-और "दृढ़" अर्थात् विषय-वासनासे जड़ित रहनेके सबबसे दुर्भेद्य है, भेद करनेके लिये जानेसे वासनामें ही लपटाये पड़ने होता हैं। यह सब प्रत्यक्ष करके (भोग करके) ही साधक मनमें स्मरण करते हैं, कि जैसे शरीरमें वायुका निरोध करना अति कठिन है, मनको वश करना भी तैसे कठिन है, वश होता ही नहीं । इसलिये व्याकुल हो करके पुनराय श्रीगुरुके शरणापन्न होते हैं (आत्मभावमें लक्ष्य करते हैं)। कृष्ण ही गुरु हैं, भक्तजनोंके पापादि दोष कर्षण करते

हैं--पश्चात् भक्तको खींच लाकर निर्वाण-पद (मुक्तिपद) में मिला देते हैं, इसलिये उनका एक नाम कृष्ण है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । हे महाबाहो ! मनः असंशयं (निश्चयमेव) दुर्निग्रहं चलं; तु (तथापि) हे कौन्तेय ! अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान् कहते हैं,—हे महाबाहो ! मन जो चंचल और दुर्निग्रह, जिसमें कोई सन्देह नहीं; तथापि हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य द्वारा मनको निग्रह किया जा सकता है ॥ ३५ ॥

व्याख्या । ३३।३४ वां श्लोकमें शिष्य क्रियायोग अनुसार अपना अभिज्ञता जिस प्रकार प्रकाश किया, वह जो ठीक है, उसमें शिष्यको उत्साह देनेके लिये भगवान कहते हैं--हां, सच है; मन अति चंचल और दुर्निग्रह (वशमें लाना बड़ा कठिन) है, इसमें कोई सन्देह नहीं; तथापि किन्तु मन अवश्य नहीं है, वश किया जा सकता है; इसका उपाय भी है; वह उपाय और कुछ नहीं--अभ्यास और वैराग्य है। अभ्यास तथा वैराग्यसे ही मन

निगृहीत होता है;—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'।

अभ्यास किसको कहते हैं? कि 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' अर्थात् यम-नियम-आसन-प्राणायामादिके अनुष्ठानसे चित्तको यत्न और उत्साह पूर्वक बार बार एकाग्र करके स्वरूपमें स्थिर करनेकी चेष्टाका नाम अभ्यास है। यह अभ्यास यदि दीर्घकाल श्रद्धा सहकार निरवच्छिन्न रूपसे सर्वदा सम्पन्न किया जाय तो दृढ़ अर्थात् अविचलित होता है। तब इच्छा करनेसे ही चित्तको जहां तहां संयत किया जा सकता है।

वैराग्य क्या?—कि 'दृष्टानुश्रविक-विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' अर्थात् दृष्ट और अनुश्रविक ये दो प्रकार विषय भोगके ऊपर वितृष्णा वा इच्छाराहित्यका नाम वैराग्य है। जीवद्दशामें इहलोकमें जो कुछ भोग किया जाय, उसका नाम दृष्टविषय है, और मृत्युके बाद परलोकमें वेदोक्त मतानुसार सुकर्म्म-फल करके जो स्वर्गादिभोग हो, उसका नाम अनुश्रविक विषय है। इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न होनेके पश्चात्, प्रकृति-पुरुषका पृथकता प्रत्यक्ष होता है। तब प्राकृतिक गुणके ऊपर भी वितृष्णा जनमता है; प्राकृतिक ऐश्वर्य्य और प्रलोभित नहीं कर सकता, बिना विघ्न मनको भी निरोध किया जाता है॥ ३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अन्वयः । असंयतात्मना योगः दुष्प्रापः इति मे मतिः; तु (किन्तु) वश्यात्मना यतता (भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्वता सता) योगः (कैवल्यमित्यर्थः) उपायतः (श्रद्धावीर्य्याद्युपायक्रमेण) अवाप्तुं शक्यः ॥ ३६ ॥

अनुवाद । असंयत चित्तके लिये योग दुष्प्राप्य है, यही हमारा मत है; परन्तु मनको जो वश कर चुके हैं, यथाविहित उपाय क्रम अनुसार यत्न करनेसे वह पुरुष योगप्राप्त होनेके समर्थ होते हैं ॥३६॥

व्याख्या । अभ्यास और वैराग्य ही चित्त संयम करनेका उपाय है । इसे जो नहीं कर सकते, उसका योग नहीं होता । अभ्यास और वैराग्यसे मनको वश वा संयत कर सकनेसे योगकी अधिकारी होता है, तब प्रयत्न करनेसे ही श्रद्धा--वीर्य्य—स्मृति--समाधि--प्रज्ञा यह उपाय क्रमसे योग प्राप्ति होती है । इसीलिये मुमुक्षुका योग 'उपायप्रत्यय' है ।

प्राणायामादि द्वारा वश्यात्मा होनेसे ही पहले पहल श्रद्धा आती है, अर्थात् मन भक्ति पूर्वक कूटस्थमें धृत होता है, प्रसन्न (प्रकृष्ट रूपसे स्थिर) होता है । पश्चात् वीर्यकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् मन ब्रह्मतेज करके बलीयान् होता है । तब स्मृतिका उदय होता है,

अर्थात् "मैं" ही जो ब्रह्म हुं वह स्मरणमें आता है। इस स्मृतिके सहारेसे ही मन तन्मना होकरके तन्मयत्व ले करके साम्यभावमें स्थित होता है; यही समाधि है। इस समाधिके बाद प्रज्ञाका उदय होता है, अर्थात् आत्मस्वरूप साक्षात्कार होता है, इस प्रज्ञाके बादही योग वा चैतन्य-समाधि प्राप्ति होती है । इस चैतन्य-समाधिसे ही कैवल्य वा मुक्ति होती है ।

प्रयत्न करके उस उस उपाय क्रममें यदि मन लय न हो, तो जो समाहित अवस्थाके सदृश अवस्था आती है, उसमें कैवल्य प्राप्ति नहीं होती, वह जड़समाधि वा वाजिगरों की वाजि होकर खड़ी होती है। उससे केवल भोग लाभ होता है, इसलिये पुनः संसारमें आना ही पड़ता है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे कृष्ण ! अयतिः (यः प्रथमं योगे प्रवृत्तः ततः परं तु सम्यक् न यतते) श्रद्धयोपेतः (किन्तु आस्तिक्य-बुद्धियुक्तो वर्त्तते) योगात् चलितमानसः (किम्बा भ्रष्टस्मृतिः सन्

योगात् चलितो भवति), योगसंसिद्धिं अप्राप्य (सः योगस्य संसिद्धिं कैवल्यं अप्राप्य) कां गतिं गच्छति (प्राप्नोति) ? ॥ ३७ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं. हे कृष्ण ! जो साधक योगमें प्रवृत्त हो करके योग साधनमें यतन नहीं करते, किन्तु आस्तिक्य-बुद्धियुक्त रहते हैं, किम्बा जो साधक मनके चंचलता हेतु योगभ्रष्ट होते हैं, योग-संसिद्धि (कैवल्य) न पाके वह किस प्रकार गति पावेंगे ? ॥३७॥

व्याख्या । योगानुष्ठान करनेसे सब साधक ही जो सिद्धिलाभ करेंगे, वह नहीं, वहुतोंको असिद्धावस्थामें ही शरीर त्याग करना पड़ता है । यह असिद्ध योगी भी फिर दो प्रकारके हैं । एक, जो पहले अच्छी तरह श्रद्धा युक्त हो करके योगानुष्ठान प्रारम्भ करते है पश्चात् शिथिल-वैराग्य हो करके और यथा नियम क्रियानुष्ठान में यतन नहीं करते, परन्तु आस्तिक्य बुद्धियुक्त रहते है; यह साधक "श्रद्धयोपेतः अयतिः" । दूसरा, जो साधक श्रद्धा सहकार बरोबर ठीक ठीक चले गये हैं, किन्तु मृत्युकालमें दैव दुर्विपाक करके लक्ष्य स्थिर रखने न पाके चंचल हो गये, मन आत्मतत्त्वसे च्युत होनेके लिये भ्रष्ट हुये; यह साधक "योगाच्चलितमानसः" है । अब यह दो प्रकार अवस्थापन्न साधककी गति कैसी होवेगी ? दोनों प्रकारमें ही तो यह दोनों योगमे संसिद्ध न होनेसे मुक्ति वा अपुनरावृत्ति गति न पावेंगे । तब किस प्रकार गतिको पावेंगे ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

अन्वयः । हे महाबाहो ! (सः) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्मप्राप्तिमार्गे) अप्रतिष्ठः (स्थितिं अप्राप्य, निराश्रयः सन्) विमूढ़ः (इतिकर्त्तव्यता-ज्ञानशून्यः) तथा उभयविभ्रष्टः (योगात् कर्म्मांच्च विच्युतो भूत्वा) छिन्नाभ्रं इव (छिन्नमेघवत्) न नश्यति काच्चित् ? ॥ ३८ ॥

अनुवाद । हे महाबाहो ! वो भ्रष्ट साधक ब्रह्ममार्गमें प्रतिष्ठा लाभ करने में असमर्थ होके विमूढ़ होनेसे, योग और कर्म्म दोनोंसे ही विभ्रष्ट हो करके छिन्न मेघ सरिसे क्या नष्ट न होवेंगे ? ॥ ३८ ॥

व्याख्या ।—मेघ संचारके बाद, प्रतिकूल वायु द्वारा छिन्न भिन्न होनेसे वह मेघ जैसे एक जगहमें स्थिर नहीं होता, और स्थितिके अभाव करके अनुकूल वायु भी नहीं पाता, जिसलिये गलकर जल भी हो नहीं सकता,—क्रम अनुसार न मेघ, न जल, इन दोनों अवस्थामेंसे किसी एकको न पाकरके, वायुकी ताड़ना करके आकाशमें विलीन होता है, अयति योगी लोग अथवा जो लोग दैव विपाकमें पड़ करके ब्रह्ममार्गमें अर्थात् ब्रह्माकाश वा चिदाकाशमें प्रतिष्ठालाभ करने न पाके, विमूढ़ हो जाते हैं, कौन इष्ट है वह धारणा नहीं कर सकते, वह सब क्या योग (ज्ञान), क्या कर्म्म

दोनोंसे ही भ्रष्ट हो जाके साधारण मूढ़ सरिसे संसारमें मिल करके अधोगतिको पावेंगे ? ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

अन्वयः । हे कृष्ण ! मे (मम) एतत् संशयं अशेषतः छेत्तुं (अपनेतुं) अर्हसि; त्वदन्यः (त्वत्तोऽन्यः ऋषिर्देवो वा) अस्य संशयस्य छेत्ता (नाशयिता) न हि उपपद्यते (न सम्भवति)॥ ३९ ॥

अनुवाद । हे कृष्ण ! निःशेष रूप करके हमारा यह संशय आप छेदन कर दीजिये; इस संशयका छेत्ता बिना आप और दूसरा कोई हो नहीं सकता ॥ ३९ ॥

व्याख्या। श्रीकृष्ण ही अक्षर पुरुष---ईश्वर है; उन्हींमें सर्वज्ञत्वका वीज वर्त्तमान, परिपूर्ण है । दूसरे जितने देव, ऋषि, मुनि आदि सुषुम्ना मार्गमें अवस्थित हैं सब ही इस पूर्णके अंश हैं; इसलिये उन लोगका सर्वज्ञता भी तदनुरूप है। जबतक इस परिपूर्ण अक्षर ब्रह्ममें मिशकर एकरस न हुआ जाय, तब तक ही पूणत्व और अंशत्व रूप तारतम्य रहता है । भूत-भविष्यत्को वर्त्तमानके सदृश देखना हो तो—सर्वसंशय नाश करना हो तो, उस अक्षर ब्रह्ममें चित्तसंयम करना होता है, दूसरे कही

करनेसे नहीं होगा । इसलिये साधक श्रीकृष्णरूप परं अक्षर ब्रह्ममें चित्त विनिवेश करके, ४० से ४४ वां पर्य्यन्त श्लोकमें योगभ्रष्टकी गति निरूपण करते हैं ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥४०॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । हे पार्थ ! न एव इह (इहलोके) न अमुत्र (परलोके) तस्य (योगभ्रष्टस्य) विनाशः विद्यते (नाशो नाम पूर्व्वस्मात् हीनजन्म प्राप्तिः न अस्तीत्यर्थः); हि (यस्मात् कारणात्) हे तात ! कल्याणकृत् (शुभानुष्ठाता) कश्चित् (जनः) दुर्गतिं न गच्छति ॥ ४० ॥

अनुवाद । श्रीभगवान कहते हैं । हे पार्थ ! क्या परलोकमें और क्या इह लोकमें उनका विनाश नहीं है; क्योंकि हे तात ! कल्याणकृत कोई कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते ॥ ४० ॥

व्याख्या । यदि योगी अयति हो परन्तु आस्तिक्य बुद्धियुक्त रहे, किम्बा यदि योगभ्रष्ट ही हो, तो भी उनका और विनाश नहीं, इहलोकमें तो है ही नहीं, परलोकमें भी नहीं; क्योंकि, जो कल्याण-कर्म्मके अनुष्ठान करते हैं अर्थात् आत्मप्रतिष्ठा वा ब्राह्मीस्थिति लाभके लिये चित्तशुद्धिकी उपायभूत क्रियानुष्ठान करते हैं; उनको और दुर्गति प्राप्त नहीं होती ।

इहलोकमें विनाश नहीं है, उसका कारण यह है कि, एकदफे अखण्डमण्डलाकार गुरुपद दर्शन होनेके पश्चात् आस्तिक्य-बुद्धिका उदय होनेसे, आत्म-विस्मरण नहीं होता; इसलिये क्रियायोगमें यत्नशील न रहनेसे भी गुरु-पद दर्शन-जनित सत्-संस्कार-शक्ति करके किसी प्रकार बुरे कर्म्ममें मति गति नहीं होती। परलोकमें भी विनाश नहीं है, इसका कारण यह कि उस सत्-संस्कार-शक्तिसे हीन जन्मकी प्राप्ति नहीं होती। (परवर्त्ती दो श्लोक देखो)।

[पिता पुत्ररूपसे आत्माका विस्तार करते हैं, इस लिये वह तात हैं। पुत्रको भी पिता तात कहते हैं। गुरु भी दीक्षा द्वारा शिष्यको दूसरा जन्म देकर द्विज करके आत्मज्ञानका विस्तार करते हैं। इसलिये शिष्य पुत्र तुल्य है। अतएव श्रीभगवान्‌ने स्नेह करके शिष्य अर्जुनको तात कह के सम्बोधन करते हैं] ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अन्वयः। योगभ्रष्टः पुण्यकृतां (अश्वमेधादियाजिनां) लोकान् प्राप्य (तत्र) शाश्वतीः समाः (बहून् सम्वत्सरान्) उषित्वा (वास-सुखमनुभूय) शुचीनां (सदाचाराणां) श्रीमतां (विभूतिमतां) गेहे (गृहे) अभिजायते (जन्म लभते) ॥ ४१ ॥

अनुवाद । योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्म्मा लोगोंके लोक प्राप्त हो करके वहां बहु वत्सर निवास करते हैं, पश्चात् पवित्र और लक्ष्मीश्रीसम्पन्न लोगोंके घरमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ४१ ॥

व्याख्या । योगभ्रष्ट दो प्रकारका होता है; एक—मनमें विषय-वासनाके उदयके लिये वैराग्य शिथिल होनेसे "अयतिः" होनेसे होता है; और दूसरा—कालके वशसे मृत्युमुखमें पतित होनेके समय तीव्र वैराग्य रहनेसे भी सञ्चित कर्म्मदोष करके अनजान भावसे विषयाकर्षणमें पड़के अतिमृत्युपदमें उठ जानेके पहले "योगाच्चलित-मानसः" होनेसे होता है। जो सब साधक भोगवासना के वशमें पड़कर योगभ्रष्ट होते हैं, उन सबकी इस श्लोक के अनुसार गति होती है; और जिन सबको वैराग्य रहनेसे भी दैव विपाकमें पड़ करके योगभ्रष्ट होना पड़ता है, उन सबकी गति आगेके श्लोकके अनुसार लाभ होती है।

प्रथम प्रकारके योगभ्रष्ट पुरुष, मृत्युके बाद पार-लौकिक फल भोग करनेके लिये, पुण्यवान लोग जिस जिस लोकमें जा करके वास करते हैं, अपने कर्म्म फल से उन सब लोकमें कुछ काल वास करके अविच्छिन्न भावसे सुख भोग करते हैं; पश्चात् भोग क्षय होनेसे कर्म्म-भूमि मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं, अर्थात् पुनराय जन्म ग्रहण करते हैं। यह जन्म, उन लोगोंकी विषय भोग-वासना

के पूरण होनेके लिये जैसे लक्ष्मीमन्तके घरमें होता है, तैसे उन लोगोंकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये उस लक्ष्मीमन्तके घर शुची अर्थात् सदाचारसम्पन्न होता है । जिस संसार (घर) में उदार भावका भगवत् प्रेम वर्त्तमान है, वही संसार शुची है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः । अथवा धीमतां (व्यवसायात्मिकाबुद्धिमतां) योगिनां (योगनिष्ठानां) एव कुले भवति (जायते), जन्म यत् ईदृशं एतत् हि लोके दुर्लभतरं ॥ ४२ ॥

अनुवाद । अथवा वो भ्रष्ट योगी धीमान् योगियोंके कुलमें जन्म ग्रहण करते हैं । ऐसे जो जन्म हैं, इस जगत्में वही दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

व्याख्या । द्वितीय प्रकारका भ्रष्टयोगी श्रेष्ठ है । व्यवसायात्मिका बुद्धियुक्त योगीके घरमें वह जन्म ग्रहण करता है; इह जगतमें इस प्रकारका जन्म बड़ा दुर्लभ है— अति सौभाग्यका फल है । इस प्रकार जन्मप्राप्ति होनेसे जीव जैसे जन्म-सिद्ध शक्ति प्राप्त होता है, क्योंकि, कुलाचार प्रथा करके बिना प्रयाससे ही उनकी भगवत् प्राप्तिका दरवाजा खुल जाता है । (४४ वां श्लोक देखो) ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

अन्वयः । (सः) तत्र (शुचीनां श्रीमतां गेहे धीमतां योगीनां कुले वा जातः सन्) पौर्वदेहिकं (पूर्वदेहभवं) तं बुद्धिसंयोगं (ब्रह्म-विषयया बुध्या संयोगं) लभते; हे कुरुनन्दन ! संसिद्धौ (संसिद्धिप्राप्ति-निमित्तं) ततश्च भूयः (तस्मात् पूर्वकृतसंस्कारात् अधिकं) यतते (यत्नं करोति) ॥ ४३ ॥

अनुवाद । हे कुरुनन्दन ! वहां वह पूर्वदेह जात उसी बुद्धिसंयोग लाभ करते हैं, और संसिद्धिकी प्राप्तिके लिये पहलेसे भी अधिक यतन करते हैं ॥ ४३ ॥

व्याख्या । जिस प्रकार बुद्धिसंयोग होनेसे पूर्व जनममें ब्राह्मीस्थिति लाभके लिये यत्न किये थे, पवित्र लक्ष्मीमन्तके घरमें अथवा धीमान् योगीयोंके कुलमें जन्म ग्रहण करके वह पुरुष उसी बुद्धि—उसी ब्रह्मविषयक बुद्धि ही लाभ करते हैं, और इस जन्ममें पूर्वसे भी अधिक यत्न सहकार सिद्धिलाभकी चेष्टा करते हैं ॥४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥४४॥

अन्वयः । हि (यतः) सः (योगभ्रष्टः) अवशः अपि (कुतश्चित् अन्तरायात् अनिच्छन्नपि) तेन पूर्वाभ्यासेन (पूर्वजन्मकृतयोगाभ्यास-

जनितेन संस्कारेण) एव ह्रियते (संसिद्धौ आकृष्यते, विषयेभ्यः परावृत्य ब्रह्मनिष्ठः क्रियते)। योगस्य जिज्ञासुः अपि (योगस्य स्वरूपं ज्ञातुं इच्छन् योगमार्गे प्रवृत्तमात्रोऽपि) सः शब्दब्रह्म (वेदं) अतिवर्त्तते (अतिक्रामति) ॥ ४४ ॥

अनुवाद। क्योंकि वह भ्रष्ट योगी अवश (अनिच्छुक) होनेसे भी, उसी पूर्वाभ्यास द्वारा आकृष्ट होते हैं; और योगका तत्त्व जिज्ञासु होते मात्र ही शब्दब्रह्मको अतिक्रम करते हैं ॥ ४४ ॥

व्याख्या। योगभ्रष्ट योगी सिद्धि लाभमें पूर्व जन्म से अधिकतर यत्न करते हैं; जिसका कारण यह है कि वह योगी पूर्व जन्मके योगाभ्यासके लिये संस्कारकी प्रबल ताड़नामें चालित होते हैं। यदि वह योगी अवश भी होजायँ, अर्थात् मनमें अगर विषयभोग-वासनाका संस्कार उदय हो करके अन्तराय स्वरूप होनेसे योग-संसिद्धि प्राप्ति विषयमें अनिच्छुक भी हो, तौ भी पूर्वकृत योगज संस्कार इतना प्रबल है कि, उनको बाध्य करके योगमें प्रवृत्त करता है। योगज संस्कार कुछ काल के लिये दूसरे संस्कारसे अभिभूत हो सक्ता है, परन्तु यह उन सबको क्षय करके आपही अपनी क्रियाको प्रकाश करता है; योगज संस्कार विनष्ट नहीं होता। यह साधारण नियम है। किन्तु जो "योगात् चलितमानसः" अर्थात् द्वितीय प्रकारका योगभ्रष्ट है, उनको और किसी दूसरे संस्कारके उदयमें अवश होना नहीं होता; वह भ्रष्ट

योगी जब पूर्वयोग-संस्कार द्वारा हृत अर्थात् आकृष्ट हो कर योगके जिज्ञासु होते हैं अर्थात् योगका स्वरूप जानने के लिये योगमें प्रवृत्त होते हैं; तत्क्षणात् बिना प्रयाससे ही पूर्व अभ्यास-गुण करके शब्दब्रह्म वा वेदको अतिक्रम करते हैं अर्थात् एकदम नादके अन्तर्गत ज्योतिके भीतर मनको विलीन करके विष्णुके परम पदमें स्थित होते हैं। अनाहतध्वनि वा प्रणव-नाद ही आदि है; उसीसे ही कर्म्म का क्रमविकाश करके सहस्रारादि सात चक्रमें अथर्व, साम, यजु और ऋक्‌की उत्पत्ति है, (द्वितीय अध्याय ४५ वां श्लोककी व्याख्या देखो) इसलिये इन सबको ही शब्दब्रह्म * कहते हैं ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अन्वयः । तु (वस्तुतः) योगी प्रयत्नात् यतमानः (पूर्वप्रयत्नाद् उत्तरोत्तरं अधिकं यत्नं कुर्वन्) संशुद्धकिल्बिषः (विधूतपापः) अनेक-जन्मसंसिद्धः (अनेकेषु जन्मसु उपचितेन योगेन सम्यक् ज्ञानी भूत्वा) ततः (पश्चात्) परां गतिं याति (प्राप्नोति) ॥ ४५ ॥

---

* ऋगादि चतुर्वेद जब मूलाधारादि सप्त स्वर्गमें क्रियाका विकाश करते हैं, तबही शरीरकी उत्पत्ति होता है। शरीरको कार्य्यब्रह्म कहते हैं कार्य्यब्रह्म—कर्म्म है, शब्दब्रह्म—ज्ञान है ॥ ४४ ॥

अनुवाद। वस्तुतः योगी, पूर्व पूर्व प्रयत्नसे भी अधिकतर यत्नशील होनेसे, क्रमशः निष्पाप होते होते अनेक जन्ममें संसिद्धि लाभ करते हैं, पश्चात् परागतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४५ ॥

व्याख्या। भगवान् ४० से ४४ वें पर्य्यन्त श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देकर, अब देखाते हैं कि, योगीत्वही श्रेय है; योगी हो करके मन्दप्रयत्न होनेपर भी परागति मिलनेके कारण, छिन्नाभ्र सदृश नष्ट होने नहीं होता।

योगी अर्थात् योगानुष्ठानमें श्रद्धायुक्त जो, वह "प्रयत्नात् यतमानः" अर्थात् उनका पूर्व प्रयत्नसे परवर्त्ती प्रयत्न बलवत्तर है; क्योंकि एक दफेकी चेष्टामें योगमार्गमें जितना अभ्यास होता है, दूसरे दफेकी चेष्टामें उतना उठनेमें और कष्ट नहीं होता; कारण यह है कि, प्रथम वारके अभ्यासका संस्कार मनमें दृढ़बद्ध रहता है इसलिये द्वितीय वारमें उसी संस्कारवशसे क्रिया होती है; इसलिये यत्न विपथमें प्रयुक्त न होनेसे क्रम अनुसार अधिकतर बढ़ता रहता है। योग अभ्यस्त हो आनेसे ही पश्चात् "संशुद्धकिल्बिषः" होना होता है, अर्थात् चित्तशुद्ध होनेसे विषय रमण रूप पाप (चंचलता) में लिप्त होना नहीं पड़ता । किन्तु चित्तशुद्धि होनेसे भी ध्यान बिना मुक्ति नहीं होती, इसलिये कहा

हुआ है कि "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"। अब अनेक जन्म क्या है ?

निःश्वास त्याग करके फिर खींच न ले सको तो, जो प्रलय (मृत्यु) होता है, उसको महाप्रलय कहते हैं; इस महाप्रलयके बाद पुनराय देह धारण करनेका नाम जन्म है। वैसे निःश्वास त्याग करके खींचनेके पूर्व पर्य्यन्त कालको खण्डप्रलय कहते हैं। इस खण्डप्रलयके बाद पुनराय प्रश्वास ग्रहण करनेका नाम भी जन्म है। प्रयत्नके तारतम्यके अनुसार सिद्धिलाभका कालका भी तारतम्य होता है। प्रयत्न मृदु होनेसे महाप्रलयके बाद जो जन्म है, उस प्रकारके अनेक जन्मके बाद संसिद्धि लाभ होती है; परन्तु प्रयत्न तीव्र होनेसे उस खंड प्रलयके बाद जो जन्म होता है, उस प्रकारके अनेक जन्म अर्थात् अनेक प्राणायामसे संसिद्धि लाभ होती है। इसलिये पतञ्जलि ऋषिने सूत्र लिखा है कि,—"तीव्रसम्बेगानामासन्नः" अर्थात् तीव्र सम्बेग वालोंके "आसन्न" है अर्थात् समाधि वा योगसंसिद्धि शीघ्र होती है; (कार्य्यप्रवृत्तिके मूलीभूत दृढ़तर संस्कारका नाम सम्बेग है)। अतएव स्मृतिमें भी है—'अत्युत्कटपूण्यपापानामिहैव फलमश्नुते'। सम्बेग तीव्र होनेसे

योगी एक जीवनमें ही कतिपय प्राणायाममें * संसिद्ध होते हैं; किन्तु तीव्र सम्बेग न होनेसे एक जीवनमें नहीं होता, अनेक जन्म लेना पड़ता है । संसिद्धि (समाधि) लाभ होनेके पश्चात् ही, उसके परिपाकमें असम्प्रज्ञात निर्व्वीज समाधि—कैवल्यस्थिति—परागति—ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति होती है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

अन्वयः । योगी तपस्विभ्यः अधिकः (श्रेष्ठः) ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः मतः (ज्ञातः); योगी कर्म्मिभ्यः च अधिकः (विशिष्टः); तस्मात् (कारणात्) हे अर्जुन ! त्वं योगी भव ॥ ४६ ॥

अनुवाद । हमारी मतामें योगी तपस्वीसे श्रेष्ठ है ज्ञानीसे भी श्रेष्ठ है; योगी कर्म्मीसे भी श्रेष्ठ है; अतएव, अर्जुन ! तुम योगी होजावो॥४६॥

व्याख्या । जो साधक कर्म्मफलका आश्रय न करके कार्य्य कर्म्म करते हैं, योगी वही हैं; क्योंकि, कर्म्मफल

* योगीगण ने स्थिर किया है कि,प्राणायाम यथानियम एकासनमें बारह दफे करनेसे ही मनका "प्रत्याहार" होता है; इसके बारहगुणा, १४४ दफे प्राणायाममें "धारणा" होती है, जिसके बारहगुणा, अर्थात् १७२८ दफे प्राणायाममें "ध्यान-अवस्था" होती है; जिसके बारहगुण अर्थात् २०७३६ दफे प्राणायाममें "समाधि" होती है ॥ ४५ ॥

का आश्रय न करनेसे सर्वत्र समदृष्टि आती है, चित्त भी अनजान भावसे वासुदेवमें अर्पित हो जाता है; इसलिये तब, (वृत्तिविस्मरण अवस्थामें गुरु दुःखसे भी विचलित न होनेके सदृश) विषय-संस्पर्शमें आनेसे भी, चित्तमें उसकी लकीर न पड़नेसे, आत्मतत्वसे विचलित होना नहीं होता। इस कारण योगी--तपस्वी, ज्ञानी और कर्म्मी इन तीनोंसे ही श्रेष्ठ हैं। बाहर जैसे, जो चान्द्रायणादि व्रत तपस्या करते हैं--वह तपस्वी हैं, जो शास्त्र विज्ञानविद् वह ज्ञानी है, और जो अग्निहोत्रादि कर्म्म करते हैं, वह कर्म्मी है; वैसे योगमार्गमें साधक जब प्राणमें मन देकरके षट्चक्रमें प्राणचालन द्वारा प्राणायाम करते हैं, तब वह कर्म्मी है, जब तपोलोक आज्ञामें ('भ्रूवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्') प्राण स्थिर करते हैं, तब वह तपस्वी हैं; और जब वह पुरुष मनमें मन देकरके आत्मतत्व जानते रहते हैं तब ज्ञानी हैं। इन सब अवस्थाओंमें ही मन एकदेशवर्त्ती अर्थात् निर्दिष्ट एकमात्र तत्वका अवलम्बन करके रहता है; किन्तु अब अनासक्त होनेसे "यत्र यत्र मनोयाति तत्रैव ब्रह्म लक्ष्यते' यह अवस्था आती है, तब मन कोई एक निर्दिष्ट तत्त्वको अवलम्बन नहीं करता, ब्रह्माकारावृत्ति लेकरके विश्वव्यापी होता है,--योगी हुवा जाता है। अतएव इस प्रकारकी अवस्था सबसे श्रेष्ठ है।

यही जीवन्मुक्त--साधनासे अतीत--विधि निषेध वर्जित अवस्था है। इसीलिये श्री भगवान्ने "तस्मात् योगी भवार्जुन" कह करके योगी होनेका अर्थात् अनासक्त हो करके कार्य्य कर्म्म करनेका उपदेश दिया है। पहले भी कहा है, "असक्तोह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ॥४६॥

योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

अन्वयः। यः श्रद्धावान् (सन्) मद्‌गतेन (मयि सर्व्वात्मनि वासुदेवे समाहितेन) अन्तरात्मना (अन्तःकरणेन) मां (परमात्मानं) भजते; सः सर्व्वेषां योगिनां अपि युक्ततमः मे मतः ॥ ४७ ॥

अनुवाद। जो साधक श्रद्धावान् होकरके मद्गत चित्त द्वारा हमारा भजन करते हैं, वही पुरुष सब योगीके भीतर युक्ततम है यही हमारा अभिप्राय है ॥ ४७ ॥

व्याख्या। भक्तही भगवानकी आदरवाले चीज है। जो श्रद्धावान् होके अर्थात् ऐकान्तिक आग्रहके साथ योगानुष्ठान द्वारा अन्तरात्माको (चित्तको वा चित्तप्रतिविम्बित विम्बको) परमात्माके भीतर (परम पदमें) प्रवेश कराते हैं, तब उनको उस परमपद बिना और दूसरा कोई अवलम्बन नहीं रहता, इसलिये आपही

आप उसी एक आत्माकाही भजन होता रहता है, वही भक्त है,—वही युक्ततम अर्थात् श्रेष्ठ है; क्योंकि योगियोंके जितने प्रकारकी अवस्था होती है, उसके भीतर यह अवस्था सबसे ऊंचा है,—और वही आत्माके अभिमत अर्थात् आत्माके समान है, आत्मामें और उनमें प्रभेद नहीं रहता, वह आत्मा होजाते हैं ।

इस श्लोकमें श्री भगवान्ने भक्तियोगानुष्ठानसे योगी होनेका ही उपदेश दिया है ॥ ४७ ॥

"आत्मयोगमवोचाद् यो भक्तियोगशिरोमणिम् ।
तं वन्दे परमानन्दं माधवं भक्तसेवधिम् "॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्ज्जुनसंवादे अभ्यासयोगो नाम
षष्ठोऽध्यायः ।

सप्तमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । हे पार्थ ! मयि आसक्तमनाः (सन्) योगं युञ्जन् (मनः समाधानं कुर्वन्) मदाश्रयः (मां एव आश्रयं प्राप्य) (त्वं) यथा (येन प्रकारेण) समग्रं (समस्तं विभूतिवल-शक्त्यैश्वर्य्यादिगुणसम्पन्नं) मां (परमात्मानं) असंशयं ज्ञास्यसि तत् श्रृणु ॥ १ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान् कहते हैं । हे पार्थ ! हममें आसक्तमना होकर योग अभ्यास करते करते मुझको आश्रय पाके जिस प्रकारसे मुझको समग्र भावसे संशय रहित हो कर जान सकोगे उसे श्रवण करो ॥ १ ॥

व्याख्या । "मयि आसक्तमनाः" हो करके (मनको आत्ममन्त्रके साथ एकमात्र आत्मामें—तत् पदमें संयुक्त करके) योग अभ्यास (ब्रह्मनाड़ीमें प्राणचालना) करना ही कर्म्म—साधन मार्गके पहिले क्रम है । इस कर्म्म सम्बन्धमें जो जो कहनेको है उसे पूर्व अध्यायमें कह

कर, श्रीभगवान ६ ष्ठ अध्यायके शेष श्लोकमें देखला दिये हैं कि, कर्म्म भक्तिमिश्रित होनेसे ही कर्म्मका चरम फल जो युक्ततम अवस्था है, उसकी प्राप्ति होती है। क्योंकि "मयि आसक्तमनाः" होकरके योग अभ्यास करते करते ही-'मदाश्रयः'(आपही आप अपनेका आश्रय)होना होता है। अर्थात् साधक अपना हेराया हुआ धन परमात्माको आश्रय रूपसे प्राप्त होते हैं; इसका अर्थ यह है कि, प्राण-क्रिया शान्त हो आनेके पहले जो सर्वशक्तिकारण कूटस्थ पुरुष रूपसे दूरपर लक्ष्य होते थे, अब प्राणक्रियाके स्थिर हो जानेसे वह पुरुष समीपवर्त्ती होते हैं, साधकके चैतन्य-सत्त्वा अवाधतः उन्हीमें जा पड़ता है, वही एकमात्र आश्रय होते हैं। इस प्रकारसे समीपवर्त्ती होनेका नाम उपासना (उप=समीप+आसन=स्थिति) है । इसलिये षष्ठ अध्यायमें कर्म्म शेष होजानेसे ही सप्तम अध्यायमें इस उपासनाका प्रारम्भ हुआ है । उपासना ही साधन मार्गका द्वितीय क्रम है । इस उपासना द्वाराही परमेश्वरके विभूति, बल, शक्ति, ऐश्वर्य्य प्रभृति समग्र गुण निःसंशय रूपसे जाना जाता है,—मिल भी जाता है, अति मिलन करके जैसे लोहेमें अग्निका संक्रम है। जिस प्रकारसे जाना जाता है, वही इस अध्यायमें भगवान उपदेश करते हैं। अर्जुन (साधक) अब उसी उपदेश सुननेका अधि-

कारी हुये हैं, और उसे ग्रहण करनेमें भी समर्थ हैं, वही समझानेके लिये भगवानने उनको पार्थ कह करके सम्बोधन किये हैं अर्थात् अर्जुन जो मातृस्वभाव गुण करके आकर्षण-शक्ति बलसे इच्छानुसार एकभावको त्याग करके दूसरे भाव ग्रहणमें समर्थ हैं, इस इसारामें उतना ही समझा दिया गया है ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अन्वयः । अहं ते (तुभ्यं) इदं सविज्ञानं (विज्ञानसहितं) ज्ञानं अशेषतः वक्ष्यामि; यत् (ज्ञानं) ज्ञात्वा इह भूयः अन्यत् ज्ञातव्यं (पुरुषार्थसाधनं) न अवशिष्यते ॥ २ ॥

अनुवाद । मैं तुमको विज्ञानके साथ यह ज्ञान अशेष करके कहूंगा, जिसके जाननेसे इस जगतमें और कुछ भी जाननेको वाकी न रहेगा २॥

व्याख्या । कर्म्मको अतिक्रम करके उपासनामें प्रवृत्त होनेसे अपरोक्षानुभूतिमें (निजबोध करके) ज्ञान और विज्ञान जाना जाता है; जाननेको और कुछ भी वाकी नहीं रहता । साधक अब उसी उपासनामें प्रवृत्त हैं; इस लिये जाननेको जो कुछ है, सब श्रीमुखके उपदेशसे उनको मालुम होजाता है, कुछ वाकी नहीं रहता ॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

अन्वयः। मनुष्याणां सहस्रेषु (असंख्यानां मनुष्याणां मध्ये) कश्चित् सिद्धये यतति (सिद्ध्यर्थं प्रयत्नं करोति); यततां अपि (प्रयत्नं कुर्वतामपि) सिद्धानां (मध्ये) कश्चित् मां (परमात्मानं) तत्त्वतः (स्वरूपतः) वेत्ति (जानाति) ॥ ३ ॥

अनुवाद। हजारों मनुष्योंके भीतर कदापि कोई एक भाग्यवान सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं;--फिर सिद्धगण प्रयत्नशील होनेसे भी, उन सबके भीतर हो तो कोई एक महापुरुष यथार्थ रूपसे मुझको जान सकते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या। ज्ञान अति दुर्लभ पदार्थ है, भक्ति बिना मिलताही नहीं। मनुष्य बिना दूसरा कोई जीव ज्ञान तो पाता ही नहीं। मनुष्यके भीतर भी बहुत कम, हो तो हजारके भीतर सिद्धि पानेके लिये कोई एकजना चेष्टा करता है, अर्थात् ज्ञान लाभ करनेके लिये प्राणायाम द्वारा प्राणको जय करनेमें यत्नशील होता है। प्राणायाम अभ्यास द्वारा ब्रह्मनाड़ीको अवलम्बन करके आज्ञामें स्थिर होना ही सिद्धि है। यह सिद्धि ही कर्म्मकाण्डका शेष है। कर्म्ममें सिद्धिलाभ करते मात्र तत्क्षणात् ज्ञान-लाभ नहीं होता, उपासना चाहिये। सिद्ध होकरके उपा-

सनामें यत्नशील न होनेसे मायाकी बिपाकमें तो पड़ना ही होवेगा; परन्तु यत्नशील होनेसे ही जो ज्ञान लाभ अर्थात् परमात्मतत्त्व वा विष्णुपद प्राप्त होता है, सो भी नहीं होता; क्योंकि चित्तलय न होने पर्य्यन्त मायादेवी मोहजाल विस्तार करके साधकको मोहित करनेके लिये चेष्टा करती रहती है। उस मोहिनी-शक्तिको अतिक्रम करनेकी उपयुक्त तीव्र वैराग्य-वेग न रहनेसे ही पतन होता है। अतएव बहुत कम मनुष्य ही आत्माको "तत्त्वतः" जान सकते, अर्थात् चौबीस तत्त्वसे पृथक्, तत्त्वातीत निरञ्जन पुरुष जो 'मैं' उसी 'मैं' के (मेरे) स्वरूप अवगत होते हैं,—उनमें मिलकर—'सदसत् तत्परं यत्' वही होते हैं। किन्तु गुरुपदमें—वासुदेवमें आत्मसमर्पण करनेसे, भक्त होनेसे, मायाकी मोहिनी-शक्ति आपही आप लोप हो जाती है,—माया अतिक्रम भी हो जाता है। अर्जुनरूपी साधक आज भक्त तथा सखा हुये हैं ("भक्तोऽसि मे सखा चेति"), कर्म्म अतिक्रम करके उपासनामें प्रवृत्त हुए हैं;—इसलिये श्रीगुरुदेव कूटस्थ चैतन्यरूपसे उनके समीप सन्मुखमें उनका चालक (सारथी) होकरके उपस्थित हुए हैं, शिष्यके सकल संशय दूर करते हैं;—स्वयं अपने मायाको हटाय देते हैं, मायिक आवरणसे और साधकको गतिरोध

करने नहीं देते; उनके अन्तःकरणमें शक्ति संचार करके ज्ञान और विज्ञानको एकही साथ प्रकाश कराय (खिलाय) देते हैं। अहो! धन्य वही, जिनको यह अवस्था मिली है, उन्हींका जीवन सार्थक है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अन्वयः । भूमिः (पृथिवीतन्मात्रं) आपः (रसतन्मात्रं) अनलः (तेजस्तन्मात्रं) वायुः (स्पर्शतन्मात्रं) खं (आकाशतन्मात्रं) मनः (मनसः कारणमहंकारः) बुद्धिः (तत्कारणं महत्तत्वं) अहंकारः (तत्कारणं अविद्यासंयुक्तमव्यक्तं) इति एव च मे प्रकृतिः (ममैश्वरी मायाशक्तिः) अष्टधा भिन्ना (भेदसमागता) ॥ ४ ॥

अनुवाद । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार, इस इस रूपसे हमारी प्रकृति इन अष्टभागमें विभक्ता है ॥४॥

व्याख्या । अव्यक्त वा मूलप्रकृति—पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्रा, दश इन्द्रियां, और चार अन्तःकरण—इन चौबीस तत्त्व करके विभक्ता * । अव्यक्तसे ही इन चौबीसके उत्पत्ति होनेके सबब अव्यक्तको पृथक् तत्त्व गिना नहीं जाता; कोई कोई धर भी लेते हैं। ऐसा होनेसे

* १३श अध्याय षष्ठ श्लोक देखो ।

अव्यक्त पच्चीस तथा पुरुष छब्बीस, नहीं तो पुरुष ही पच्चीस। प्रकृतिको इन चौबीस तत्त्वमें विभाग करनेसे भी, यथार्थतः यह आठ भागमें ही विभक्ता। विकार-क्रियाके द्वारा उसी आठसे और षोड़श तत्त्वके उत्पत्ति होनेसे ही चौबीस तत्त्व होता है। इस श्लोकमें प्रकृतिकी अविकृत आठ अंशके बात ही कहा हुआ है। वह आठ भाग यह है— (१) भूमि—पृथ्वीतत्त्व, इसका स्थान मूलाधार; (२) आप—रसतत्त्व, इसका स्थान स्वाधिष्ठान; (३) अनल—तेजस्तत्त्व, इसका स्थान मणिपुर; (४) वायु—वायुतत्त्व, इसका स्थान अनाहत; (५) खं—आकाशतत्त्व, इसका स्थान विशुद्ध; (६) मन—यह एकादश इन्द्रिय, दश इन्द्रियोंके नेता; इसलिये मन शब्दसे मनका कारण अहङ्कार एवं दश इन्द्रियोंको भी समझाता है; मनके देवता चन्द्रमा और इसका स्थान आज्ञामें कूटस्थके भीतर दिशामें जहां चन्द्रमण्डलका विकाश *; (७) बुद्धि;—बुद्धि शब्दसे बुद्धिकी कारण महत्तत्त्वको भी समझाता है; इसका देवता ब्रह्मा और स्थान आज्ञामें कूटस्थके बाहर दिशामें, जिस दिशामें विवस्वान्‌का विकाश*; (८) अहङ्कार; अहङ्कार शब्दद्वारा अविद्या-संयुक्त अव्यक्तको भी समझाता है; कारण कि, अहङ्कारही सृष्टि वृद्धिका कारण; है इस

---

* चतुर्थ चित्र देखो।

लिये मूलकारण अव्यक्तको भी इस अहङ्कारके अन्तर्गत किया हुआ है; इसका स्थान आज्ञाके ऊपर "दशाङ्गुल" और सहस्रार ।

साधक अब उपासनामें प्रवृत्त, कूटस्थ-चैतन्यके समीपमें स्थित हैं; सबही उनका प्रत्यक्ष होता है, किञ्चित् मात्र भी और दूरमें नहीं, सबही निकटमें है । इस कारण भगवान् लक्ष्य करायके देखाते हैं "इयं मे प्रकृतिरष्टधा भिन्ना"—"यह हमारा प्रकृति आठ भागमें विभक्त" है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥५॥

अन्वयः । हे महाबाहो ! इयं (अष्टधा भिन्ना प्रकृतिः) अपरा (जड़त्वात् निकृष्टा अशुद्धा अनर्थकरी संसाररूपा बन्धनात्मिका) इतः तु अन्यां मे जीवभूतां (जीवस्वरूपां प्राणधारणनिमित्तभूतां) प्रकृतिं परां (प्रकृष्टां) विद्धि, यया (चेतनया क्षेत्रज्ञस्वरूपया प्रकृत्या) इदं जगत् धार्य्यते ॥ ५ ॥

अनुवाद । हे महाबाहो ! यह अपरा है; परन्तु इससे स्वतन्त्र हमारा जो जीवरूपा एक प्रकृति है, जो इस जगत्को धारण करके है, उनको परा कह करके जानना ॥ ५ ॥

व्याख्या । जो प्रकृति आठ अंशमें विभक्ता, सो जड़ है, इसलिये अशुद्धा, अनर्थकरी और संसार-बन्धनका

कारणरूपा, इसलिये निकृष्टा है। परन्तु जो प्रकृति चेतन, जीवस्वरूप, और प्राण धारणका कारण है, जो ब्रह्मरन्ध्रसे मूलाधार पर्य्यन्त ब्रह्मनाड़ीमें विराजते हुए शरीररूप जगत्को धारण करने के लिये जगद्धात्री नाम लिये हैं, वही चैतन्या प्रकृति ही परा (श्रेष्ठा)। असल बात, प्रकृति दो,--परा और अपरा। परा--चैतन्या प्रकृति, अपरा—जड़ प्रकृति, अपरा—क्षेत्र, परा--क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रकी धाता; अतएव परा श्रेष्ठ है, अपरा निकृष्ट है। साधक अब इन सबको निजबोधरूप अपरोक्ष ज्ञानसे अपने शरीरके भीतर प्रत्यक्ष करते हैं। (५म चित्र देखो) ॥ ५ ॥

एतद्‌योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

अन्वयः। सर्वाणि भूतानि (स्थावरजङ्गमात्मकानि) एतद्‌योनीनि (एते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे मत्प्रकृती योनी कारणभूते येषां तानि) इति उपधारय (जानीहि); (अतः) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः (परमकारणं) तथा प्रलयः (संहर्त्ता) ॥ ६ ॥

अनुवाद। इन दोनों प्रकृतिसेही समस्त भूतोंकी उत्पत्ति जानना। (इस कारण) मैं ही समस्त जगत्‌के सृष्टि-संहारका कारण हूं ॥ ६ ॥

व्याख्या। परमेश्वरके जड़ और चैतन्यरूप अपरा तथा परा नामसे यह जो दो शक्ति वा प्रकृति, जो अब

साधक स्वरूप-ज्ञानसे प्रत्यक्ष करते है, इन दोनोंसे ही सर्वभूत उत्पन्न हुए हैं । यह दो प्रकृति दिन रात परस्पर मिलती हुई नाना जीवकी सृष्टि कर रही हैं । जलके ऊपर वेगसे आपतित वायु नाना अंशमें विभक्त होके वारिकी आवरणमें आवृत होकर जैसे राशि राशि छोटे बड़े बुद्‌बुद्‌में परिणत होता है, चैतन्या प्रकृति भी वैसेही जड़के आवरणमें आवृत होकर नाना प्रकारके जीव मूर्त्ति धारण करते हैं । जड़प्रकृति देहरूपमें परिणत होती है, और चैतन्याप्रकृति देहके भीतर प्रवेश करके भोक्तारूपसे स्वकर्म्म द्वारा उसको धारण करते हैं । इसलिये यह दोनों प्रकृति ही सर्व भूतोंके योनि वा कारण है । किन्तु प्रकृतिका कारण परमेश्वर है; इस करके परमेश्वर ही समस्त जगत्‌का कारण है । वही सर्वशक्तिकारण हैं; परमेश्वरसे ही इस जगत्‌की उत्पत्ति कह करके वह जगत्‌के प्रभव है, उनसे ही जगत्‌के लय (विश्राम) होता है इस कारणसे वह जगत्‌के संहर्त्ता हैं ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

अन्वयः । हे धनञ्जय ! मत्तः (परमेश्वरात्) परतरं (श्रेष्ठं) अन्यत् किञ्चित् (जगतः स्थितिसंहारयो स्वतन्त्रं कारणं) न अस्ति ।

इदं (प्रत्यक्ष भूतं) सर्वं (जगत्) मयि (परमेश्वरे) सूत्रे मणिगणा इव प्रोतं (ग्रथितं) ॥ ७ ॥

अनुवाद। हे धनञ्जय! (इस परिदृश्यमान जगत्में) हमसे श्रेष्ठ दूसरा और कोई नहीं है। मालाका सूतमें मणि सरीखे हममें यह समस्त जगत गूंथा (पोया) हुआ है ॥ ७ ॥

व्याख्या। परमेश्वर "एकमेवाद्वितीयम्"--अर्थात् वह एक ही एक, दो नहीं। उनके शक्तिका नाम माया है। उनकी वह माया जब उनमें लीन रहती है अर्थात् विकाशको प्राप्त नहीं होती, तब वह ब्रह्म, और जब मायाका विकाश होता है, तबही वह परमेश्वर बनते हैं। उनकी यह माया त्रिगुणमयी है। यह माया विकाश प्राप्त होते मात्र ही दो रूप धारण करती है-एक रूपसे चैतन्यरूपिणी, और एक रूपसे जड़रूपिणी है। पश्चात् तीन गुणके विकारमें जड़-चैतन्यके घात-प्रतिघात करके उत्थान-स्थिति-पतन यह तीन क्रिया चलते रहते हैं। उन तीन क्रियाओंसे ही जगत्का सृष्टि-स्थिति-लय होता है। जगत्के साथही साथ जीवका भी सृष्टि-स्थिति-लय प्रारम्भ होता है। अब परमेश्वर एक होनेसे भी जगत्के सृष्टिमें उनको दो भावसे देखा जाता है; वस्तुतः ऐसा नहीं, वह तो मायाका भ्रम है। जैसे जल अपना कारण तेज सहयोगसे कठिन, तरळ और वाष्प्य आकार धारण

करके तीन होता है, वस्तुतः तीन—तीन नहीं, एकही एक है, केवल अवस्था भेद मात्र; तैसे माया, निज कारण परमेश्वरके सहयोगसे नाना तत्त्वमें परिणता होती है। पुनः जल जैसे तेजसे उत्पन्न होनेके लिये तेज बिना और कुछ नहीं, केवल तेजका रूपान्तर मात्र; वैसे माया भी ब्रह्म बिना दूसरा कुछ नहीं है। इसीलिये, एक रसतत्त्व में ही कठिन, तरल, वाष्प्य ये तीन रूप सदृश, एक ब्रह्म में ही जगत्‌के नाना रूप प्रतिभात है। इस कारण करके इस श्लोकका "सूत्रे मणिगणा इव" इस उपमा द्वारा सूत और मणिका प्रभेद देखाकर परमेश्वरका द्वैतभाव ग्रहण नहीं होता, माया द्वारा जगत्‌को नेत्रसे बहु दिखाता है कह करके ही, मणि और सूत दोनों पृथक् पदार्थका उल्लेख करके उपमामात्र दिया हुआ है मात्र। इस उपमाकी और भी थोड़ीसी सार्थकता है। परमेश्वर परमात्मा जो "मैं" रूपसे जगत्‌को धारण कर रक्खे हैं, इस उपमा द्वारा वही बात समझाया हुआ है। एक माला गांथने में जैसे एक सूत चाहिये, सूतको मणियोंके भीतर भीतर खींच लेना होता है, पश्चात् जैसे वही सूत जिस्को आश्रय करके ही मणिके दाना सब परस्पर आवद्ध होयके माला नाम धारण करता है, वह सूत भी फिर देखने में न आता अथच वही सूत मणियां

के माला रचनाका एकमात्र आश्रय वा कारण है, उसको छोड़ करके और कोई दूसरा कारण नहीं; जगत् भी ठीक वैसा ही है। जड़ और चैतन्यके संयोगसे एक एक मणिस्वरूप यह जो असंख्य जीव है, इस असंख्य जीव के भीतर एक "मैं" वर्त्तमान। इस "मैं" के अस्तित्त्व अपने अपने सब कोई समझता है, लेकिन कोई देखने नहीं पाता। मणिमय मालाके सूत सरीखे जीवमय जगत्के एक मात्र आश्रय "मैं" हूं। इसको अब साधक प्रत्यक्ष करते हैं; देखते हैं कि "मैं" से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं,—"मैं" सेही जगत्-प्रपञ्चका उत्पत्ति और नाश होता है,—"मैं" ही परम कारण। असल बात "मैं" ही आत्मा; सहस्रारसे मूलाधार पर्य्यन्त सुषुम्नाके भीतर ब्रह्माकाशमें इनके स्वरूप-विकाश; इसलिये यह सर्व तत्त्वोंके भीतर ब्रह्मसूत्र रूपसे वर्त्तमान। इस ब्रह्मसूत्रमें ही तत्त्व समूह उत्पन्न और अवस्थित है ॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

अन्वयः। हे कान्तेय ! अहं अप्सु रसः (रसतन्मात्रस्वरूपया विभूत्या आश्रयत्वेनाप्सु स्थितोऽहमित्यर्थः), शशिसूर्य्ययोः प्रभा अस्मि (चन्द्रे सूर्य्ये च प्रकाशरूपया विभूत्या तदाश्रयत्वेन स्थितोऽहमित्यर्थः), सर्ववेदेषु प्रणवः (वैखरीरूपेषु तन्मूलभूत ओङ्कारोऽस्मि),

खे (आकाशे) शब्दः (शब्दतन्मात्ररूपोऽस्मि), नृषु (पुरुषेषु) पौरुषं (उद्यमोऽस्मि) ॥ ८ ॥

अनुवाद। हे कौन्तेय! जलका रस मैं, चन्द्र सूर्य्यकी प्रभा मैं, सर्व वेदका प्रणव मैं, आकाशका शब्द मैं, और पुरुषका पौरुष मैं हूं ॥८॥

व्याख्या। भगवान् जो सर्व भूतोंके भीतर है, तिनमें जो यह सब गांथा हुआ है, सो कैसे, वही कथा वह ८ से १२ पर्य्यन्त पांच श्लोकमें एक एक करके दिखाते हैं। भगवान् मायामय है। इसलिये वह एक होनेपर भी विचित्र कौशलसे "मैं" सज लेकर बहु भावसे व्यक्त होते हैं। प्रकृति उनसेही उत्पन्न, इसलिये प्राकृतिक पदार्थ उनहींमें गूंथा है; वही एक मात्र आश्रय—सूक्ष्म रूपसे सर्वभूतमें ही वर्त्तमान; चतुर्दश भुवन-समन्वित बृहत् ब्रह्माण्डमें भी जैसे, जीवशरीर-रूप क्षुद्र ब्रह्माण्डमें भी ठीक उसी प्रकारसे ही वह वर्त्तमान है। इसलिये योगी अपने शरीरमें ही विश्व प्रत्यक्ष्य करते हैं; और अब उपासनामें अपरोक्ष ज्ञान लाभ करनेसे उनके शरीर-रूप विश्व-कोषके आश्रय परमेश्वर कहां किस प्रकार विभूतिसे विश्व-को धारण करके हैं, उसे देखते हैं। इन पांच श्लोकोंमें वह सब विभूति सोलह प्रकारसे कहा हुआ है, वही सब एक दो करके कहा जाता है।

(१) "जलका रस मैं हूं"—भगवान् "अहं" वा

"मैं" रूपसे सुषुम्नाके अभ्यन्तरमें सहस्रार-मूलाधार-व्यापी ब्रह्माकाशमें स्वरूप व्यक्त रहके (जैसे एक मृत्तिका ही बालू, कंकर, कोयला, पत्थर, धातु, रत्न, प्रभृति नाना पदार्थके आकारमें परिणत होता है, वैसे), आत्म-माया द्वारा अहंत्व, विस्तार करके विविध तत्त्वमें परिणत होते हैं। इस करके स्वाधिष्ठानमें वह रसतत्त्व है। रसतत्त्वही तरल पदार्थ मात्रोंके आश्रय है। प्रधानके नामसे तज्जातीय समुदयको समझा जाता है कह करके, अप अर्थात् जलके नाम करके कहते हैं कि—मैं रसरूपसे तरलका धाता हूं। भगवान्का अहंत्व चित्शक्ति है।

(२) "शशिसूर्य्यकी प्रभा मैं हूं"।—भगवान्की वह अहंत्वही सहस्रारमें चिज्ज्योतिरूप करके विकाश प्राप्त है; वही ज्योति कूटस्थसे पिङ्गला-मुखमें प्रतिफलित हो करके विवस्वान् वा सूर्य्यरूप धारण करती है, और इड़ा मुखमें प्रतिफलित होकरके चन्द्र वा शशि रूप धारण करती है। यह शशि सूर्य्यही यथाक्रममें इड़ा और पिङ्गला का अधिपति, और यही दोनों ज्योतिष्क-मण्डलका प्रधान कह करके इनही के नामसे समुदय ज्योतिष्क-मण्डलको समझाता है। इन दोनोंकी जो प्रभा वा ज्योति, वह उस चिज्ज्योतिका अंश-विकाश कहके, भगवान् प्रभारूपसे इन सबका धाता है।

(३) "सकल वेदका प्रणव मैं हूं" ।—सहस्रारसे मूलाधार पर्य्यन्त विस्तृत सुषुम्ना ही वेद वा शब्दब्रह्मका स्थान, इसलिये इनको स्वरस्वती (स्वरके आदि) कहा जाता है । यह वेद ऋक्, यजुः, साम, अथर्वन् चार अंशमें विभक्त हैं (२य अः ४५ श्लोककी व्याख्या देखो) । भगवान्‌के अहंत्व यहां प्रणव वा ओङ्काररूपी; इसलिये प्रणव उनका वाचक है । यहां जो कुछ उच्चारित होता है, वह सबही उस प्रणवको आश्रय करके; वह सब प्रणवकाही विलास है । इसलिये भगवान् प्रणवरूपसे वेदका धाता है ।

(४) "आकाशका शब्द मैं हूं" ।—भगवान्‌के अहंत्व, विशुद्ध चक्रमें शब्दरूपी । शब्दतन्मात्रासे ही आकाशकी उत्पत्ति है । इसलिये भगवान् शब्दरूपसे आकाशका धाता है ।

(५) "मनुष्यमें पौरुष मैं हूं" ।—जिस शक्तिद्वारा इन्द्रियगण क्रिया करनेमें समर्थ, और मन-बुद्धि अपने अपने कर्म्ममें प्रवृत्त, वही पौरुष अर्थात् उद्यम, चेष्टा वा कार्य्य-प्रवृत्ति है । भगवानका अहंत्वही मूल कार्य्य-प्रवृत्ति स्वरूप है । जड़ और चैतन्यके संयोगसे जितना नर अर्थात् जीव (क्योंकि श्रेष्ठके नाम ग्रहणसे सब प्राणीको ही समझाता है, कह करके नर अर्थमें जितना प्रकार प्राणी)

सृष्ट होता है, सो सब मूलकार्य्य-प्रवृत्तिका परिणाम है और उसीसे ही परिचालित है । इसलिये भगवान् पौरुष रूपसे नरका धाता है ॥ ८ ॥

पुण्योगन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

अन्वयः । पृथिव्यां च पुण्योगन्धः (गन्धतन्मात्रं पृथिव्याश्रयभूतोऽहमित्यर्थः), विभावसौ (अग्नौ) तेजः च अस्मि; सर्वभूतेषु जीवनं (प्राणधारणमायुरहमित्यर्थः), तपस्विषु तपः च अस्मि ॥ ९ ॥

अनुवाद । मैं पृथिवीका पुण्यगन्ध, अग्निका तेज, सर्वभूतोंका जीवन, तपस्वियोंका तप हूं ॥ ९ ॥

व्याख्या । भगवान्के अहंत्व वा चित्शक्ति—(६) मूलाधारमें गन्धतन्मात्रा रूपसे पृथिवीके धाता । पुण्यगन्ध ही है गन्धतन्मात्रा; यह अविकृता है । विकृत होनेसे ही पञ्चीकरण प्रारम्भ होता है; तब और पुण्यत्व अर्थात् तन्मात्रावस्था नहीं रहता । इसीलिये पुण्यशब्द का प्रयोग हुआ ।

(७) मणिपुरमें तेज वा दीप्तिरूपसे विभावसु अर्थात् अग्निकी धाता ।

(८) अनाहतमें जीवन अर्थात् प्राणवायु रूपसे सर्वभूतोंके धाता ।

(९) और मस्तक-ग्रन्थिसे आज्ञा पर्य्यन्त स्थानमें तपरूप करके तपस्वियोंके धाता हैं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

अन्वयः। हे पार्थ ! मां सर्वभूतानां सनातनं बीजं विद्धि। अहं बुद्धिमतां बुद्धिः, तेजस्विनां तेजः अस्मि ॥ १० ॥

अनुवाद। हे पार्थ ! सर्व भूतोंका सनातन बीज कह करके मुझको जानना, बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज भी मै हूं ॥१०॥

व्याख्या। (१०) भगवत्-अहंत्व कामपुर चक्रमें अनादि कालसे ही बीज स्वरूप करके वर्त्तमान रहनेसे, भगवान् ही सर्व भूतोंके सनातन कारण, अर्थात् उत्पत्ति के विधाता।

(११) वह अहंत्व ही पुनः आज्ञाके ऊपर दिशा बुद्धिक्षेत्रमें बुद्धि स्वरूपसे वर्त्तमान है। जीवमात्रके बुद्धि (कोई काम काज करना, न करना, सो निश्चय करनेवाली शक्ति) वहांसे ही आती है; इसलिये भगवान् बुद्धिमानों की बुद्धि है।

(१२) तेजस्वियोंका तेज भी भगवान् है। जिस शक्ति द्वारा मनमें असीम साहस और विश्वास उत्पन्न होता

है, जो उत्साह और विश्वास कोई किसीसे भी नहीं हिलता, जिससे इच्छामात्र पूरण होता है, उसीको तेज कहते हैं। यह तेजही ब्रह्मबल, अतएव भगवत् शक्ति है। सहस्रारमें इनका विकाश; ओजः शक्ति भी इन्हीं को कहते हैं। यह शक्ति अति पुण्य वा सत्-कर्म्मका फल है; इसलिये सबको नहीं होती। जिन सबको होती है, वही सब तेजस्वी है। तेजस्वीके दर्शनमात्रही लोग मुग्ध होते हैं। भगवान् की चित्शक्ति उसी तेजरूपसे तेजस्वियोंकी धाता है॥ १०॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्म्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

अन्वयः। हे भरतर्षभ! (अहं) बलवतां कामरागविवर्जितं (कामः असन्निकृष्टेषु विषयेषु तृष्णा; रागः प्राप्तेषु विषयेषु रञ्जना, ताभ्यां विवर्जितं) बलं (सामर्थ्यं सत्त्वं) अस्मि। तथा भूतेषु धर्म्माविरुद्धः कामः अस्मि (धर्म्मेण शास्त्रार्थेन अविरुद्धः यः प्राणिषु भूतेषु कामः यथा देहधारणमात्राद्यर्थोऽशनपानादि विषयः सः अस्मि)॥ ११॥

अनुवाद। हे भरतर्षभ! बलवानोंके काम राग विवर्जित जो बल, सो मैं हूं;—और प्राणीमात्रमें धर्म्मका अविरोध जो काम, सो भी मैं हूं॥ ११॥

व्याख्या। (१३) "कामराग-विवर्जित बल मैं

हूं" ।--अप्राप्त विषय पानेके लिये आकांक्षाकी नाम काम, और प्राप्त विषयके ऊपर आसक्तिका नाम राग है। मनुष्य के जो बल काम और राग शून्य, अर्थात् जो बल रहनेसे मनुष्य भोगके विषयके संसर्गमें आकरके भी भोग में अनुरक्त वा आग्रहान्वित नहीं होते, अनासक्त भाव से स्थिर रह सक्ते, शरीर और मनमें चंचलता तथा उद्वेगका उत्थान होने नहीं देता, वही बल आत्मबल वा भगवत्सत्त्वा है। इसलिये बलवान्के वैसा बल वह है। अतएव भगवान् बल रूपसे बलवानोंका धाता है।

(१४) "धर्म्माविरुद्ध काम मैं" ।--संकल्प-विचार-अनुभूते-चिन्ता, अन्तःकरणके ये चार वृत्ति जिस अवस्था में पूर्ण विकशित होकरके आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष करता है, उसी अवस्थाका नाम धर्म्म है। जो काम इस धर्म्मके अवि-रोधि, अर्थात् जिस काम-भोगसे इस धर्म्मसे विच्युत होने नहीं होता, अर्थात् जिस प्रकार आकांक्षा और विषय भोग करनेसे उस अवस्थासे भ्रष्ट हो करके आत्महारा होने नहीं होता, वही धर्म्मके अविरोधि काम है; वही काम भगवत्सत्त्वा है। "युक्ताहारविहारस्य" इत्यादि श्लोक मतामें सात्त्विक आहार विहार, और गार्हस्थ्य-ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानसे यथाशास्त्र धर्म्मपत्नीमें उपगत होना प्रभृति ही धर्म्माविरुद्ध काम है। भगवान्के अर्हत्व वा

चित्‌शक्ति उस धर्म्मगत कामस्वरूपसेही विश्वके धाता है ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

अन्वयः । सात्त्विकाः (शमदमादयः) राजसाः (हर्षदर्पादयः) तामसाः च (शोकमोहादयः) ये च ये च एव भावाः (मनसः विकाराः), तान् मत्तः एव (जायमानान्) इति विद्धि; तु (किन्तु) अहं तेषु न (वर्त्ते, जीववत् तदधीनः न भवामि इत्यर्थः), ते मयि (ते तु मदधीनाः सन्तः मयि वर्त्तन्ते इत्यर्थः) ॥ १२ ॥

अनुवाद । सात्त्विक, राजस और तामस—ये जो तीन प्रकारके भाव हैं, उन सबको हमसे ही उत्पन्न जानना; किन्तु मैं इन सबके भीतर नहीं हूं, वे सब हम में हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या । (१५) "गुणमय भावत्रयका कारण मैं हूं"।—कर्म्म संस्कार वश करके जीवके मनमें नाना प्रकारके भावका उदय होता है; वह सब भाव कोई कोई सात्त्विक, कोई कोई राजसिक, और कोई कोई तामसिक है। शम, दम प्रभृति सात्त्विक भाव; हर्ष, दर्प प्रभृति राजस भाव; और शोक, मोह प्रभृति तामस भाव है। आत्मभावसेही ये सब भाव उत्पन्न हैं, अर्थात् आत्मसम्पर्क करके प्रकृति क्रियाशीला होनेसे प्राकृतिक विकार जो कुछ है उन सबका आश्रय वा कारण आत्मा है। इसीलिये भगवान् कारण रूपसे सब भावोंका धाता है।

(१६) मैं उन सबमें नहीं, वे सब हममें हैं"। परमात्मा कारण होनेसे भी निर्लिप्त; प्राकृतिक विकार उनको स्पर्श नहीं कर सकते। अतएव प्राकृतिक भाव आत्माको आश्रय करके रहनेसे आत्माके आधीन हैं; परन्तु आत्मा प्राकृतिक भावको आश्रय करके नहीं है, इसलिये आत्मा आधीन नहीं है। आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव सम्पन्न है। आत्मा परम कारण है, आत्माका कारण कोई नहीं। इसलिये सबका धाता आत्मा है॥ १२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

अन्वयः। इदं सर्वं जगत् एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः मोहितं (अविवेकतामापादितं सत्) एभ्यः परं अव्ययं मां न अभिजानाति॥ १३॥

अनुवाद। यह समस्त जगत् इसी त्रिगुणमय भावसे मोहित हो करके, इन सबसे श्रेष्ठ जो मैं अव्यय हूं; मुझको जान नहीं सक्ते॥१३॥

व्याख्या। जगत्के समस्त जीवही सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इस त्रिगुणमय भावसे मोहित हैं, अर्थात् तीनों गुणकी मोहिनी शक्तिसे आकृष्ट हो करके, गुणकी क्रियाही नित्य, पवित्र और उत्तम है इस प्रकार ज्ञानसे अविवेकके मारे उसीमें मोहित हो (डूब) जाता

हैं; अतएव उन सबके अन्तरिन्द्रिय गुणोंके आवरणमें आवृत होनेसे, वह लोग सर्वदर्शी नहीं हो सकते। इसलिये जो वस्तु परात्पर और अव्यय तथा इस त्रिगुणमय जगत्के आश्रय है, उस गुणातीत वस्तुको अर्थात् "मैं" को नहीं जान सकते ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

अन्वयः । मम एषा गुणमयी दैवी (देवस्य ममेश्वरस्य विष्णोः स्वभावभूता) माया दुरत्यया (दुस्तरा) हि (प्रसिद्धमेतत्); (तथापि) ये माम् एव प्रपद्यन्ते (भजन्ति) ते एतां (सर्वभूतचित्तमोहिनीं) मायां तरन्ति (अतिक्रामन्ति, संसार बन्धनात् मुक्तः सन् मां अभिजानन्तीति भावः) ॥ १४ ॥

अनुवाद। हमारा यह गुणमयी दैवी माया दुस्तरा है; परन्तु जो एक मात्र मुझको भजते रहते हैं, वह लोग इस मायाको अतिक्रम कर सकते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या। माया, सत्त्व रजः तमः इन तीन गुणोंकी समष्टि कह करके गुणमयी, और ईश्वरके स्वभावभूता कह करके दैवी है। इस मायाको अतिक्रम करना बड़े दूरकी बात है, अर्थात् अतिक्रम करनेकी चेष्टा करके इसको अतिक्रम किया नहीं जा सकता, इसलिये दुस्तरा है;

क्योंकि, माया पदार्थ ऐसाही है कि, मायाबन्धन मोचनकी चेष्टा जितनाही किया जाय, उसमें तितनाही लिपटाय पड़ने होता है, (मनही मनमें जैसे आकाशके डोरीकी गांठ बांधकर पुनः खोलनेकी चेष्टा विफल होती है-तैसे), परित्राण पाया जाता ही नहीं । यह प्रसिद्ध है। चण्डी (दुर्गा) प्रभृति शक्तिग्रन्थके उपदेश यही है । किन्तु सब चेष्टाको परित्याग करके, मायाका आक्रमण दमन करनेवाला चेष्टामात्र भी न करके, माया जो करे करने दो, उस विषयमें मोहित होना तो दूरकी बात है उसके ऊपर भ्रूक्षेप भी न करके सर्वान्तःकरणसे आत्मसेवामें रत होना होता है, अर्थात् आत्ममन्त्रको अवलम्बन करके, एकमात्र उसीका अनुसरण करना होता है; प्रकृति (माया) दमन की चेष्टा करनाही नहीं । ऐसा होनेसे, आपही आप माया निस्तेज होनेसे, अनजान भावमें माया भी अतिक्रम हो जाती है, गुणातीत अव्यय आत्माको भी जाना जाता है, और पुनः मायाके बन्धनमें भी नहीं पड़ने होता ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

अन्वयः । दुष्कृतिनः (दुष्कर्म्मकारिणः) मूढ़ाः (विवेकशून्याः) नराधमाः मायया अपहृतज्ञानाः (निरस्तशास्त्राचार्य्योपदेशजनित-

ज्ञाना:) आसुरं भावं (दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव चेत्यादि रूपं भावं) आश्रिताः (प्राप्ताः सन्तः) मां न प्रपद्यन्ते (भजन्ति) ॥१५॥

अनुवाद। बुरा काम करनेवाला विवेक विहीन नराधम लोग मायासे हत ज्ञान और आसुरिक भावग्रस्त हो करके "मुझ" को नहीं भजते ॥ १५ ॥

व्याख्या। जो लोग बुरा काम करनेवाला है, अर्थात् जो लोग आत्मकर्मको त्याग करके शास्त्र-निषिद्ध बुरा काम सब करता है, वहलोग दुष्कृत् है। वह सब दुष्कर्मी सत् असत्का विचार नहीं कर सकते इसलिये मूढ़ अर्थात् विवेकज्ञान-विहीन हैं। इसलिये वह सब निकृष्ट नर हैं। मायाके चक्रमें पड़कर उन लोगोंका शास्त्राचार्योपदेश-जात ज्ञान भी लोप हो जाता है, अर्थात् वह लोग शास्त्र-आलोचनाका ज्ञान और गुरूपदेशका ज्ञान धारणामें नहीं रख सकते; अतएव वे लोग दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोधादि आसुरिक भाव लेकरके सदाकाल प्राकृतिक तत्त्वमें मोहित हो रहते हैं, आत्मतत्त्वको नहीं पकड़ सकते। [सुकृतगणही "मामेव" भजना करके माया पार हो सकते हैं, दुष्कृतगण नहीं हो सकते। आगेका श्लोक देखो।] ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

अन्वयः । हे भरतर्षभ अर्जुन ! आर्त्तः (रोगाद्यभिभूतः) जिज्ञासुः (आत्मज्ञानेच्छु) अर्थार्थी (विभूतिकामः) ज्ञानी च (आत्मवित् च) इति चतुर्विधाः (चतुः प्रकाराः) सुकृतिनः (सुकर्मकारिणः) जनाः मां भजन्ते ॥ १६ ॥

अनुवाद । हे भरतर्षभ अर्जुन! आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, इन चार प्रकारके सुकृतिशाली लोग मुझको भजते रहते हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या । सुकृतिशाली लोगही परमात्म-सेवा करते हैं। पुनः यह सब भी सुकृतिके तारतम्य अनुसार चार प्रकारके हैं। वही चार प्रकार यथा,—(१) “आर्त्त” । जो रोग, शोक, भय, अथवा जन्म मरण रूप संसार-बन्धनमें कातर, वही भक्त आर्त्त हैं । यह पुरुष केवल इन सब सांसारिक ज्वाला यन्त्रणा से निष्कृति पानेके लियेही भगवत् सेवामें प्रवृत्त होते हैं । (२) “जिज्ञासु” । जो तत्त्वबोध लाभकी इच्छा करते हैं, अर्थात् जड़ क्या है ? चैतन्य क्या है ? सृष्टिका कारण क्या है ? कैसे सृष्टि होती है ? ज्ञान क्या ? विज्ञान क्या है ? मैं कौन हूं ? मेरा कल्याण क्या ? चरम गति क्या है ? इत्यादि तर्क (भेदाभेद) जाननेके लिये भगवत्सेवामें प्रवृत्त होते हैं, वह पुरुष जिज्ञासु हैं ।

यह प्रथमसे श्रेष्ठ है; क्योंकि, यह पुरुष कातर नहीं है। (३) "अर्थार्थी"। जिससे इच्छा साधन किया जाता है, वही अर्थ; इसलिये 'अर्थ' अर्थमें शक्ति वा विभूति। विभूति भगवत्सत्त्वा है। इस विभूति प्राप्तिके लिये जो साधक भगवत्सेवामें प्रवृत्त होते हैं, वही अर्थार्थी हैं। अर्थार्थी जिज्ञासुसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि, अर्थ वा विभूति को भगवत्सत्त्वा जानकर उसको अपने आयत्तमें लाने चाहते हैं। (४) "ज्ञानी"। जो आत्मा क्या है? उसे जान चुके, विशेष जाननेके लिये जिनको कुछ भी बाकी नहीं, जो आत्मानन्दमें परितृप्त हो गये, केवल अपनेमें आप रहते हैं; वह ज्ञानी हैं। ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि, ज्ञानीमें आकांक्षा कुछ भी नहीं है (आगेका श्लोक देखो) ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

अन्वयः। तेषां (मध्ये) ज्ञानी नित्ययुक्तः (सदा मन्निष्ठः) एकभक्तिः (एकस्मिन् मय्येव भक्तियुक्तः) (अतएव) विशिष्यते (विशिष्टः इत्यर्थः), अहं हि ज्ञानिनः अत्यर्थं (अत्यन्तं) प्रियः, सः च मम प्रियः ॥ १७ ॥

अनुवाद। उन सबके भीतर ज्ञानी नित्ययुक्त और एकभक्ति कह करके श्रेष्ठ है; मैं ज्ञानीका अत्यन्त प्रिय हूं, ज्ञानी भी मेरे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

व्याख्या । जिनके अन्तःकरणमें मैंही सर्व भूतात्म-भूतात्मा "मैं" हूं इस प्रकार ज्ञानका उदय (स्थिर निश्चय) हो चुका, वही ज्ञानी हैं । ज्ञानीकी दृष्टिमें सब ही ब्रह्म है । इसलिये उनमें देहाभिमान भी नहीं, चित्त-विक्षेप भी नहीं है । इसकारण करके वह नित्ययुक्त अर्थात् नित्य वस्तुमें युक्त है । और उनके भक्ति तथा अन्तः-करणके स्थिति एक बिना दो में नहीं होता; कारण यह है कि, एक आत्माही उनका अवलम्बन, आत्मा बिना किसीकी पृथक सत्त्वा उनके दृष्टिगोचर नहीं होती । इसलिये वह " एकभक्ति " है । दूसरे दूसरे सुकृत्गण एकभक्ति नहीं हैं; क्योंकि, उन सबकी भक्ति 'दो' में— एक है उद्देश्य में, अर्थात् आकांक्षित वस्तुमें, और एक है उद्देश्य-साधन करनेवाला वा आकांक्षाका पूरण करनेवाला भगवानमें । ज्ञानीका भगवान्‌ही सब है, भगवान् बिना और कोई उद्देश्य नहीं हैं । इसीलिये कहा हुआ है कि मैं * (अक्षर ब्रह्म) अत्यन्त करके

* असल बात यह है कि "मैं" वा आत्मा सबका ही प्रिय है । सब कोई ही अपनेको सुखी करनेके लिये " मैं मैं "—" मेरे मेरे " करके पागल होरहे हैं । साधारण लोग अज्ञानान्धकारसे अपना "मैं"का स्वरूप न समझ करके विषय-सुखमें लपटे रहते हैं, परन्तु ज्ञानी, ज्ञानालोकमें "मैं" का स्वरूप दर्शन करके आत्मानन्द-सुखसे विषयानन्द सुखमें

ज्ञानीका प्रिय हूं। पुनः ज्ञानीका हृदय सर्वदा निर्मल, वासना-मलका छायामात्र भी ज्ञानीमें नहीं है, इसकारण वहां सदाकालही आत्माका स्वरूप-विकाश है; निमेषके लिये भी भगवान् वहांसे अन्तर्हित नहीं होता; ज्ञानीका हृदयही भगवत्मन्दिर है। इसकारण कहा हुआ है कि— वह भी मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

अन्वयः। एते (आर्त्तादयः) सर्वे एव उदाराः (महान्तः), तु (किन्तु) ज्ञानी आत्मा एव मे मतम् (निश्चयः), हि (यस्मात्) सः (ज्ञानी) युक्तात्मा (मदेकचित्तः सन्) अनुत्तमां (सर्वोत्कृष्टां) गतिं मां एव (परं ब्रह्म) आस्थितः (आस्थितवान्) ॥ १८ ॥

अनुवाद। ये सब लोग उदार हैं; परन्तु हमारे समझमें ज्ञानी आत्माका ही स्वरूप हैं, क्योंकि, ज्ञानी युक्तात्मा हो करके अनुत्तम गति पाकर मुझको ही आश्रय करके रहते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या। उदार = उत् + आ + ऋ + अ। ऋ+ अ = 'र' का अर्थमें गमन करनेवाला। आ—विपरीत

नहीं उतरते। विषयसुख भोगसे मन निस्तेज होता है, आत्म-सुख भोगसे मन सतेज रहता है। इसलिये ज्ञानी अत्यन्त करके आत्माको ही प्रिय मानते हैं ॥ १७ ॥

अर्थ बोधक है । इसलिये आ + र 'आर' अर्थमें आगमन करनेवाला । उत् अर्थमें ऊर्ध्व=मायाके ऊपर । उत् + आर = 'उदार' अर्थमें ऊर्ध्वमें आगमन करनेवाला; अर्थात् जो साधक प्राकृतिक आवरणको भेद करके ऊपर में आते हैं अथवा आ सकते हैं, जिनके उस कार्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती, वही पुरुष उदार हैं । अब आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी--ये सबके सब उदार (महान् हैं) क्योंकि, ये सब ही प्राकृतिक तत्त्वको परित्याग करके एकमात्र परमात्मतत्त्वका अवलम्बन करते हैं. अतएव १४वें श्लोक अनुसार क्रिया करनेसे इन सबको मायाकी आवरणमें नहीं पड़ने होता । यह सबके सब भगवानके प्रिय हैं । परन्तु ज्ञानीके लिये थोड़ा बहुत विशेषत्त्व है । आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी ये तीनों "एकभक्ति" नहीं हैं, कारण कि इन सब (प्रत्येक) का ही भगवान्‌को अवलम्बन करके एक न एक उद्देश्य पूरण कराय लेनेका अभिलाष है; किन्तु ज्ञानीके कोई अभिलाषही नहीं है, परं वा परमात्माही ज्ञानीका सब कुछ है । परमात्मा परंब्रह्मही सर्वोत्तम गति है; उसके ऊपर और कोई गति नहीं है । ज्ञानी युक्तचित्त होकर इस सर्वोत्तम गतिको आश्रय करके रहते हैं, दूसरा और कुछ ज्ञानीके हृदयमें स्थान नहीं पाता । इसकारण ज्ञानी आत्मसदृश वा आत्माका स्वरूप है ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अन्वयः । ज्ञानवान् बहूनां जन्मनां अन्ते (समाप्तौ) सर्वं वासुदेवः इति (सर्वात्मदृष्ट्या) मां (सर्वात्मानं) प्रपद्यते; सः महात्मा (अपरिच्छिन्नदृष्टिः) सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अनुवाद । ज्ञानवान् बहुत जन्मके बाद "सबही वासुदेव" इस प्रकारसे मुझको प्राप्त होते हैं, इस प्रकारका महात्मा अति दुर्लभ है ॥ १९ ॥

व्याख्या । आत्मा ही सत् है, और आत्मा बिना सब कुछ असत् है—इस ध्रुव सत्यको समझ करके जो पुरुष एकमात्र परमात्म-सेवामें रत होते हैं, वही पुरुष ज्ञानवान् हैं; और जो पुरुष उस सत्यको अपरोक्षानुभूतिसे प्रत्यक्ष करके आत्मस्वरुप लाभ करते हैं, वही पुरुष ज्ञानी हैं । अतएव आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी यह सबही ज्ञानवान् हैं । ज्ञानवान्से ज्ञानी होना होय तो बहुत जन्म * अतिवाहित

* बहुत जन्म अर्थात् ६ ष्ठ अः ४५वें श्लोककी व्याख्यामें अनेक जन्मका अर्थ देखो। उसको छोड़ करके प्राकृतिक आवरण भेद करना भी एक एक जन्म है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय यह पांच कोषही आवरण है । अन्नमय कोषही स्थूल शरीर; प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषही सूक्ष्म शरीर; और आनन्दमय कोषही कारण शरीर है। इस सूक्ष्म शरीरका एक एक आवरण भेद करके तत्तदूर्ध्व आवरणमें प्रवेश करना भी साधकका एक एक जन्म है ॥ १९ ॥

करने पड़ता है, ज्ञानी होनाही इस श्लोककी "मां प्रपद्यते" अवस्था है; अर्थात् "मुझको प्राप्त होना" वा आत्मस्वरूप-प्राप्त अवस्था है । इस अवस्था प्राप्त होनेसे, सबही वासुदेव है—इस प्रकारका अभेद ज्ञानसे सर्वत्र आत्मदृष्टि स्थापन होता है । इस प्रकारके आत्मभाव-प्राप्त पुरुषही महात्मा हैं, महात्मा अति दुर्लभ है। अर्थात् तीसरे श्लोकके "कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" इस वाक्यानुसार बहुत कम लोगही, सहस्रों सिद्धके भीतर कहीं एक आध शरीर—'मैं' को प्राप्त होते हैं । इसकारण करके उक्त अवस्थाप्राप्त महात्मा पुरुष दुर्लभ हैं ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अन्वयः । तैः तैः (धनजनयशोकीर्त्तिप्रभृतिविषयैः नानाविधैः) कामैः (कामनाभिः) हृतज्ञानाः (अपहृतविवेकविज्ञानाः जनाः) तं तं नियमं (देवताराधने प्रसिद्धो यो यो उपवासादिलक्षणः नियमः) आस्थाय (आश्रित्य) स्वया (स्वकीयया) प्रकृत्या (स्वभावेन, जन्मान्तरार्जितसंस्कारविशेषेण इत्यर्थः) नियताः (वशीकृताः सन्तः) अन्यदेवताः (सर्वात्मनः बासुदेवान् व्यतीरिक्तान् अन्यान् देवताः) प्रपद्यन्ते (भजन्ति) ॥ २० ॥

अनुवाद । लोग (धन, जन, यश, कीर्त्ति प्रभृति विषयोंके) नाना

प्रकारके कामनासे हतज्ञान होकर, अपने स्वभावके वशमें बाध्य हो करके उस उस कामनाके अनुरूप नियम अवलम्बनपूर्वक दूसरे देवतोंका आराधन करते हैं ॥ २० ॥

व्याख्या। सब कोई ज्ञानवान् नहीं हो सकता। कारण यह है कि सहस्रों पुरुषके भीतर कोई एक पुरुष सत्पथमें खड़ा होता है, सत्पथमें खड़ा होकरके भी सहस्रोंके भीतर कोई एक जन अभेद ज्ञान लाभ करता है, और दूसरे दूसरे लोग भेदज्ञानसे मोहित होकर धन, जन, यश, कीर्त्ति विषयके नाना प्रकार कामनाके फांसमें पड़कर हतज्ञान होजाता है। अतएव उसी उसी कामना पूरणके लिये चेष्टा करके कर्म्म-संस्कारकी सृष्टि करता है। पूर्व पूर्व जन्मकी सञ्चित यह कर्म्म-संस्कारही उन सबकी अपनी प्रकृति है। मनुष्य अपने अपने इस प्रकार प्रकृतिसे ही वशीभूत हो करके अवश भावसे कार्यमें नियोजित होते हैं; परन्तु भेदज्ञानसे आत्महारा हो जानेके लिये मूल परमात्मतत्त्वको पकड़ नहीं सकते, और उन उन कामना साधनोपयोगी उपवासादि रूप जो जो नियम प्रवृत्ति शास्त्रमें लिखा हुआ है, उन सब नियमका आश्रय करके उन उन कामनाओंकी अधिष्ठात्री दूसरे दूसरे देवतोंके आराधनमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहं ॥२१॥

अन्वयः । यः यः (कामी) भक्तः (सन्) श्रद्धया यां यां तनुं (देवतारूपां मदीयामेव मूर्त्तिं) अर्च्चितुं इच्छति (प्रवृत्तो भवति), तस्य तस्य (कामिनः) तां एव (तत्तन्मूर्त्तिविषयां एव) अचलां श्रद्धां अहं विदधामि (स्थिरीकरोमि) ॥ २१ ॥

अनुवाद । जो जो (कामी) भक्त हो करके श्रद्धा सहकार जिस जिस देवमूर्त्तिको अर्च्चना करनेके लिये प्रवृत्त होता है, मैं उन सबको उसी मूर्त्ति विषयमें ही अचला श्रद्धा देता रहता हूं ॥ २१ ॥

व्याख्या । परमात्मा देव, मनुष्य प्रभृति सब जीवोंके अभ्यन्तर (भीतर) में "मैं" रूपसे वर्त्तमान है । इसलिये, जिस किसी देवताकाही अर्च्चना किया जाय, एक "मैं" काही अर्च्चना करना होता है । परन्तु भेद-ज्ञानके रहनेसे कामनाशील लोग "मैं" को एक भावसे ग्रहण न करके भिन्न भावसे ग्रहण करते हैं; इसीलिये अन्तर्यामी भगवान् (परमात्मा) भी उन सबको उसी भिन्न भावके अनुरूप श्रद्धा प्रदान करता है, उन सबका भेदभाव मिटाकर अभेद भाव नहीं देता । कारण यह है कि, जो जिस भावसे उसको भजता है, वह भी उसको उसी भावसे तुष्ट करता है— "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं" ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥२२॥

अन्वयः । सः तया (मद्विहितया) श्रद्धया युक्तः (सन्) तस्य देवतायाः (तन्वाः) आराधनं ईंहते (करोति), ततः (तदनन्तरं) मया एव (परमेश्वरेण सर्वज्ञेन) विहितान् (निर्मितान्) तान् कामान् (ईप्सितान्) हि (निश्चितं) लभते ॥ २२ ॥

अनुवाद । वह उसी प्रकार श्रद्धासे युक्त हो करके उसी देवमूर्त्तिकी आराधना करता रहता है, तदनन्तर हमसेही विहित उनही कामनायें लाभ करता है ॥ २२ ॥

व्याख्या । भगवान् कामी लोगोंको उनके भेद-ज्ञानका अनुरूप जो श्रद्धा प्रदान करता है वह लोग उसी श्रद्धासे युक्त हो करके उसी देवमूर्त्तिकी आराधनामें प्रवृत्त होता है। आराधनाके पश्चात् अभीष्ट (ईप्सित) फल लाभ करता है सही; परन्तु वह फल परमेश्वरही विहित करता है अर्थात् परमेश्वरही (उन सबके भीतर जो सबके "मैं" वही "मैं") उन सबका उसी उसी कामनाका पूरण करता है; क्योंकि परमेश्वर ही एकमात्र कर्मफलप्रदाता है । कामीगण हतज्ञान होके नहीं समझ सकते कि, एक प्रभु परमेश्वरही उन लोगोंको काम्यफल प्रदान करता है; समझनेके अभाव-फलसे वह लोग सोचते हैं कि, उन लोगोंका आराधित

देवताही उन सबका अभीष्ट पूरण करता है । इसी भेद ज्ञानके लिये उन सबका वह प्राप्त फल चिरस्थायी नहीं होता (आगेका श्लोक देखो) ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

अन्वयः । तु (किन्तु) अल्पमेधसां (अल्पप्रज्ञानां परिच्छिन्न-दृष्टीनां) तेषां (कामिनां) तत्फलं (मया दत्तमपि) अन्तवत् (विनाशि) भवति, देवयजः (देवताराधनकारिणः) देवान् यान्ति (उत्पत्तिनाशशीलं देवभावं प्राप्नुवन्ति), मद्भक्ताः मां अपि (अनाद्य-नन्तं परमानन्दं एव) यान्ति (प्राप्नुवन्ति) । ["एवं समानेऽप्या-यासे मामेव न प्रतिपद्यन्ते अनन्तफलाय, अहो खलु कष्टं वर्त्तते इत्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान्" इति शंकरः] ॥ २३ ॥

अनुवाद । परन्तु उन अल्पमेधासम्पन्न लोगोंको वह फल अन्तवत् (अचिरस्थायी) होता है; देवयाजीयां देवतागणको प्राप्त होता है, मद्भक्त लोग मुझको ही प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

व्याख्या । एकमात्र "मैं" ही अनादि अनन्त हूं । यह विश्व प्रपंच "मैं" सेही उत्पन्न, कालवशसे पुनः "मै" मेंही लय प्राप्त होता है । इसलिये देवगण विश्वके सर्व-श्रेष्ठ जीव होनेसे भी अचिरस्थायी हैं; कालवश करके सबकोही लय प्राप्त होना होता है । परन्तु जो "मैं,"

परमात्मा वा परमेश्वर है, उनका और लय नहीं है; वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव-सम्पन्न है। उनको छोड़ करके भेद ज्ञानमें दूसरे देवताकी आराधना करनेसे जो फल मिलता है, सो परमेश्वर कर्त्तृक विहित होनेसे भी अन्त-वतोंकी आराधनाके लिये अन्तवत् हो जाता है। और भी, देवतोंकी आराधना करनेसे देवलोकमें देव भावकी ही प्राप्ति होती है; इसलिये भोगक्षय पश्चात् पुनराय मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु परमेश्वरकी आराधना करनेसे अनादि अनन्त परमानन्द स्वरूप परमेश्वरको ही मिल जाता है, और लौटके मर्त्यलोकमें नहीं आने पड़ता। देवतोंकी आराधना करनेमें जिस प्रकार आयास (कष्ट) भोग करना होता है, परमेश्वरकी आराधनामें भी उसी प्रकार आयास है, अधिक नहीं। परन्तु देवयाजी गण समान आयास करके भी आत्मगति लाभ करने सकते नहीं, अनन्त फल नहीं पाते; अल्पबुद्धि हेतु समझनेके फेरमें वह लोग कामना करके देवतोंकी आराधनामें रत होते हैं। (परश्लोक देखो) ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अन्वयः । अबुद्धयः (मन्दमतयः अविवेकिनः) मम अव्ययं अनुत्तमं परं भावं (परमात्मस्वरूपं) अजानन्तः (सन्तः) अव्यक्तं (अप्रकाशं

प्रपञ्चातीतं) मां व्यक्तिं आपन्नं (मनुष्य मत्स्य कूर्म्मादिरूपेण प्रकाशं गतं) मन्यन्ते ॥ २४ ॥

अनुवाद। बुद्धिहीन मनुष्य गण हमारा अव्यय अनुत्तम और परम भावको न जानके, अव्यक्त जो मैं हूं उसे व्यक्ति भाव-प्राप्त समझते हैं। ॥ २४ ॥

व्याख्या। समान प्रयाससेही जब अनन्त फल मिलता है, तब सब कोई जो दूसरे देवताको त्याग करके क्यों परमात्म सेवामें नहीं रत होते उसका कारण इस श्लोकमें कहा हुआ है। जिनकी बुद्धि नहीं है, अर्थात् जो लोग कर्म्म द्वारा कर्म्मको अतिक्रम करके आज्ञा चक्रके बुद्धितत्त्वमें पहुंचकर विवेक ज्ञान लाभ नहीं कर सकते, उनकी अन्तर्दृष्टि आवृतही रहती है; इस कारण परमेश्वर परमात्माका जो अव्यय (नित्य), अनुत्तम (सर्वोत्कृष्ट) और परं (मायातीत) स्वरूप है, उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। प्रत्यक्ष न करनेसे यह होता है, कि परमात्माको अव्यक्त होने पर भी, व्यक्तिभावापन्न करके मनमें धारण कर लेते हैं। अर्थात् परमात्मा निराकार ब्रह्म होकरके भी जगत्की रक्षाके लिये लीला छल करके जो विविध मूर्त्ति धारण करता है, उन सब मूर्त्तियों को साधारण जीवके न्याय समझते हैं। इसलिये उसको एकभावमें लेकर आदर-सत्कार न करके, विविध

मूर्त्तिमें देवतोंकी आराधना करते हैं; वह सब देवता भी जो उसी प्रभुके स्वरूप हैं उसे वह लोग अभेद भाव से ग्रहण नहीं कर सकते । अतएव आपातरमणीय भोगमें मोहित होकरके अन्तवत् फल प्राप्त होते हैं, अनन्त फल नहीं पाते ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥

अन्वयः । अहं सर्वस्य (लोकस्य) प्रकाशः न (भवामीत्यर्थः), यतः योगमायासमावृतः (योगः गुणानां युक्तिर्घटनं सैव माया, तया समावृतः संछन्नः) (अतएव) मूढः अयं लोकः अजं अव्ययं मां न अभिजानाति ॥ २५ ॥

अनुवाद । मैं सबके पास प्रकाशित नहीं हूं; कारण कि यह जगत्, योगमाया द्वारा सम्यक् आवृत होकर मूढ़ता प्राप्त होनेसे, अज और अव्यय मुझको जान नहीं सकते ॥ २५ ॥

व्याख्या । योगमायाका आवरण रहनेसे ही बुद्धिहीन मनुष्य "मैं" के परम भावको नहीं जान सकते । योगमाया अर्थमें वासना है । भगवानका जिस अचिन्त्य प्रज्ञाविलास द्वारा अघटन-घटन होता है, उसीकोही योगमाया कहते हैं । यह भागवतीय अनिच्छाकी इच्छा

वा लालसारूपा * महाशक्ति है, जो जीव भावके अनुभव में नहीं आता । यह शक्ति त्रिगुणके संयोगसे ही उत्पन्न हुई है इसीलिये इसका नाम योगमाया है । यह इच्छाहीं जगत्को छाय (घेर) रक्खी है । यह सूर्य्य और पृथिवीकी मध्यस्थ मेघावरणके सदृश परमात्मा और जीवके मध्यभागमें वर्त्तमान रह करके परमात्माको जीव-चक्षुसे छिपाय रक्खा है। लोग इस इच्छा शक्तिके वश सेही यह करूंगा, वह करूंगा, यह मेरा है, वह मेरा है; इत्याकार वासना-विलाससे मुग्ध—मोहित—ज्ञानहारा होता है; इसीलिये आवरण भेद करके अज और अव्यय परमात्माका स्वरूप जान नहीं सकते । परन्तु जो साधक भक्तिबलसे योगमायाका आवरण भेद कर सकते हैं अर्थात् संसार-वासना त्याग कर सकते हैं, उनके आंखके झांपनेवाला परदा खुल जाती है, साधक को भी सब देखनेमें आता है और परमेश्वर भी उसके पास प्रकाश होता है। इसीलिये भगवान्ने कहा है कि— "मैं सबके पास प्रकाशित नहीं हूं" अर्थात् भगवान्, भक्त और ज्ञानीके पास सदा प्रकाशमान है, अभक्त और अज्ञानी के पासही अप्रकाश है ॥ २५ ॥

---

* या सा माहेश्वरी शक्तिर्ज्ञानरूपातिलालसा ।
व्योमसंज्ञा पराकाष्ठा सैषा हैमवती सती ॥ २९ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन ॥२६॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! अहं समतीतानि (विनष्टानि), वर्त्तमानानि च, भविष्याणि च (भावीनि च) भूतानि (त्रिकालवर्त्तीनि स्थावर-जङ्गमानि सर्वाणि) वेद (जानामि), तु (किन्तु) मां कश्चन (कोऽपि) न वेद (वेत्ति) ॥ २६ ॥

अनुवाद । हे अर्जुन ! भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालके भूत समूहको मैं जानता हूं, परन्तु मुझको (वह लोग) कोई नहीं जानता ॥२६॥

व्याख्या । "मैं" अर्थात् परमात्मा वा परमेश्वर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव सम्पन्न है । वह वाणि-विलासमें मायायुक्त होनेसे भी सदाही मायातीत है; क्योंकि, परमेश्वर मायाके आवरणसे मूढ़ताको प्राप्त नहीं होते । वह परिणाम-शून्य और निरहंकार है; इस कारणसे, जगत्में भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान काल भेद रहनेपर भी, उसके पास सबही वर्त्तमान है;—वह सर्वज्ञ है । जीवगण अहंकार-युक्त होनेसे अल्पज्ञ है; इसलिये उसको जान नहीं सकते । जैसे आकाशमें मेघका सञ्चार होकर सूर्य्य छिप जानेसे लोकचक्षु उस मेघावरण भेद करके सूर्य्यको प्रकाश नहीं कर सक्ता अर्थात् सूर्य्य को देखने नहीं पाता, परन्तु मेघ जितनाही घना होय,

सूर्य्यकी ज्योति उसको भेद करके जगत्को प्रकाश करती है; अल्पज्ञ जीव और सर्व्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें भी ठीक वैसाही प्रभेद है । जो साधक साधनाके धन ज्ञान-भक्तिद्वारा अहंकारका नाश कर सकते हैं, उनके चक्षु की ज्योतिसे आवरण शक्तिका नाश होता है, वा हीन प्रभा हो जाता है, इस कारण करके परमेश्वर साधकके पास प्रकाश होता है ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

अन्वयः । हे भारत परन्तप ! सर्गे (स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां) सर्वभूतानि इच्छाद्वेषसमुत्थेन (इच्छाद्वेषोद्भवेन) द्वन्द्वमोहेन (शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वनिमित्तो मोहो विवेकभ्रंशः तेन) सम्मोहं यान्ति (अहमेव सुखीदुःखीचेति गाढ़तरमाभिनिवेशं प्राप्नुवन्ति) ॥२७॥

अनुवाद । हे भारत—परन्तप ! स्थूल देह उत्पन्न होनेसेही प्राणियां इच्छा-द्वेष-जनित द्वन्द्व मोहसे मोह प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

व्याख्या । जीव कब योगमायाके वशमें पड़के अज्ञानान्ध होता है ? इस प्रकारका प्रश्न उठाकर उसका उत्तर स्वरूप इस श्लोकमें कहा हुआ है कि, जीव जन्म लेते मात्रही योगमायाके आधीन होता है । जिस समय जीवका सर्ग अर्थात् स्थूल शरीर धारण वा जन्म

होता है, तत्क्षणात् उसके मनमें इच्छा-द्वेषका सञ्चार होता है अर्थात् शारीरिक स्वच्छन्दताके प्रति इच्छा और अस्वच्छन्दताके प्रति द्वेष आता है। इस इच्छा द्वेषके आने सेही द्वन्द्वमोहकी उत्पत्ति होती है । अर्थात् जीव स्वच्छन्दतामें सुखबोध करके स्वस्थ (चुपचाप) रहता है, और अस्वच्छन्दतामें दुःखबोध करके रोता रहता है। इस प्रकारसे सुख-दुःख प्रभृति मोहमय दोनों भावके वशीभूत होकरके अपने ("मैं") को भूल जाता है, संसार के तरङ्गमें मोहित होके रहता है ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्म्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ॥२८॥

अन्वयः । तु (किन्तु) येषां पुण्यकर्म्मणां (पुण्याचरणशीलानां) जनानां पापं (मनसः चाञ्चल्यं) अन्तगतं (नष्टं), ते द्वन्द्वमोहनिर्म्मुक्ताः (द्वन्द्वनिमित्तेन मोहेन निर्म्मुक्ताः) दृढ़व्रताः (एकान्तिनः सन्तः) मां भजन्ते ॥ २८ ॥

अनुवाद । परन्तु जो सब पुण्यकर्म्मा लोगोंका पाप विनष्ट हुआ है, वह लोग द्वन्द्व मोहसे मुक्त और दृढ़व्रत होकरके मुझको भजते रहते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या । जिस कर्म्मसे शरीर और मन पवित्र होता है, उसीको पुण्यकर्म कहा जाता है । सात्त्विक

आहार, सात्त्विक व्यवहार, सात्त्विक क्रिया,—इन सभोंसे शरीर पवित्र होता है, अर्थात् शरीरमें मत्तता तथा ग्लानि विहीन निर्मल ईश्वरीय तेजका सञ्चार होता है; और प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन सब साधनासे मन पवित्र होता है; इस कारण शरीर और मनको पवित्र करनेवाला यह सबही पुण्यकर्म्म है; और इन सब पुण्यकर्म जो लोग करते हैं, वह लोग पुण्य-कर्मा है। पुण्यकर्म्मा होनेसेही पाप नष्ट होता है। शरीर और मनके मैलका नाम पाप है। रजस्तमःप्रधान रस शरीर का मैल है; यह मैल आनेसे कूटस्थमें आत्मज्योति-प्रतिफलन-शक्तिका ह्रास होता है, तब और अन्तर्दृष्टिसे कुछ भी लक्ष्य नहीं होता। विषयासक्ति और अनुदारता मनके मैल हैं; मनका मैलही विषम अनिष्टकरी है, क्योंकि, इस मैलके रहनेसे साधन पथमें अग्रसर नहीं हुआ जाता। पाप नष्ट होनेसेही द्वन्द्वमोहसे मुक्ति पाई जाती है, अर्थात् वैषयिक सुख दुःखमें और अभिभूत नहीं होने पड़ता। अतएव तब और कोई विघ्न नहीं रहता, दृढ़व्रत भी हुआ जाता है। इसी अवस्थापन्न लोगही परमात्माका भजन करते हैं अर्थात् अभेदभावसे परमात्माका साक्षात्-कार लाभ करते हैं॥ २८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम्॥२९॥

अन्वयः। ये (जनाः) जरामरणमोक्षाय (जरामरणयोर्निरासनार्थं) मां आश्रित्य (मत्समाहितचित्ताः सन्तः) यतन्ति, ते तत् (परं) ब्रह्म विदुः, कृत्स्नं (समस्तं) अध्यात्मं (विदुः), अखिलं (सरहस्यं) कर्म्म च (विदुः)॥ २९॥

अनुवाद। जो लोग जरामरण निवारण करनेके लिये मुझको आश्रय करके प्रयत्न करते हैं, वह लोग तद् ब्रह्म, समस्त अध्यात्म, और अखिल कर्म्मको जानते हैं॥ २९॥

व्याख्या। जरामरणही जीवकी आर्त्ति है। शरीरके जीर्णताका नाम जरा, और जिस प्रकारसे देह त्याग होनेसे पुनराय देह धारण करना पड़ता है, उसीका नाम मरण है। जरामरण निवारण करनेके लिये जो जो साधक भगवत्सेवामें नियुक्त होते हैं, वही लोग आर्त्त भक्त हैं। आर्त्त भक्तही क्रमोन्नतिद्वारा जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी होते हैं, इसलिये तद्ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म्मको सम्पूर्णरूप करके जान सकते हैं।

ब्रह्म एक अद्वितीय होने पर भी, जगत् रचनाव्यापारके हिसाबसे उसके तीन अवस्थायें हैं। वह तीन अवस्था यथा,—कार्य्यब्रह्म, शब्दब्रह्म और परब्रह्म है।

कार्य्यब्रह्म—जीवजगत है; इसीको 'क्षर' कहते हैं । शब्दब्रह्म—परमेश्वर है; यह जीव जगत्‌के आश्रय, कूटस्थ 'अक्षर' पुरुष है; इसलिये यह सगुण है । और जो परंब्रह्म है, वह क्षर-अक्षरसे अतीत उत्तम पुरुष है; उत्तम अर्थमें उत्+तम अर्थात् तमो वा मायाके ऊर्ध्वमें—मायातीत वा गुणातीत; अतएव परंब्रह्म निर्गुण है । निर्गुणकी उपासना नहीं होता । सगुणकी उपासना द्वारा निर्गुणमें परिणत होने होता है । इसलिये भगवान्‌ने कहा है, कि मुझको अर्थात् सगुण अक्षर ब्रह्म परमात्मा को आश्रय करनेसे ही जीव सर्वज्ञ हो करके अध्यात्म और कर्म्म आदि सब कुछ जान सकता है, तथा निर्गुण ब्रह्मको भी प्राप्त होता है * ॥ २९ ॥

---

* अक्षर ब्रह्मही आश्रयणीय है,—क्षर ब्रह्म और परंब्रह्म आश्रयणीय नहीं है, उसे उदाहरण द्वारा समझाया जाता है । जैसे जलका कठिन, तरल और वाष्प्य यह तीन अवस्थायें हैं, इसके भीतर तरल अवस्थाही जीवका जीवन है, उसीसे जीविका सम्पादन होती है; कठिन अवस्था जीविकाका विघ्न उत्पादन करता है; और वाष्प्य अवस्था आयत्तातीत है; परन्तु विद्वान विद्या-बलसे तरलसे ही इच्छामात्र कठिन और वाष्प्य अवस्था उत्पादन कर सकते हैं;—ठीक इसी प्रकार कार्य्यब्रह्म जीवके बन्धन, और परं ब्रह्म साध्यातीत है; शब्द ब्रह्मही अभीष्टप्रद है । यह मन्त्ररूपी है । इसको एकान्त मन करके अवलम्बन करनेसही यह मनोहर चिद्‌घन रूपसे प्रत्यक्ष होता है; तब सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होकरके इच्छानुसार सर्वव्यापी तथा परं ब्रह्ममें लीन हुआ जाता है ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अन्वयः। ये साधिभूताधिदैवं साधियज्ञं च मां विदुः (जानन्ति), ते प्रयाणकाले अपि च (मरणकाले अपि) युक्तचेतसः (समाहितचित्ताः सन्तः) मां विदुः (जानन्ति) ॥ ३० ॥

अनुवाद। जो लोग मुझको अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ जान सकते हैं, वह लोग मरण कालमें भी युक्तचित्त होकरके मुझको जान सकते हैं ॥ ३० ॥

व्याख्या। मृत्युकाल विषम काल है। जप, तप जो कुछ है इसी समयके लिये हैं। मृत्युके अव्यवहित पूर्वमें जीवात्मा सूक्ष्म शरीरको आश्रय करता है; तब जन्म-जन्मान्तरीण कर्म्मसंस्कार समूह इकट्ठे उपस्थित होकरके उनको आक्रमण करता है, मृत्यु भी बल पूर्वक उसके स्थूल देहके साथ संस्रव छिन्न करता रहता है। इस अवस्थामें जीव यन्त्रणाके मारे अस्थिर और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होयके आत्मविस्मृत हो जाता है। इसलिये देहत्यागके साथ पुनर्जन्मका वीज स्वरूप किसी एक संस्कारको अवलम्बन करके चला जाता है। किन्तु जो साधक साधनफलसे परमात्माका आश्रय ले सकें, उनको तद्ब्रह्म, अध्यात्म,

कर्म्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ * सब मालूम होनेसे, मृत्युकालमें मृत्यु यन्त्रणासे अभिभूत नहीं होते; वह पुरुष मृत्युके पूर्वलक्षण जानते मात्रही पञ्चतत्त्वोंके ऊपर कूट भेद करके सहस्रार ब्रह्मपद्में उठ जाते हैं। उस अवस्थामें मृत्युयन्त्रणा और पूर्वसंस्कार उनको छू नहीं सकता। अतएव वह साधक विचलित वा आत्म-विस्मृत न होकरके युक्तचित्तही हो रहते हैं, परमात्माको प्राप्त होते हैं—और उसीमें मिल जाते है ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्ज्जुन सम्वादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम
सप्तमोऽध्यायः ।

---

* यह सब क्या है, सो अष्टम अध्यायके ३।४ श्लोकमें भगवद्वाक्यसेही प्रकाश है, देखिये ॥ ३० ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे पुरुषोत्तम ! तत् ब्रह्म किं ? अध्यात्मं किं ? कर्म्म किं ? अधिभूतं च किं प्रोक्तं ? किं च अधिदैवं उच्यते ? हे मधुसूदन ! अत्र देहे अधियज्ञः कः, कथं (केन रूपेण) अस्मिन् (देहे स्थितः) ? प्रयाणकाले (मरणकाले) च नियतात्मभिः कथं (केन उपायेन) (त्वं) ज्ञेयः असि ? ॥ १ ॥ २ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं। हे पुरुषोत्तम ! तद्ब्रह्म क्या ? अध्यात्म क्या है ? और कर्म्म भी क्या है ? अधिभूत किसको कहते हैं ? और अधिदैव भी किसको कहते हैं ?, और देहके भीतर अधियज्ञ कौन है—किस प्रकार से यहां रहते हैं ? हे मधुसूदन ! संयतचित्त योगीगण मरण कालमें तुम को किस उपायसे जान सकते हैं ? ॥ १ ॥ २ ॥

व्याख्या । श्रीभगवान्‌ने पूर्व अध्यायके शेष दो श्लोकों में जो सात पदार्थोंकी कथा कह चुके, तत्त्वजिज्ञासु

साधक (अर्जुन) उन सबको समझ करके अपने आयत्तमें करलेनेके लिये आत्म-जिज्ञासामें सात प्रश्न करते हैं— (१) हे गुरुदेव ! यह जो आपने ब्रह्मकी कथा कहते हैं, वह ब्रह्म क्या है ? (२) अध्यात्म क्या है ? (३) कर्म्म क्या है ? (४) अधिभूत किसको कहते हैं ? (५) अधिदैव किसको कहते हैं ? (६) इस देहमें अधियज्ञ कौन है ? किस प्रकारसे वह यहां रहता है ? (७) प्रयाणकालमें (मृत्युकालमें देह छोड़ कर चले जानेके समय) किस उपाय करके आपको जाना जाता है ? यह सब प्रश्न करनेके समय साधक भगवान्को पुरुषोत्तम और मधुसूदन (दो) भावसे प्रत्यक्ष करते हैं—अर्थात् साधक अब क्षरब्रह्म (पञ्चतत्त्व) से सम्बन्धविहीन हो करके कूटस्थमें अक्षर ब्रह्मके समीपवर्त्ती होकर देखते हैं कि, कूटस्थचैतन्य श्रीभगवान्ही अक्षरातीत निरञ्जन पुरुष—पुरुषोत्तम हैं, पुनः यह पुरुषही पञ्चतत्त्वमें विषय-भोगाकांक्षा रूप मधु (मिठास) का नाशक—मधुसूदन है । इसलिये इन दो श्लोकोंमें साधक भगवान् को पुरुषोत्तम और मधुसूदन नामसे सम्बोधन किये हैं । और भी, विपदकालमें भगवान् मधुसूदन रूपसे ही आश्रय होते हैं; जीवका प्रयाणकाल (मृत्युसमय) से बढ़कर विपद और नहीं है । अतएव अर्जुन प्रयाणकालकी

कथा कहते समय मधुसूदन नाम कहे हैं। [पुरुषोत्तम की व्याख्या १५ श अः १८ श्लोक और मधुसूदन की व्याख्या १म अः ३४ श्लोकमें देखो] ॥ १ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः ॥३ ।
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥ ४ ॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । (यत्) परमं अक्षरं (तत्) ब्रह्म, स्वभावः अध्यात्मं उच्यते, भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्म्मं संज्ञितः हे देहभृतां वर ! क्षरः भावः अधिभूतं, पुरुषः अधिदैवतं, अत्र देहे अहं एव अधियज्ञः च (उच्यते) ॥ ३ ॥ ४ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान् कहते हैं—परम जो अक्षर वही ब्रह्म है; स्वभावही अध्यात्म नामसे उक्त होता है; जो विसर्ग (यज्ञ) भूतभावका उद्भव करनेवाला, उसीका नाम कर्म्म है। हे देहीश्रेष्ठ ! जिसका क्षय है, उसको अधिभूत कहते हैं। पुरुषही अधिदैवत है, और इस देहके भीतर "मैं" ही अधियज्ञ हूं ॥ ३ ॥ ४ ॥

व्याख्या । "भगवान्"—"ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना"—जिसमें इन छःओंके एकाधारमें समावेश है,

वही भगवान् है। यह जो सात प्रश्न उठा है, इसका मीमांसा उस श्रीमुख बिना और किसी मुखसे बाहर नहीं हो सकता; इसलिये मुक्तात्मा निजबोधरूप भगवान् साधकका प्रश्न मीमांसा कर देता है;—अर्थात् साधक कूटस्थ श्रीबिन्दुमें चित्तसंयम करके स्वयं अपने मनही मनमें अपने प्रश्नका उत्तर करता है—

(१) "अक्षरं परमं ब्रह्म"—जिसमें परिणाम नहीं, अदल बदल नहीं, चिरनित्यत्व विद्यमान है; वही "ब्रह्म" है।

"अक्षर"—जिसमें परिणमनता नहीं—"कूटस्थोऽक्षर उच्यते"—कूटमें पड़ करके जो एक होकरके भी नाना आकार धारण करता है। कूटका अर्थ और विवरण ४र्थ अः ८म श्लोकमें देखो । कूट अर्थमें सोनारके निहाईको भी समझाता है, जिसके ऊपर फेंककर सोना कूटा (पिटा) जाता है । उस कूटके ऊपर पड़ करके जैसे एक सोना नाना प्रकारका रूप धारण करता है, नाना नाम पाता है, फिर गलाय देनेसे नाम और रूप उड़ जाकर वह जैसेका तैसाही रहता है, उसी प्रकार एक चैतन्यघन "कूटमें" (प्रकृति-पटमें) प्रतिबिम्बित होकरके नाना रूप धारण करता है, प्रातःकाल यवोंके बालियोंपर ओसकणमें सूर्य्य-किरण पड़ करके जैसे नाना रंग दिखाई पड़ता है, परन्तु ओसकण एक ही

एक रहता है और वह जैसे सूर्य्यगतिकी महिमासे होता है, तैसे प्रकृतिकी कार्य्यकारिणी शक्तिसे एक ही "चैतन्य" विश्वसाजको सज लिये हैं; इसीको 'कूटस्थ' कहते हैं। जैसे बाहरका सोनार बाहरके कूटपर सोना कूटता है; भीतरमें भी वैसा एक स्थान है (जिसको कूट कहते हैं), जहां एक दृष्टिमें देख रहा हूं, आंखका पलक नहीं गिरता, तथापि देखता हूं, एकही पदार्थ एकही जगहसे इतना आकार धारण कर लेता है कि, किस प्रकारसे, कहांसे, क्या करके, क्या होता है, और कौन करता है, वह समझमें नहीं आता। वही कूट और कूटस्थ है,--उसी को 'तत्' कहते हैं। यह 'तत्' कैसा है? यथा— "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्"। इस "तद्ब्रह्म" को अन्धा बनकर देखना होता है। जो लोग देखते हैं, वह लोग आकाशमें एक विस्तारित (देखता हुआ) आंख सरीखे देखते हैं। जैसे आंखके चारों दिशा सुफेद और बीचमें काला है, वैसे इस तत्पदमें भी (चन्द्र, सूर्य्य, अग्निके प्रकाश बिना) कैसा एक अनिर्वचनीय प्रकाशको चारो दिशामें लेकर ठीक बीचमें बिजली घेरा हुआ गाढ़ा बैगनी चिक्कन काला गोलक प्रत्यक्ष होता है, उसीको विष्णु का परमपद कहते हैं। इस परमपदका और भी विवरण

यह है "कोदण्डद्वयमध्यस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा । कदम्ब-गोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते"—अर्थात् गुण लगा हुआ दो धनुषके मुख मिलाकर देखनेसे जिस प्रकार (अण्डा सरीखे) आकार होता है, उसीके बीचमें स्थित कदमके फूल सदृश एक गोलक है; जो लोग ज्ञानचक्षु द्वारा यह गोलक देखे हैं, वह लोग ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं । इसीलिये इसका नाम विष्णुका परम पद है । वह जो डिम्बाकारके भीतर कदम्बाकार गोलक देख पड़ता है, वह दोनोंही सीमाशून्य और एक है । मस्तकके ऊपरमें जैसे आकाश सीमाबद्ध गोलक दिखाई पड़ता है, अथच वह चक्षुके दृष्टिमें थोड़ासा होनेसे भी महान् असीम है, यह भी तैसे सीमाशून्य अवधि रहित महान् है; इसलिये इसको 'तद्ब्रह्म' कहते हैं ।

(२) "स्वभाव"—स्व शब्दमें अपना और भाव शब्द में क्या, वह नहीं कहा जा सकता । किन्तु कहनेसे जो लोग कहते हैं वह इस प्रकारका है,—जगत्में जीव स्त्री और पुरुष हैं । इस स्त्री स्त्रीमें वा पुरुष पुरुषमें भाव नहीं होता; क्योंकि, जबतक आकांक्षा रहेगी, तबतक इस शान्तिमय अवस्थाका प्रकाश नहीं होता । जब स्त्री पुरुष को और पुरुष स्त्रीको प्राप्त होकर दोनोंकी आकांक्षा निवृत्ति कर चुके, दो मिलकर एक हो चुके—यह जो

उद्वेगशून्य विश्राम-अवस्था वा चरितार्थ-अवस्था है, यही 'भाव' कहलाता है । गुरुवाक्यमें अटल विश्वासकी आसक्ति पर्य्यन्त भी जिस अवस्थामें लय हो जाती है, किसी वृत्तिका भी क्षयोदय नहीं रहता, ऐसे अकम्पन अवस्था को भावावस्था कहते हैं ।

इतने दिन जो बुद्धि मनके किंकरी सदृश एकही शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका निश्चयता बार बार करा कर नवीन आकारमें उन सबको मनके पास लेजाकर मन-भुलानेवाला (मनमतवारिया) मूर्त्ति कर देती थी, आज वही बुद्धि बहिर्मुखी वृत्ति छोड़ कर अपने प्राणके प्राण 'अहं' को आश्रय कर चुकी, इसीलिये स्वभावका और एक नाम "अध्यात्म" है । अधि=प्रधान; जिसका प्राधान्य है, वही प्रधान है । इस जगद्-व्यापारका भला बुरा जो निश्चय करे, वही प्रधान है । जगत् अनित्य और आत्मस्वरूपही नित्य है—इसे निश्चय करती है इस करकेही 'अधि' अर्थमें निश्चयात्मिका बुद्धि, और 'आत्म' अर्थमें 'मैं" है; अर्थात् बुद्धिकी आत्ममुखी दृष्टिका नाम अध्यात्म है । मेरी बुद्धि 'मैं' हो जानेका नाम अध्यात्म है ।

(३) "भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्म संज्ञितः"—कालका भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीन अवस्थाके

भीतर भूत अति स्थूल, वर्त्तमान अति सूक्ष्म, और भविष्यत् अपरिज्ञात है। परन्तु इन तीन अवस्थाओंमें ही कालका परिणमनता समझा जाता है। जो जन्म नहीं लिया है, वह किस प्रकारके आकारसे, कैसे और किस स्थानमें है, कुछ मालूम नहीं होता; मालूम करनेका कोई उपाय भी नहीं है, परन्तु जैसे जन्म लिया, तत्क्षणमें ही वर्त्तमान हुआ। पुनः जन्मके साथही साथ कला, काष्ठा, क्षण, जैसे होते गये, वैसेही वह भूतके गर्भमें पड़कर भूत हो जाने लगा। इसलिये कहते थे कि कालका जो अवस्था अपरिज्ञात है, वही भविष्यत् है; कालका जो अति सूक्ष्म वा व्यक्त अवस्था है वही वर्त्तमान है; कालका जो अति स्थूल अवस्था है, वही भूत है। यह जो कर्म्मयुक्त काल का गर्भस्थ प्रलीन अवस्था, लय अवस्था वा परिणाम अवस्था है, इस अवस्थाको भूत कहते हैं, अर्थात् जो जन्मता है, जन्म लेकरके थोड़े दिन रहता है, पुनः जन्म लेनेके पहले जैसे अपरिज्ञात था, तैसे परिणामके क्रपासे अपरिज्ञात हो जाता है। यह भूत सत्त्व रज और तमोगुणका विकार लेकर पांच आकार धारण किया है; उन सबका नाम—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी है। इन सभोंका एक एक गुण भी है। आकाशमें शब्द गुण; वायुमें शब्द और स्पर्श गुण, तेजमें शब्द, स्पर्श

और रूप गुण; जलमें शब्द स्पर्श, रूप और रस गुण; पृथिवीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण है। इस दृश्यमान जगत्में जो तुम देखोगे, वह सबही इन भूतोंके अन्तर्गत हैं । जब यह सब कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ था, तबही अपरिणामी अखण्ड ब्रह्म कहा जाता था। इसी सर्व-समष्टिमें जब व्यष्टि भावका प्रारम्भ होता है, तबही दो विन्दु होते हैं,—पहला अपरिणामी और दूसरा परिणामी । एक ही ब्रह्मके सत् और असत् रूपसे इन दोनों विन्दुमें परिणत होनाही विसर्ग (वि = विशेष + सर्ग = सृष्टि) है। इसी विसर्ग द्वारा अपरिणामीसे परिणामीका विस्तार प्रारम्भ होता है। यह प्रारम्भही भूतभाव है; और इस प्रारम्भकी वृद्धिका नाम उद्भव है। यह उद्भव संसारमुखमें सृष्टि वृद्धि करता है, और ब्रह्ममुखमें सृष्टिका लय करता है; अर्थात् संसारमुखमें उन दोनों विन्दुसे बहुत्त्वकी सृष्टि होती है, और ब्रह्ममुखमें वह दो विन्दु मिलकर एक हो जाता है। यह सृष्टि और लय करनेवाला विसर्गही कर्म्म * है।

(४) 'अधिभूत'—वह जो कालत्रयसे खण्डित, पट्

---

* ४र्थ अः १७ वां श्लोककी व्याख्यामें कर्म्मका व्याख्या दिया हुआ है, देखो।

विकार-सम्पन्न * मर्त्य, नाशमान वा क्षरभाव है, बुद्धि जब आत्माको परित्याग करके इन सबको लेकर खेलती रहती है, तबही अधिभूत-अवस्था कहा जाता है।

(५) 'पुरुष'—पुरमें जो सोया हुआ है, उसीको पुरुष कहते हैं । पुर कहते हैं घरको । चारो दिशामें दिवाल देकर आकाशको घेर लेनेसे भीतरमें जो जगह रहता है, उसीको पुर कहते हैं । इस देहरूप पुरके भीतर, चैतन्यरूपसे जो सो रहे हैं, वही पुरुष हैं, अर्थात् चित्त-पटमें प्रतिविम्बित जो "चिच्छाया" या अभिव्यङ्ग चैतन्य है, वही पुरुष है--वही चित्तरूप पुरमें सो (व्याप्त होकर) रहा है।

बुद्धि जब बहिर्मुखी वृत्ति परित्याग करके इस पुरुषको लेकर खेलती रहे, आलोचना करती रहे, और समझती रहे, तब "अधिदैव" अवस्था कहता है । अधि अर्थमें बुद्धि; यह पहले कह चुके हैं। अब "दैव" कहते हैं। द + एव = दैव; 'द' शब्दमें स्थितिका स्थान अर्थात् योनि है, और 'एव' शब्दमें यह है। बुद्धि जब "हमारी स्थितिका स्थान यह है"—कह करके उस ईश्वर स्वरूप

---

* अस्ति, जायते वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षट्विकाराः ।

में मिल जानेके लिये चेष्टा करें वा मिल जाय, उस अवस्थाको ही "अधिदैव" कहते हैं।

(३) "अधियज्ञ"—अधि=बुद्धि, यज्ञ=ग्रहण और त्याग है। यह जो बहिराकाशमें अमृतमय वायु विचरता है, वह वायु जब शरीरके भीतर प्रवेश करता है, तब शरीरके गरमीसे जलकर विष होजाता है। विष होतेही उसकी बहिर्मुखी गतिका प्रारम्भ होता है, और धीरे धीरे वह विष बाहर निकल जाता है। यह जो अमृतमय वायुके आकर्षण और विषका विकर्षण है आपही आप होता रहता है। नासारन्ध्रके भीतर गल-गह्वरके नीचे पहुंचनेसे चावल कूटनेवाले ढेंकी सरीखे एक यन्त्र है, और दो नली हैं—एक वायु नली और दूसरी खाद्य नली। खाद्य पानीय आदि जो सब द्रव्य मुख द्वारा शरीरके भीतर दिया जाता है, उसे वह ढेंकी-यन्त्र वायु नलीको बन्द करके जल और खाद्य जानेवाले नलमें प्रेरण करता है वा चलाय देता है; और जब केवल निश्वास प्रश्वास प्रवाहित होता है, तब वह ढेंकी यन्त्र जल और खाद्य नलका मुख बन्द करके वायुके नलमें वायुको चला देता है। वह वायु बरोबर नीचे मेरुदण्ड-संलग्न सुषुम्नाके ठीक मुखमें पहुंच कर सुषुम्नाके भीतर प्रवेश कर मूलाधार भेद करके, बज्राके

भीतर प्रवेश करके स्वाधिष्ठान भेद करके, पश्चात् चित्राके भीतर प्रवेश करके, मणिपुर भेद करके, क्रम अनुसार अनाहत-विशुद्ध-आज्ञा भेद करके सहस्रारके मूल त्रिकोण में पहुंचता है; पुनः ठीक उसी रास्तामें घुम आकर बहिराकाशमें विश्राम लेता है। यह जो वायुकी गति— ग्रहण और त्याग है, (गुरूपदिष्ट क्रियाके द्वारा बुद्धि जब यह आकर्षण और विकर्षण यथारीति सम्पादन करती है, उसी अवस्थाको 'अधियज्ञ' कहते हैं। इस शरीरके भीतर "अहं" ही यह अधियज्ञ है।

'अहं' शब्दमें आत्मा है; और 'अत्र'--(अं ब्रह्मणे स्थूल शरीराय, रजो गुणाय, संकल्प-विकल्पात्मक-मनो-धर्म्मरूप-सृष्टिक्रियाय) अर्थात् 'अ' शब्दके अर्थमें सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माको समझाता है; स्थूल शरीर जाग्रता-वस्था, रजोगुण, संकल्प-विकल्पात्मक मन न होनेसे ब्रह्मा बना जाता नहीं; अतएव यह सब वर्त्तमान रहते हैं। और 'त्र'-- (तृ=तारणे) अर्थात् उन अवस्थाओंका त्राण वा विश्राम जहां होता है। (गुरूपदिष्ट क्रिया करनेवाले साधक लोग इस अवस्थाको जानते हैं और इस जगहको भी जानते हैं)। अतएव हे देह-भृतांवर=देहीश्रेष्ठ! जो कुछ तुम प्रश्न किये थे, वह सब तुम्हारे इस देहके भीतर है, देखलो, प्रत्यक्षका प्रमाण आवश्यक नहीं होता ॥ ३ ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अन्वयः । अन्तकाले च मां एव स्मरन् कलेवरं मुक्त्वा यः प्रयाति, सः मद्भावं याति, अत्र संशयः न अस्ति ॥ ५ ॥

अनुवाद । अन्तकालमें जो मुझको स्मरण करते करते देह त्याग करे वह हमारे भावकोही प्राप्त होता है; इसमें संशय नहीं ॥ ५ ॥

व्याख्या । [९-१० श्लोकही अर्जुनके सप्तम प्रश्नका उत्तर है; अर्थात् जिस उपायसे भगवान् प्रयाण-कालमें ज्ञेय होते हैं वह उन दो श्लोकमेंही कहा हुआ है । परन्तु वह उपाय अभ्यास-सापेक्ष है । इसलिये भगवानने ५-८ श्लोकमें मृत्युकालके मानसिक अवस्थाका फल कह करके अभ्यास-प्रकरण कहा है । ५म श्लोकमें कहा है, अन्तकालमें मुझको स्मरण करके शरीर त्याग करनेसे, मद्भावको प्राप्त होता है; इसका कारण स्वरूप ६ष्ठ श्लोकमें कहा है—जिस हेतु शरीर त्याग करनेके समय जो भाव स्मरण होता है, वही भाव प्राप्त होता है । इसीलिये ७म श्लोकमें सर्वकालमें 'मामनुस्मरन' और युद्ध (प्राणायामादि) करनेको कहा है । तत्पश्चात् ८म श्लोकमें कहा है—इस प्रकारके अभ्यासयोगसे चित्त जब अनन्यगामी होता है, तब ही परमपुरुष प्राप्त होता

है। यह सब बचन पूर्व सूचना स्वरूप कह करके, पश्चात् ९म-१०म श्लोकमें भगवान् प्रयाणकालमें कौन उपाय और किस प्रकारसे ज्ञेय होते हैं वह कहा। इन श्लोंकोंको क्रमान्वय पढ़नेसे सब समझमें आजायगा।]

अब देख लो, उस अक्षर ब्रह्मसे लेकर इस अधियज्ञ पर्यन्त सब कुछ मेरेही आश्रय करके रहता है, इस लिये मैं वासुदेव हूं (जिसके शरीरमें सब कुछ वास करे, जो सबका आश्रय है, इस जगत्के समस्त जीव जिनके शरीरका अङ्ग-प्रत्यङ्ग ह, अथच जो शरीर वा शरीरी नहीं है, वही वासुदेव है)। ऐसा जो "मैं," उस "मैं" को 'मैं' जानकर (अर्थात् मातृ-पितृ अंश यह शरीर 'मैं' नहीं, इस ज्ञानसे) जो शरीरको त्याग करे वही 'मैं' हो जाता है अर्थात् आत्मस्वरूप लाभ करता है । इसमें संशय करनेका कोई प्रयोजन नहीं;--यह बात सच है ॥ ५॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अन्वयः । हे कौन्तेय! अन्ते (अन्तकाले) यं यं वा अपि भावं स्मरन् कलेवरं त्यजति, सदा तद्भावभावितः (तस्य भावो भावनानुचिन्तनं, तेन भावितो वासितचित्तः) तं तं (स्मर्य्यमाणं भावं) एव एति (प्राप्नोति) ॥ ६ ॥

अनुवाद ! हे कौन्तेय ! सर्वदा अभ्यास हेतु जिसके मनमें जो भाव प्रबल होता है, वह अन्तकालमें उसी भावको स्मरण करते करते शरीर त्याग करता है, अतएव वह उसी भावनामय शरीरको ही प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या । आयुः शेष होता है, पुनः मृत्यु आती है, यह जो सन्धि-समय है, इस समयमें जिस मनोवृत्तिसे जो शरीर (शेष निःश्वास) त्याग करेंगे, वह उसी वृत्तिकी अनुरूप अवस्थाको पावेंगे । इसीलिये प्रति निश्वासके शेष अवस्थामें उस तद्विष्णुका परमपद मनही मनमें देखते देखते निश्वास त्याग करना उचित है । क्योंकि मैं तो नहीं जानता हूं कि हमारा शेष निश्वास यही है वा नहीं । साधकको २१६०० बारके प्रत्येक बारमेंही हुंशियार होना चाहिये ॥ ६ ॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अन्वयः । तस्मात् सर्वेषु कालेषु मां अनुस्मर (अनुचिन्तय) युध्य च (युद्धादिकं स्वधर्म्मं कुरु); मय्यर्पितमनोबुद्धिः (मयि वासुदेवे अर्पितं मनः बुद्धिश्च येन सः त्वं, तथाभूतः सन्) असंशयं मां एव एष्यसि ॥ ७ ॥

अनुवाद । अतएव सर्वकालमें मुझको स्मरण करो और युद्ध करो;

तुम्हारा मन और बुद्धि हममें अर्पित होनेसेही तुम निःसन्देह (संशय रहित) मुझकोही पावोगे ॥ ७ ॥

व्याख्या । इसलिये कहता हूं, कि सर्वकालमें अर्थात् "सर्वदा" (रात्रि साढ़े ९ नौ बजके बाद, साढ़े चार बजे पर्य्यन्तमें) हमारा अणु (प्रणव) का स्मरण करते करते युद्ध (प्राणायाम आदि क्रिया) करो । युद्ध कहते हैं मारपीटको । मारने जाओ तो एक बार उठाने होता है और एक बार फेंकना होता है; तुम भी जब श्वास (इषु) फेंकोगे और उठाओगे, तब गुरूपदेश अनुसार क्रियासे पृथिवी जलमें, जल तेजमें, तेज वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश इन्द्रिय पञ्चकमें, इन्द्रियोंको तन्मात्रामें, तन्मात्रा अहंकारमें, अहंकार महत्तत्त्वमें, और महत्तत्त्वको जीवमें योजना करोगे । इस प्रकार योजनाका नामही भूतशुद्धि है । इस भूतशुद्धि द्वारा स्वरूपस्थ होके जीव-उपाधिको परित्याग करोगे । ऐसा होनेसेही तुम संशय शून्य "मैं" हो जाओगे । क्योंकि मन-बुद्धिके ऊपर में ही 'मैं' है, इन दोनोंको हममें फेंकनेसेही 'मैं' हुआ जाता है ॥७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अन्वयः । हे पार्थ ! अभ्यासयोगयुक्तेन नान्यगामिना चेतसा अनुचिन्तयन् (शास्त्राचार्य्योपदेशमनुध्यायन्) दिव्यं परमं पुरुषं याति (गच्छति) ॥ ८ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! अभ्यास योग करके युक्त (एकाग्र) तथा अनन्यगामी चित्त द्वारा अनुचिन्तन करते करते (योगी) दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या । ऊपरमें लिखा हुआ यह जो भूतशुद्धि और प्रकृति-लयका उपदेश है, मनमें स्मरण करते मात्र ही वह नहीं होता । षष्ठ अध्यायके उपदेश अनुसार बहु दिन अभ्यास करते करते साधक जब योगमें युक्त * हो जायगा, अर्थात् जब मन गुरूपदिष्ट क्रियामें मूलाधार से योग्यस्थान हो करके चढ़ते चढ़ते कूटस्थ ब्रह्ममें पहुंच करके ‘ अहं ममत्व ’ एकदम भूल जायगा,—जब केवल मात्र ‘अकेले हूं’ को छोड़कर और कोई बोध न रहेगा, फिर भी,—क्रमानुसार ‘ अपने हूं ’ इस प्रकार करके

---

* एक वस्तुको दूसरे वस्तुसे मिलाय देनेका नाम योग है; इसी तरह सोनेके साथ ताम्बेको गलाय देनेसे, दोनों गलकर एक हो जाता है सोनाही सोना भासमान होता है, ताम्बा नहीं पहिचाना जाता, तैसे सोनेके भीतर ताम्बा रहनेके सदृश, साधना द्वारा पुरुषमें महामाया लयके पश्चात् साधकके पास और कभी माया विकारका प्रकाश नहीं रहता; ऐसा एक हो जानेका नाम युक्तावस्था कहते हैं ॥ ८ ॥

बोध भी न रहेगा, अथच चैतन्य विलुप्त न हो करके इक्षुरसमें घोरेहुए चीनी सदृश चैतन्यघनमें एक हो करके मिल रहेगा, तबही 'योगयुक्त' और 'अनन्यगामी चेतन' कहा जावेगा। इसी अवस्थामें षोड़शकलाविशिष्ट छाया विहीन अङ्गुष्ठमात्र तैजस पुरुषका दर्शन होता है ॥८॥

कविं पुराणमनुशासितार
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्म्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

अन्वयः। यः प्रयाणकाले भक्त्या युक्तः (सन्) अचलेन मनसा योगबलेन च एव प्राणं भ्रुवोः मध्ये सम्यक् आवेश्य कविं पुराणं अनुशासितारं अणोरणीयांसं सर्वस्य धातारं अचिन्त्यरूपं तमसः परस्तात् आदित्यवर्णं अनुस्मरेत्, सः तं दिव्यं परं पुरुषं उपैति ॥ ९ ॥ १० ॥

अनुवाद। जो साधक मरणकालमें भक्तियुक्त होकर स्थिर मन तथा योगबलद्वारा प्राणको दोनों भ्रूके भीतर सम्यक् प्रकारसे प्रवेश

कराकर,--सर्वज्ञ, अनादि, नियन्ता, सूक्ष्मादपि सूक्ष्म, सकलका धारण कर्त्ता, अचिन्त्यरूप, मोहान्धकारातीत, आदित्यवर्ण प्रकाशस्वरूप को स्मरण कर सके, वही साधक दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ १० ॥

व्याख्या।—(७) प्रयाणकालमें भक्तियुक्त होकर स्थिर मन और योगबलसे प्राणको दोनों भ्रूके ठीक बीचमें सम्यक् प्रकारसे प्रवेश कराकर, 'कविं पुराणं' इत्यादि रूप स्मरण करनेसेही उसी 'परमं पुरुषं दिव्यं' को पाया जाता है, अर्थात् (१) भक्ति, (२) योगबल से भ्रूके मध्यभागमें प्राण को प्रवेश कराना, और (३) 'मामनुस्मरण'—इस तीन उपायसेही भगवान् प्रयाण-कालमें ज्ञेय होते हैं।

यह जो पुरुष है, वही "कवि" (हर बातमें जो नया नया कहता है वही कवि)। उस पुरुषको जब देखा जाता है, तब उससे तेजोमय पदार्थ इतना बाहर होता है कि पलहीन दृष्टिमें ताकता हूं, अनन्त प्रकार का कितना नया पदार्थ निकल आता है, कहांसे निकलता है वह नहीं समझ सकता हूं, अथच एक पदार्थ दोबार नहीं देख पड़ता, केवल नये नये दृश्यका आविर्भाव; जो देखा है वही देखा है, इस करके समझाया नहीं जाता, इसलिये कहनेवाला 'कवि' कहा है।

"पुराणं"—अनादिसिद्धं, चिरन्तनम्। अर्थात् इस पुरुषमें भूत भविष्यत् काल विभाग नहीं है, केवल वर्त्तमानही विद्यमान है। साधक कृपाकरके किञ्चित् परिश्रमके साथ क्रिया करनेसे ही इस विश्वेश्वर हरिका दर्शन पाते हैं, इसलिये 'पुराणं' कहा हुआ है। साधक! आज ही जो तुम इसे देखते हो, और कभी कोई देखा नहीं वा देखेगा नहीं, ऐसा नहीं; काम करने वाला जो होवेगा, वही देखेगा।

'अनुशासितारं'—अर्थात् यह पुरुषही विश्वका नियन्ता है। इसके आंखके साथ आंख मिलानेसे, एक ही दृष्टिमें ताकते रहते हैं, ऐसेही देखनेमें आता है। ज्योंही देखनेवालेके आंखका पलक गिरता है, त्योंही पुरुषको आवरण शक्ति झांप देती है, किन्तु पुरुष एक ही दृष्टिसे साक्षी स्वरूप वहीं खड़ा है। जो मैं भला बुरा काम काज (पुण्य वा पाप) करता हूं, पलहीन चक्षुसे उन सबको वह पुरुष देखता है; मेरे दृक्शक्तिको प्रकृति आवरण कर देती है इस करके, उस पुरुषके पास प्राकृतिक आवरण कोई काम नहीं कर सकता; इसीलिये वह पुरुष नियन्ता है।

"अणोरणीयांसं"—अणुसे भी अणु, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। यह जो पृथिवीका अणु देखते हो, इस पृथिवी

के एक अणुके भीतर जलके दश अणु हैं, तैसे जलके एक अणुके भीतर तेजके दश अणु हैं, एक तेजके अणु के भीतर दश वायुके अणु, और एक वायुके अणुके भीतर दश आकाशके अणु हैं। अतएव भूतोंके भीतर आकाशसे सूक्ष्म भूत और कोई नहीं हैं। इस आकाश के एक अणुके भीतर दश ब्रह्माणु रहते हैं। इसलिये कहता हूं कि, यह पुरुष इन्द्रियोंके ग्रहणीय नहीं है। मन इन्द्रियोंका राजा हैं; जबतक मन रहता है, तबतक इस पुरुषका दर्शन नहीं होता,—इस कारण करके उपदेष्टाने इस पुरुषको अणुसे भी अणु कहके निर्देश किया। साधक जब स्थूलातिस्थूल पृथिवीके अणुसे उत्तरगति लेकर जल, तेज, वायु, आकाशसे भी सूक्ष्म ब्रह्माणुको आक्रमण करते हैं, तबही उनका 'अनुचिन्तन' होता है।

"सर्वस्य धातारम्"—सबका धारण कर्त्ता। जब साधक आकाशके अणुको परित्याग करके ब्रह्माणुको आक्रमण करता है, तब वह निर्विकार साक्षी स्वरूप होकर पुरुषपदको प्राप्त होता है, और इस पार्थिव अणु से जगदीश्वरी माया पर्य्यन्त जो कुछ विस्तार है, उन सबकाही धाता (धारक) कह करके आत्माको (अपनेको) प्रत्यक्ष करता है। इसलिये इस पुरुषको "सर्वस्यधाता" कहा गया है।

"अचिन्त्यरूपं" अर्थात् यह रूप चिन्ता करके मिल नहीं सकता; क्योंकि, कृत कर्म्मका सोचना ही चिन्ता है। कृत कर्म्मके भीतर यह पुरुष नहीं है। जो कुछ कर्म्म है, उसके ठीक ऊपरमें ही यह पुरुष है। इसीलिये "अचिन्त्यरूपम्" है।

"आदित्यवर्णं"—अर्थात् ज्योंही साधक आकाशका अणु परित्याग करके ब्रह्माणुको आक्रमण करेंगे, त्योंही प्रकाशमय आदित्यरूप सूर्य्य सदृश दीप्तिशाली (मल स्वरूप मनोबुद्धिके अगोचर) निजबोधरूप भास्वर इस पुरुषमें आ पड़ते हैं। इस पुरुषमें आ पड़ना भी वही है जो साधकका मर-जगत्के साधनाका शेष सीमा है। यहांसे फिरकर पुनः पार्थिव अणुमें न जाना ही "युक्तावस्था" है। साधकका इस पुरुषमें पहुंचनेके पहलेसे हुंशियार होना उचित है। ऐसा होनेसेही और पुनरावृत्ति नहीं है। जब आकाशका अणु परित्याग करके ब्रह्माणुमें जाना होता है, तब पूर्व पूर्व श्लोक कथित क्रमानुसार आज्ञाचक्रमें आनेसेही मन और प्राण साथही साथ उस पुरुषाभिमुखमें लक्ष्य करता है,—इसलिये अचल, अटल स्थिर हो जाता है। इस समय क्रियाशीला प्रकृति निष्क्रिय ब्रह्म-मिलनमें सचेष्ट होती है इस करके, माया-ब्रह्मका संयोग प्रारम्भ होता है। जैसे सागर-

संगममें गंगाका वेग पड़कर धीरे धीरे प्रशान्त मूर्त्ति धारण करके सागर हो जाता है, तैसे जब जीवभाव प्राकृतिक लीलामय पीठसे खेल उठाकर शिवभावके पीठमें घुमके बैठता है, तत्क्षणात् यह पुरुष हो जाता है। जबतक प्राणवायु भ्रूमध्यमें उठकर अज्ञानचक्र भेद न करे, तबतक ही चञ्चलता है; जब आज्ञाचक्र भेद करके ऊपर उठ जाती है, तत्क्षणात् निष्कामताका प्रारम्भ होता है और इस अवस्थाकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

अन्वयः। वेदविदः (वेदार्थज्ञाः) यत् अक्षरं वदन्ति, वीतरागाः यतयः यत् (यस्मिन्) विशन्ति, यत् (ज्ञातुम्) इच्छन्तः ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तत् पदं (प्राप्त्युपायं) ते (तुभ्यं) संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

अनुवाद। वेदवेत्तागण जिनको अक्षर कहते हैं, अनुराग विहीन यतिगण जिनमें प्रवेश करते हैं, जिनको जाननेके लिये इच्छुक होकर (साधकगण) ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन करते हैं, उस पद (प्राप्तिका उपाय) तुमको संक्षेपसे कहता हूं ॥ ११ ॥

व्याख्या। जो वेद नहीं पढ़े, वह सब इतर हैं; वेद

पाठ किया है परन्तु वेदका अर्थ परिज्ञात नहीं हुआ, ऐसे पुरुषोंको भट्ट कहा जाता है; जो वेद पाठ किये हैं, और श्रीगुरुदेवके कृपासे वेदार्थका परिज्ञान लाभ कर चुके हैं उन्हींको 'वेदवित्' कहते हैं।

'वेद' (विद् + घञ्) अर्थात् ज्ञान । इस ज्ञानको जो जान चुके हैं उन्हींको बुध वा "ज्ञ" कहते हैं। वह बुधलोग जिनको 'अक्षर' ब्रह्म कहते हैं,—यतन करके यतीलोग वीतरागी (अनुराग-विहीन) हो करके अर्थात् द्वन्द्व-विमुक्त हो करके जिस अक्षरको प्रत्यक्ष करते हैं वा जिस अक्षरमें प्रवेश करते हैं,—इच्छाका अन्त अर्थात् शेष करके जिस ब्रह्ममें चरण करके योगीजन ब्रह्मचारी होते हैं वह पद ही "ततपद" वा विष्णुके परमपद है। किस करके वह पद संग्रह करना होता है (लेने होता है) वही परश्लोकमें कहा जाता है ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

अन्वयः। यः सर्वद्वाराणि संयम्य मनः च हृदि निरुध्य आत्मनः प्राणं मूर्ध्नि आधाय योगधारणां आस्थितः (सन्) ॐ इति एकाक्षरं

ब्रह्म व्यहारन् (उच्चारयन्) मां अनुस्मरन् देहं त्यजन् प्रयाति, सः परमां गतिं याति ॥ १२ ॥ १३ ॥

अनुवाद । जो समुदय इन्द्रियद्वार संयत कर मनको हृदयमें निरुद्ध करके योग-धारणा अवलम्बन कर निज प्राणको मस्तकमें स्थापन करके, "ॐ" इस एकाक्षर ब्रह्म-मन्त्रका उच्चारण करते करते तथा मुझको स्मरण करते करते देह त्याग कर जाता है, वह परमागतिको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

व्याख्या । जब साधक मुमुक्षु होकर आत्मामें आत्मा योग करने जांय, तब उनको शरीरका नवद्वार संयत करना पड़ता है। आसन मारकर बैठनेके समय दोनों पगके एड़ियों द्वारा गुह्य और लिंगको निपीड़ित करना होता है, दोनों हाथके अंगूठेसे दोनों कानको, तर्जनी द्वयसे दोनों चक्षुको, अनामिकाद्वयसे दोनों ओष्ठको, मध्यमाद्वयसे नासारन्ध्र दोनोंको दृढ़ आक्रमण करने पड़ता है; ऐसा होनेसे ही सर्वद्वार संयम करना होता है (क्रिया गुरूपदेशगम्य है)। इस अवस्थामें मन प्राणके साथ हृदयमें अटक पड़ता है; सुतरां अपने उत्पत्तिस्थान बुद्धिको लक्ष्य कर भ्रूमध्यमें उठ बैठता है, प्राण भी चलच्छक्ति-रहित हो जाता है। इस प्रकारसे सर्वद्वारका संयम करके 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्म अर्थात् प्रणवको अवलम्बन करने होगा। (प्रणव = प्र+णक्+वं; प्र शब्दमें प्रकृष्ट पूर्वक, णक् शब्दमें आत्मा, और वं शब्दमें शून्य है; अर्थात् प्रकृष्ट पूर्वक

देहात्माभिमान जिससे शून्य होजाता है उसीका नाम प्रणव है)। तत्पश्चात् इस एकाक्षर ब्रह्मवाचक प्रणव मन्त्रको "चैलाजिनकुशोत्तर" आसनमें मूलाधारसे चित्तपथमें व्याहरन करेंगे (क्रिया गुरूपदेशगम्य)। "व्याहरन्"—(विशेष रूपसे आहरण) अर्थात् उच्चारयन् । उत्=ऊर्ध्व में, चार=चरण करना, अयन=गतिः अर्थात् ऊर्ध्वगतिमें चलाय देवेंगे—ऊंचे दिशामें उठावेंगे। इसीका नाम कुण्डलिनी देवीको उठाना है । किस तरहसे उठावेंगे ? कि, "मामनुस्मरन्"=मेरे अणुको स्मरण करते करते। वह किस प्रकार है ? कि, मूलाधारसे उस कुण्डलिनीको ब्रह्मनाड़ी के ठीक मध्यभागसे यथोपदिष्ट क्रियामें धीरे धीरे उठा कर—(कामपुर चक्रसे समस्त कामना वा वासनाको समेट कर, स्वाधिष्ठानमें पहुंचकर क्रोधको समेटके, मणिपुरके ऊपर अष्टधा बलयाकार महापन्थके गर्भ होकर लोभको समेटके, अनाहत चक्र भेद करके मोहको समेटकर, विशुद्ध चक्र भेद करके मदको समेटके, आज्ञाचक्र भेद करके मत्सरताको समेटके)—सहस्रारमें परम शिवके ऊपर आहुति देने होगा। इस आहुति देतेमात्र, अ+उ+म, इन तीन वर्णके मिलनेसे जो शब्द होता है, उसी शब्दको व्यञ्जनविहीन करके उच्चारण करनेसे जिस प्रकार शब्द होता है, ठीक उसीके सदृश एक (तैलधारावत्

अविच्छिन्न) ध्वनि उत्पन्न होगा। जब उस ध्वनि की उत्पत्ति होगी, उसके साथही साथ, गन्धज्ञान, रसज्ञान, रूपज्ञान, स्पर्शज्ञान, शब्दज्ञान मिटकर, एक अभूतपूर्व अश्रुतपूर्व श्रुति आवेंगी। उस श्रुतिके ठीक मध्यभागसे एक अदृष्टपूर्व ज्योति देखनेमें आवेगी; उस ज्योतिके भीतर भवसागरमें चक्कर खानेवाला मन संकोचताको परित्याग करके, विस्तृत विष्णुपदमें व्याप्य-व्यापकता शून्य होकर विलय प्राप्त होवेगा। इस प्रकार की अवस्था लाभ करके देह छोड़ जानेसे ही (मरनेसे ही) परमागति की प्राप्ति होती है। यह जो उपदेश है, श्री श्री सद्गुरुचरणमें मस्तक दिया है जिसने, वही जान लिया है; यह कथा कहना ही अधिक है ॥१२॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अन्वयः। हे पार्थ ! अनन्यचेताः (सन्) यः नित्यशः (प्रतिदिनं) सततं (निरन्तरं) मां स्मरति, नित्ययुक्तस्य तस्य योगिनः अहं सुलभः ॥ १४ ॥

अनुवाद। हे पार्थ ! अनन्यचित्त होकर चिरदिन निरन्तर जो मुझको स्मरण करता है, उसी नित्ययुक्त योगीके पक्षमें मैं सुलभ हूं॥१४॥

व्याख्या। योग-अभ्यास कालमें जो कदापि चैतन्य

को छोड़कर जरासा भी इधर उधर न होता हो, उसी सेही 'मैं' का स्मरण होता है। मैं भी जैसे अनन्त हूं, वह भी तैसे अनन्त हो जाता है। वही योगी है; उसीका ही "मैं" सुलभ है; ऐसे जो नित्य "मैं," वह इस "मैं" में युक्त होकर नित्ययुक्त हो जाता है। साधक ! अब तुम समझ कर देखो, तुम्हारे क्रियाके पूर्व्वावस्था, क्रियावस्था, क्रियाका परावस्था, और क्रियाका परावस्थाका परावस्था, सब इस श्लोकमें कहे हुए हैं ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

अन्वयः । महात्मानः माम् उपेत्य (प्राप्य) परमां संसिद्धिं (मोक्षं) गताः (प्राप्ताः सन्तः) दुःखालयं अशाश्वतं जन्म पुनः न आप्नुवन्ति ॥ १५ ॥

अनुवाद । महात्मागण मुझको प्राप्त होकर, परमासिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त होनेसे, पुनः दुखके आलय स्वरूप अनित्य जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥ १५ ॥

व्याख्या । जो सब साधक योगानुष्ठानसे अन्तःकरणको परमात्मामें मिलाने सीखे हैं, वही सब साधक महात्मा हैं; वे लोगही "परमासिद्धि"—नैष्कर्म्यावस्थाको प्राप्त हो करके "मैं" को पाते हैं, अर्थात् आत्मस्व-

रूप लाभ करते हैं । सुतरां उनलोगोंको और पुनः दुःखका आलय स्वरूप अनित्य जन्म लेने नहीं होता; अर्थात् वह लोग नीचेमें और न उतरतें, विस्तार ब्रह्ममें पड़करके सर्वसिद्धिकी आश्रय स्वरूप ब्रह्मही हो जाते हैं ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! आब्रह्मभुवनात् लोकाः पुनरावर्त्तिनः (पुनरावर्त्तनस्वभावाः), तु (किन्तु) हे कौन्तेय ! मां उपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अनुवाद । हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त पहुंचनेसे भी लोग पुनरावर्त्तन करते हैं; परन्तु कौन्तेय ! मुझको पानेसे पुनर्जन्म और नहीं होता ॥ १६ ॥

व्याख्या । अपरिपक्क अथच उन्नतिशील साधक जब समाधि-साम्यका सुख भोग करके पुनः संसार-अवस्थामें उतर आकर समाधिस्थिति-अवस्थाका आलोचना करते हैं; तब साधक क्रियाका परावस्था और संसार-अवस्थाका फल प्रत्यक्ष करके इस प्रकार ज्ञान लाभ करते हैं—

सूर्य्यकोषके भीतर जो कुछ है उसीको भुवन कहते हैं। स्थूल शरीराभिमानीको ब्रह्मा कहते हैं। इस ब्रह्मा से आदि लेके स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जरायुज, जो कुछ प्रजा हैं, समस्तही भुवनवासी हैं। यह सबही बारं-बार जन्म मृत्युके आधीन होकर घुमते रहते है; क्योंकि, पूर्वकथितके यथार्थ "मैं" में इन सबका परिज्ञान नहीं हैं (५ वें श्लोककी व्याख्या देखो)। उसी "मैं" का परिज्ञान होनेसेही, हे शरीराभिमानी बद्ध साधक! और तुम्हारा पुनर्जन्म नहीं रहता।

भुवन चौदह हैं। जो सबके ऊपर है वही ब्रह्म-भुवन वा ब्रह्माका सत्यलोक है। यह सत्यलोक सह-स्रारमें अवस्थित है, इसलिये प्राकृतिक अधिकार-युक्त है। यदि साधक मृत्युकालमें साधनबल करके इस सत्यलोकमें भी चला आवे, किन्तु चैतन्यमें चित्त-लय न कर सके, तौ भी उनको फिर देहधारण करना होता है। कारण कि जबतक चित्त प्रकृतिको छोड़ कर पुरुषमें न मिलजाय, तबतक प्रकृतिके वशमें जन्म-मृत्यु होता ही रहेगा। सबसे ऊंचे क्षेत्र ब्रह्मभुवनमें जाने से भी निस्तार नहीं। परन्तु यदि चित्त उस समय (मरण समय) चैतन्यको धारण कर सके, तो जिस किसी भी स्थानमें रहकर शरीर त्याग करें, उनको फिर जन्म लेना न पड़ेगा ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

अन्वयः । ब्रह्मणः यत् सहस्रयुगपर्य्यन्तं अहः सहस्रयुगान्तां (च) रात्रिं (ये) विदुः ते जनाः अहोरात्रविदः ॥ १७ ॥

अनुवाद । जो लोग ब्रह्माका सहस्र युग पर्य्यन्त एक दिन तथा सहस्र युगान्ता एक रात्रि जानते हैं उन्हींको अहोरात्रविद् कहते हैं ॥१७॥

व्याख्या । "युग" कहते हैं दो को,—एक खींचना और एक फेंकना । इस शरीरमें निश्वास और प्रश्वासका खेल अर्थात् खींचने और फेंकनेकी क्रिया अष्ट प्रहरके भीतर २१६०० बार होती है । क्रिया करते करते साधकका निश्वास और प्रश्वास शरीरके भीतर जब अति सूक्ष्म होकर क्रिया करे, तब दिनमानके चार प्रहर में १००० बार और रात्रिमानके चार प्रहरमें १००० बार यह २००० बार नियमित (बिना आयाससे स्वभावतः) हो आनेसे, ब्राह्मीस्थिति पाकर (२य अः ७१।७२ श्लोक) और उसे भोगकर समझकर साधक ब्राह्मण होते हैं । इसलिये, अहः=प्रकाश और रात्रि= अप्रकाश, यह प्रकाश और अप्रकाशका परिज्ञान लाभ कर 'अहोरात्रविद्' हो पड़ते हैं; अर्थात् ब्राह्मीस्थिति क्या है, सोभी जान लेते हैं, और जगत्‌व्यापार क्या है उसे भी साधक जान लेते हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

अन्वयः । सर्वाः व्यक्तयः (चराचराणि भूतानि) अहरागमे अव्यक्तात् प्रभवन्ति, रात्र्यागमे (पुनः) तत्र अव्यक्तसंज्ञके (कारणरूपे) एव प्रलीयन्ते ॥ १८ ॥

अनुवाद । समुदय व्यक्त (चराचर प्राणी) दिनमान का आगमन करके अव्यक्तसे उत्पन्न होता है, और रात्रिके आगमनसे उसी अव्यक्त संज्ञक कारणरूपमेंही प्रलीन होता है ॥ १८ ॥

व्याख्या । "अव्यक्त"=प्रकृति । इस प्रकृतिसे ही सर्व अर्थात् जगत्का जो कुछ है वह उत्पन्न होता है। साधक ! अब देखो, जब तुम अपने आवागमनके घोरमें पड़ कर विषयोंका दासत्व करते थे, तब यह विषयादि तुम्हींको भोग करता था । तब तुम विषयके भोक्ता न होकर भोग्य बने रहे थे । परन्तु सद्गुरुकी कृपासे जब तुमने आज्ञाचक्रको भेद किया, तत्क्षणात् तुम्हारा अहः आया । रात्रि जाती है दिन आता है इस प्रकारके समयको अहः कहते हैं । सूर्य्यदेव उगने ही चाहते हैं उठनेमें देर नहीं, ऐसे समयको । इस समय शरीरका रोवां रोवां पर्य्यन्त स्पष्ट देखा जाता है । आज्ञाचक्र भेद करनेके पश्चात् विवस्वान्के बहुत निकट होकर प्रकृतिके रूप यौवन वशीकरण सब एक एक करके

प्रत्यक्ष करते हो, जिस करके, अव्यक्त प्रकृतिसे ही यह सब जो निकलती हुई बाहर चली आती है स्पष्टतया समझ लेते हो, दृढ़ भी होते हो कि प्रकृतिके फांसमें और पग न दोगे। क्यों! प्रत्यक्ष करते हो कि नहीं?--यह तुम्हारी क्रियाकी परावस्थाकी पूर्वावस्था है, यह तो हुआ मुक्तिका रास्ता। और जब तुमनें प्रथम जीव होनेके लिये कमर कसे, अर्थात् संसार-लीलामें मतवाले होने के लिये निम्नगति ली थी, अपना वही दिन एक बार स्मरण करो। (४र्थ अः १। २ श्लोक देखो)। जब तुमने विवस्वान् को पीछे करके चित्तके निम्नस्तरके ऊपर लक्ष्य करके अंहकारको आश्रय किया था, और मनको भी लेकर विषयमें जब प्रथम छूआ छूत लगाया, वही तुम्हारी घोर अज्ञानता रूप रात्रि थी जिसके अंधियारेमें पड़कर तुमने निज "मैं" को देखनेकी शक्ति भी खो दी थी। तुम जो ऐसे स्वप्रकाश हो सो तुमने भी अव्यक्त प्रकृतिके गर्भमें प्रलीन होकर जीव साज सज लिया था, तुम्हारे उसी घोर दुर्दिनको रात्रि कहते हैं। यही तुम्हारा दिन, और यही रात्रि है। जब तुम 'आत्मा' में रहते हो, तब तुम सर्वज्ञ हो, और जब तुम आत्महारा होते हो, तब सब जानकारीको भूलकर अज्ञ बन जाते हो, और अव्यक्तमें डूब जाते हो॥ १६॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

अन्वयः हे पार्थ ! स एव अयं भूतग्रामः अवशः (सन्) भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे प्रलीयते, (पुनः) अहरागमे प्रभवति ॥ १९ ॥

अनुवाद। हे पार्थ ! यही वह भूत-समूह विवश होकर बारंबार जन्म लेते हुए रात्रिके आगमनमें प्रलयको प्राप्त होता है, और अहः (दिवस) के आगमनमें उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

व्याख्या। पांच इकट्ठे मिलकर जहां निवास करें उसीको ग्राम कहते हैं, अर्थात् यह शरीर। वही शरीर भी फिर "मैं" हूं! हरि ! हरि !! क्या तमाशा है ! अभी 'मैं' सर्वज्ञ सर्वशक्तिकारण था, फिर भूतोंके गांव रूपमें शरीर सज लिया? वही शरीर फिर बारंबार मरता जनमता और जनमता मरता है। प्रकृतिके वशमें 'मैं' विवश हो रहा हूं, रात्रिकी विवशताने मुझको अटका रक्खा, ढांक रक्खा। कैसा करके ढांक रक्खा ! वाह वाह ! रे कृपण साधक ! यह देखो, तुम जो भोग-लालसा छोड़ नहीं सकते, इसका मजा तो एकबार देखो। फिर देखो, अहः आनेसेही अर्थात् सूर्य्योदयके थोड़ासा पहले पूर्वगगनमें जिस प्रकार ज्योति प्रकाश होती है, अन्तरमें भी उसी प्रकार ज्योति प्रकाश होते ही, तुम्हारा

प्रभव अर्थात् पूर्वस्वरूप दर्शन होता है । परन्तु तुम एकही हो, केवल तुम्हारी दृष्टिका फेर है। 'सृष्टि-मुखी' दृष्टि और 'तुम-मुखी' दृष्टि ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अन्वयः । तु (किन्तु) तस्मात् अव्यक्तात् परः (तस्यापिकारणभूतः) यः अन्यः सनातनः अव्यक्तः भावः (अस्ति), सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु (अपि) न विनश्यति ॥ २० ॥

अनुवाद । किन्तु उस अव्यक्तसे भी ऊपर जो सनातन अन्य (दूसरे) अव्यक्त भाव है, वह समस्त भूतोंके विनष्ट होनेसे भी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥

व्याख्या । अतएव तुम ब्रह्म, व्यक्त अव्यक्त दोनों मिलकर सनातन हो। तुम भूतोंके भीतर हो, अथच अव्यक्त अर्थात् अतीन्द्रिय हो तथा भूतोंके परिवर्त्तनमें तुम्हारा कुछ अदल बदल नहीं होता । किसीको तुम बिनाश भी नहीं करते, और किसीसे तुम विनष्ट भी नहीं होते। "मैं जैसा हूं वैसाही हूं; जलका स्रोत और समय जैसा है, जन्म मृत्यु भी वैसाही है" ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अन्वयः । अव्यक्तः (भावः एव) अक्षरः इति उक्तः (श्रुतिषु इत्यर्थः); तं (अक्षरसंज्ञकमव्यक्तं) परमां गतिं (गम्यं पुरुषार्थं) आहुः ("पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः" इत्यादि श्रुतयः), यं (भावं) प्राप्य न निवर्त्तन्ते; तत् मम परमं धाम (विष्णोः परमं पदं) ॥ २१ ॥

अनुवाद । अव्यक्त ही अक्षर है, इस प्रकार उक्त है; उसीको (अव्यक्तसंज्ञक अक्षरकोही) परमागति कहाजाता है, जिनको पानेसे पुनरावृत्ति नहीं होता, वही हमारा परमधाम है ॥ २१ ॥

व्याख्या । "अव्यक्त" प्रकृतिको कहते हैं। इस प्रकृतिके ऊपर दिशाका शेष सीमा ही "मैं"-"तुम" का संयोग है। इस संयोगके नीचेका दिशा "तुम" है और ऊपरका दिशा "मैं" है। यही अक्षर अवस्था है; यह उभयात्मक अवस्थाही परमागतिका प्रारम्भ है; इसीको प्राप्त होनेसे, पुनः संसारमें आने नहीं होता। इसी लिये इसको हमारा नित्यधाम वा परमधाम कहते हैं। इस धाममें गति होने पश्चात्‌ही साधकको परमागति प्राप्त होती है। वह जो चित्तके ऊपर-स्तरका भाव है, वह जो प्रकृति-वशी भाव है, जिसको अक्षर अवस्था कहते हैं (८म अः १म श्लोक) जिस अवस्थामें प्रकृतिका समस्त छलना (विज्ञान) जाना जाता है; प्रकृति भी और साधकको छलसे वशीभूत नहीं कर सकेंगी जान बूझके लज्जाके मारे निरस्त होती है; सुतरां साधक

और पुनरावृत्तिमें लक्ष्य नहीं करते, स्थायी ब्रह्मत्व ले लेते हैं (५म अः १३ । १४ श्लोक देखो) ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

अन्वयः । हे पार्थ ! सः पुरुषः (अहं) परः (निरतिशयः, यस्मात् "पुरुषान्न परं किञ्चित्") अनन्यया तु भक्त्या (एकान्तभक्त्या एव) लभ्यः, यस्य (कारणभूतस्य पुरुषस्य) अन्तःस्थानि (मध्ये स्थितानि) भूतानि (कार्य्यभूतानि, कार्य्यं हि कारणस्यान्तर्वर्त्ती भवति), येन (पुरुषेन) इदं सर्वं (जगत्) ततं (व्याप्तं) ॥२२ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! जिनके भीतर सकल भूत अवस्थित हैं, जिनसे यह समस्त जगत् व्याप्त है, वह पुरुषही पर (श्रेष्ठ) तथा एक मात्र भक्तिसे प्राप्य है ॥ २२ ॥

व्याख्या । अब साधक ! देखो, यह जो "पुरुष"—पुर है तुम, और सो रहा हूं 'मैं'—यह द्व्यात्मक ("मैं" तुम संयोग) अवस्थाही सबके ऊपर है, जिसके ऊपर और कुछ (आदि अन्त विशिष्ट) नहीं है । 'तुम' के अस्तित्व श्वास पर्य्यन्त है, इस श्वासके ऊपरमेंही 'मैं' हूं । कहावत है कि; "जबतक श्वास, तबतक आश" श्वास जब मिट जाती है अर्थात् भीतर की श्वास भीतरमें, बाहरकी श्वास बाहरमें हो जाती है उसीके साथ आश

भी मिटकर तत्क्षणात् "मैं" हो जाती है । 'मैं' पुरुष है । अनन्यभक्तिसेही यह "मैं" हुआ जाता है । गुरुवाक्य में अटल विश्वासका नाम भक्ति है । यह जो आकाश-धोलाई है, गुरुवाक्यमें अटल विश्वास न होनेसे यह नहीं होता । अब ठीक करके देख लो, इस "मैं" के ठीक नीचेसेही प्रकृतिका प्रारम्भ है, इसलिये "अन्तःस्थानि भूतानि;" और प्रकृतिके ठीक ऊपरसे "मैं" का प्रारम्भ है । यह "भूत" और "तत्" एक होगये जिसे अब देखते हो । यह भूत और तत् कहा गया, प्रत्यक्ष करके शान्ति लो ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिश्चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

अन्वयः । हे भरतर्षभ ! यत्र काले प्रयाताः (मृताः) योगिनः अनावृत्तिं यान्ति, (यत्र काले) तु आवृत्तिं च एव यान्ति, तं कालं वक्ष्यामि ॥ २३ ॥

अनुवाद । हे भरतर्षभ ! योगिगण जिस कालमें शरीर छोड़कर चले जानेसे और नहीं फिरते, तथा जिस कालमें गमन करनेसे फिर आते हैं, उसी कालके विषयमें मैं तुमको कहता हूं ॥ २३ ॥

व्याख्या । निश्वास बाहर करदेना वा त्यागकर देनेका नाम काल (मृत्यु) है, उसका उपदेश पहले

ही किया हुआ है (८म अः ६ष्ठ श्लोक)। अब, जिस शेष निःश्वासमें शरीर त्याग करनेसे 'अनावृत्ति' अर्थात् मुक्ति और 'पुनरावृत्ति' अर्थात् पुनर्जन्म होता है उसीका उपदेश किया जाता है। योगीजन ठीकसे समझके, इन दोनोंमेंसे (अनावृत्ति और पुनरावृत्ति) जिसको इच्छा हो ग्रहण वा त्याग कर सकते हैं। उसी शेष निःश्वास त्यागकी कथा "मैं" कहता हूं ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अन्वयः । अग्निर्ज्योतिः अहः शुक्लः उत्तरायणम् षण्मासाः, तत्र प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति ॥ २४ ॥

अनुवाद । जिस कालमें अग्निर्ज्योतिः अहः शुक्ल तथा उत्तरायण षण्मास उदित होता है, ब्रह्मविद् व्यक्तिगण उसी कालमें गमन करनेसे ब्रह्ममें मिल जाते है ॥ २४ ॥

व्याख्या । सप्तजिह्वा अग्निका सात प्रकार रङ्ग है। उसके भीतर मुक्ति देनेवाला रङ्ग कैसा है वह समझ लो,—एक ढेरसे अग्निके भीतर, ऊपर थोड़ा थोड़ा राख जम गया, बीचमेंसे एक कोयला टूटकर दो खण्ड हो गया, टूटेहुए दोनों खण्डके शरीरसे घोर काला रङ्ग निकला, उसी काला दोनोंमें अग्नि जोर करके पुनः लाल

होगया, और सब कालेको खा लिया । धीरे धीरे उसका तेज बढ़ते बढ़ते तीसीके फूलके भीतर वाले रङ्ग सदृश श्यामता लेकर एक श्वेत ज्योतिका प्रकाश पाया । उस श्यामताहीन श्वेत ज्योतिकोही अग्निर्ज्योति कहते हैं । अग्निहोत्रमें इस ज्योतिकी उत्पत्ति होनेसे ही कार्य्यसिद्धि होती है । यह ज्योति, और पहले १८वां श्लोकमें जो अहः कहा हुआ है वही अहः ज्योति, और शुक्ल (सफेद) इन तीनोंके मिश्रणसे एक अपरूप द्युति प्रकाश पाता है । मरणकालमें प्राणायाम करने नहीं पड़ता, आपहीं आप होता है, उसको चातुर्थिक प्राणायाम कहते हैं । इस चातुर्थिक प्राणायाममें अवसर बहुत है । साधक इस समयमें केवल गुरूपदिष्ट स्थानमें लक्ष्य करके रहेंगे, प्राणायाम करने नहीं होगा, आपही आप होता है । प्राणायामकी शक्ति करके जब यह त्रिमिश्रणकी ज्योति आकर लक्ष्यस्थलमें खड़ी होवेगी वा प्रकाश पावेगी, तब साधक गुरूपदेश अनुसार ठोकरसे प्राणत्याग करेंगे । यह हुआ षण्मास (आधा)—ब्रह्ममें परिलीन होनेका वा अनावृत्तिकी गति । इसको उत्तरायण (उत् + तर + अयन) कहते हैं, जिससे और ऊंची गति नहीं है ॥ २४ ॥

धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति र्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥

अन्वयः । धूमः रात्रिः तथा कृष्णः दक्षिणायनम् षण्मासाः, तत्र (प्रयातः) योगी चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥

अनुवाद । जिस कालमें धूम, रात्रि, कृष्ण, और दक्षिणायन षण्मास उदित होता है, उस कालमें (गमन करनेसे) योगी चन्द्रलोकको प्राप्त होकर पुनरागमन करते हैं ॥२५॥

व्याख्या। धूम=धूआं; रात्रि=अन्धकार रात, सूर्य्यास्त के बाद साढ़े सात दण्ड पर्य्यन्त रात्रिमान कहाता है, उसके भीतर अन्धकारके गभीरता; और कृष्ण अर्थात् काला; इन तीन रंगोंके मिश्रणमें जो रंग होता है, अर्थात् धूआं धूआं, अंधियारा अंधियारा, और काला काला रंग देखकर यदि योगीका शरीर त्याग हो, तो चन्द्र-लोक पर्य्यन्त उपभोग करके पुनः 'पुनरावृत्ति' लेने पड़ता है; इसीको दक्षिणायन षण्मास वा कुमेरु गति कहते हैं ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥२६॥

अन्वयः । जगतः एते शुक्लकृष्णे गती हि शाश्वते मते; एकया अना-वृत्ति याति, अन्यया पुनः आवर्त्तते ॥ २६ ॥

अनुवाद । जगत्‌की यह शुक्ल और कृष्ण दोनों गतिही अनादि कालसे प्रसिद्ध है; एकसे अनावृत्ति और दूसरेसे पुनरावृत्ति होती है ॥ २६ ॥

व्याख्या । साधक ! अब देख लो; यही अपनी शुक्ल और कृष्ण गति है, समझ लो; प्रत्यक्ष करके दृढ़ अभ्यासके द्वारा ऐसा आयत्त करो, जिस करके कार्य्यकालमें तुम्हारा कल्याण "हस्तामलकवत्" तुम्हारे हाथमेंही रहे । यह शुक्लगति अनावृत्ति, और कृष्णगति पुनरावृत्ति कराती है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

अन्वयः । हे पार्थ ! कश्चन योगी एते सृती (मार्गौ) जानन् न मुह्यति; तस्मात् हे अर्जुन ! सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः भव ॥२७॥

अनुवाद । हे पार्थ ! इन दो पन्थोंको जाननेसे कोई योगी मोहको नहीं प्राप्त होते; अतएव, हे अर्जुन ! तुम सर्वकालमेंही योगयुक्त हो रहो ॥ २७ ॥

व्याख्या । यह शुक्ल और कृष्ण गति केवल अभ्यास द्वारा योगियोंको आयत्त होती है । यदि कदाचित् योगीगण शुक्लगति न ले सकें, लक्ष्यभ्रष्ट होनेके

लिये उनको कृष्णगतिही मिलजाय, तो पुनर्जन्म लेकर भी उत्तम सुकृति फल हेतु योगीगण जातिस्मरत्व प्राप्त होकर मायाके इन्द्रजालमें और मोहित नहीं होते हैं। जातिस्मरत्वसे तुम्हारा कौन काम है भाई! तुम अपने प्रति निश्वासमेंही शुक्लगतिको लक्ष्य करके बैठे रहो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

अन्वयः । वेदेषु यज्ञेषु तपःसु दानेषु च एव यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं, योगी इदं (तत्त्वं) विदित्वा तत् सर्वं अत्येति, आद्यं परं स्थानं च उपैति ॥ २८ ॥

अनुवाद । वेदमें, यज्ञमें, तपस्यामें, तथा दानमें जो जो पुण्य फलका उल्लेख है, योगी उल्लिखित तत्त्वको अवगत होकर उन समस्तको अतिक्रम करते हैं, और आद्य परम स्थान (विष्णुपद) को प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या । वैदिक क्रियामें, यज्ञके क्रियामें, तपकी क्रियामें, दानकी क्रियामें जो जो पुंण्यफलका निर्देश

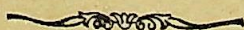
किया हुआ है, वह समस्त स्वर्गादि भोग कराकर फिर मर्त्यलोकमें घुमाय लाता है । यह जानकर, समझकर, उन सबमें उपेक्षा करके योगीगण अपने उसी परम स्थानमें, पहले जहांसे आयेथे, उसी आदि स्थानमें—विष्णु पदमें उपनीत होते हैं ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगाशास्त्रे

श्रीकृष्णार्ज्जुन सम्वादे अक्षरब्रह्मयोगोनाम

अष्टमोऽध्यायः ।

॥ ॐ ॥



नवमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । इदं तु गुह्यतमं विज्ञानसहितं ज्ञानं अनसूयवे ते प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ॥ १ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान् कहते हैं,—तुम असूया विहीन हुए हो, इसलिये तुमको यह परम गुह्य विज्ञान-सहित ज्ञान कहता हूं, जिसको जाननेसे तुम अशुभसे मुक्ति लाभ करोगे ॥ १ ॥

व्याख्या । अब साधक ! तुम देखो, ८म अः में प्रथम दीक्षाके उपदेशसे प्रारम्भ करके शेष पर्य्यन्त चल कर किस प्रकार करके शरीर त्याग करके परम स्थान प्राप्त करने होता है, उसका उपदेश किया हुआ है; अब जीवन्मुक्ति कैसा है अर्थात् शरीर धारण करके पंक (कीचड़) के भीतर रहनेवाले मछली सरीखे, प्रकृतिके भीतर रह करके भी किस प्रकारसे निर्लिप्त रहने होता है, उसीका उपदेश किया जाता है ।

"इदन्तु ते" इत्यादि—यह उपदेश अत्यन्त गुप्त है;

भाषामें यह मिल नहीं सकता। तुम (गोता लगाकर जलके भीतर पैठने सदृश इसमें) डूबने सिखे हो इस लिये अधिकारी हुए हो। अतएव विज्ञानके साथ ज्ञान को समझ लो। ज्ञान है "मैं" का बोधन, और विज्ञान है 'मेरा' कहनेमें जो कुछ आता है, उन सबका वा प्रकृतिका बोधन। ज्ञान = ज + ञ + आ + न; 'ज' = जायमान अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति-नाश विशिष्ट जो कुछ है। 'ञ' = गन्धानु अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध जिसमें है। 'आ'कारका अर्थ आसक्ति है। 'न' कारका अर्थ नास्ति है। तबही हुआ, उत्पत्ति-स्थिति-नाशमान इस दृश्य जगत्का कोई किसीमें आसक्ति जिस अवस्थामें नहीं रहता, अथच, मूर्च्छा, मृत्यु वा निन्द्रारूप अज्ञानताका आश्रय न ले करके जो स्थिति है, वही ज्ञान-अवस्था है। 'विज्ञान'—जगत्को समझना हो तो, ब्राह्मीस्थितिमें नहीं होता, थोड़ासा नीचे उतरकर प्रकृतिके साथ मिलकर समझने होता है। वह होनेसे ही ब्राह्मीस्थिति एक स्तर, और प्राकृतिक स्थिति एक स्तर हुआ। ब्राह्मीस्थितिमें उपसर्ग मात्रका अभाव है, और प्रकृतिमें सबही उपसर्ग है इसीलिये 'वि' उपसर्ग दे करके विशेषताका प्रतिपादन किया हुआ है। यह दोनोंही परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। इस विज्ञान-सहित ज्ञानको

ज्ञान लेनेसेही निर्लिप्तताका बाधा और नहीं आवेगा, क्योंकि, प्रकृतिके फांसमें पड़करके प्रकृतिको न समझ करकेही "जीव" बन गया था;—जैसे समझ लिया, तत्क्षणात् "ज्ञान" हो गया, 'शिव' भी होगया, अतएव ब्राह्मी-स्थितिका बाधा कुछ भी न रहा, और जीवन्मुक्ति भी होगया ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अन्वयः । इदं (ज्ञानं) राजविद्या (विद्यानां राजा) राजगुह्यं (गुह्यानां राजा) उत्तमं पवित्रं प्रत्यक्षावगमं अव्ययं धर्म्म्यं कर्त्तुं सुसुखं ॥ २ ॥

अनुवाद । यह ज्ञान सब विद्याका राजा, अति गुह्य, सर्वोत्कृष्ट, अत्यन्त पवित्र, प्रत्यक्ष प्रमाण-सिद्ध (निजबोधरूप), अक्षय, धर्म्मसम्मत और सुखसाध्य है ॥ २ ॥

व्याख्या । यह जो ज्ञान है, वह राजविद्या = श्रेष्ठ विद्या है । (राज अर्थमें श्रेष्ठ, और विद्या अर्थमें जिससे ब्रह्मज्ञान कराय देता है) । यह सबसे ऊंचेमें रहता है इस करके अत्यन्त गुप्त है, क्योंकि उतना दूर न उठनेसे इसको जाना नहीं जाता; यह उत्तम अर्थात् इससे उत् (उर्द्ध्वमें) तम (स्थिति) लाभ होता है;—पवित्र=ग्लानि-

शून्य;--प्रत्यक्ष=जाज्वल्यमान चक्षुकी दृक् शक्तिके सामने; धर्म्यः=अविरोधि--"अविरोधात्तु यो धर्म्मः स धर्म्मः"। जिससे किसीके साथ विरोध उपस्थित न होय, उसीको धर्म्म कहते हैं। "धर्म्म धारयते प्रजाः"। प्रजा कहते हैं प्रकृष्ट रूपसे जिसका उत्पत्ति होता है; ऐसा होनेसेही उत्पत्ति, स्थिति, और भंग जिसमें है, वही प्रजा है, अर्थात् परिणामी जो कुछ है, वही प्रजा है। इस परिणमनता को जो धारण करके हैं, अर्थात् जो स्वयं 'अपरिणामी' है वही धर्म्म है। इस धर्म्ममें जिस करके पहुंचा जाय, उसी को "अवगम" कहते हैं। यह जो धर्म्म है वह अव्यय अर्थात् नित्य है। सुन्दर सुखसे इसको किया भी जाता है, और इसीसे अव्ययत्वमें संयुक्त भी हुआ जाता है ॥२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्म्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

अन्वयः। हे परन्तप ! अस्य धर्म्मस्य अश्रद्दधानाः (श्रद्धाविरहिताः) पुरुषाः मां अप्राप्य मृत्युसंसारवर्त्मनि (मृत्युव्याप्ते संसारमार्गे) निवर्त्तन्ते ॥ ३ ॥

अनुवाद। हे परन्तप ! इस धर्म्मके प्रति श्रद्धाविहीन पुरुष मुझको न पा करके जन्म-मृत्युरूप संसार पथमें ही प्रत्यावर्त्तन करता है ॥३॥

व्याख्या। अबाधतः गुरुवाक्य पालन करके चलने

का नाम श्रद्धा है । जिस महाशक्तिसे गुरुवाक्य पालनका सब कुछ बाधा-विघ्न नाश होता है, वही श्रद्धा है । जिस में इस महाशक्तिका अभाव है, वही अश्रद्दधान वा कापुरुष है । यह कापुरुष उस पूर्वकथित द्रष्टास्वरूपमें वा धर्म्ममें रह करके प्राकृतिक दृश्यका खेल देखने नहीं पाता, इस लिये "मैं" को अर्थात् ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त न होकर मृत्युरूप संसारके रास्तेमें आता है, अर्थात् जन्म मृत्यु भोग करता रहता है ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्व्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

अन्वयः । मया अव्यक्तमूर्त्तिना (करणागोचरस्वरूपेण) इदं सर्वं जगत् ततम् (व्याप्तं); सर्वभूतानि मत्स्थानि, अहं च तेषु न अवस्थितः ॥ ४ ॥

अनुवाद । मैं अव्यक्तरूप करके इस समस्त जगत्में व्यापनशील हो रहा हूं, सकल भूत हममहींमें अवस्थित है, परन्तु मैं उन सबमें अवस्थित नहीं हूं ॥ ४ ॥

व्याख्या । वह जो मैं ब्राह्मीस्थितिसे जगत्के ऊपर लक्ष्य कर रहा हूं, यह ठीक जैसे सूर्य्य और पृथिवी है;— पृथिवी अप्रकाश है, और सूर्य्य स्वप्रकाश, यह दोनोंही अलग और परस्परसे अनेक दूरमें हैं । परन्तु सूर्य्यकी

किरण पृथिवीमें पड़ करके जिस जिसमें जितना अधिक मेलजोल करती है, उसीके जैसे तितना अधिक प्रकाश होता है, अथच मेलजोल हो करके भी परस्पर लिप्त नहीं होते; तैसे मैं परिणामी प्रकृतिके भूतादियोंके साथ ओतःप्रोत भावमें मिल करके भी नहीं मिलता; इसलिये हममें भूतादि रह करके भी "मैं" के ऊपर वह सब लक्ष्य नहीं करते इस करके 'मैं' नहीं हो सकते। 'मैं' जो ऐसा व्यक्त हूं, मेरी ज्योति लेकरकेही वह अव्यक्त वा अप्रकाश परिणामी लोग अपना अपना जो कुछ जड़त्व है उसे त्याग करके जैसे चैतन्य सरीखे अभिनय दिखा देते हैं,—जैसे वह सब अव्यक्त वा जड़ नहीं, व्यक्त चैतन्य है। परन्तु 'मैं' बिना जो कुछ है, वह समस्त अप्रकाश—अव्यक्त है ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

अन्वयः । मे ऐश्वरं योगं (असाधारणं माहात्म्यं) पश्य,—भूतानि न च मत्स्थानि, मम आत्मा (अहं) भूतभृत् भूतभावनः (सन्नपि) न च भूतस्थः ॥ ५ ॥

अनुवाद। मेरा ऐश्वरिक योग (माहात्म्य) देखो,—भूतसकल भी हममें अवस्थित नहीं है, मैं भूतधारक तथा भूतपालक हो करके भी भूतसकलमें अवस्थित नहीं हूं ॥ ५ ॥

व्याख्या। अब हमारा योगैश्वर्य्य देखो। एक वस्तु को और एक वस्तुके साथ मिलानेका नाम 'योग' है; और एकके ऊपर और एकके प्रभुत्व करनेका नाम 'ऐश्वर्य्य' है। इस प्रकृति वा माया और 'मैं' के संयोग स्थलको देखो। प्रकृति भूत की रानी है, और 'मैं' निरुपाधिक मैं ही मैं हूं। मुझसे और प्रकृतिसे जहां संयोग होता है, उस सन्धिस्थलमें प्रकृति मुझको स्पर्श करतेमात्र विभोर हो जाती है, परन्तु 'मैं' का होना न होना कुछ नहीं हैं। इसलिये प्रकृतिके ऊपर हमारा प्रभुत्व आपही आप हो जाता है। ऐसा अनजान भावसे इसका संक्रमण होता है कि, प्रकृति भी नहीं समझ सकती, उसी की शक्तिसे यह होता है कि "मैं" के शक्तिसे होता है; इसीलिये कहा हुआ है "न च मत्-स्थानि भूतानि"। प्रकृतिसे बढ़ करके हमारे निकट और कोई नहीं है, इसीलिये "मैं" "भूतभृत्" अर्थात् भूतोंके पोषक हो करके भी "भूतस्थ" नहीं हूं; क्योंकि, मेरी असीमता व्याप्य-व्यापकता शून्य हो करके पहले सेही विस्तृत है। इस असीमताके भीतर जो कुछ ससी-मता है वह पहलेसेही रहनेका स्थान पा चुका है; (यह सब बात झूठ है)। कोई किसीको कुछ नवीन करनेकी आवश्यकता नहीं। इस लिये फिर भी मैं भूतोंकी उत्पत्ति-

कर्त्ता होगया । जिसके पेटमें जो जन्म लेता है, उसकी माता वह है; इसीतरह ससीमकी माता असीम है ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अन्वयः । सर्वत्रगः महान् वायुः यथा (येन प्रकारेण) नित्यं आकाशस्थितः, सर्वाणि भूतानि तथा (तेन प्रकारेण) मत्स्थानि, इति उपधारय (जानीहि) ॥ ६ ॥

अनुवाद । सर्वत्रगामी महान् वायु जिस प्रकारसे आकाशमें नित्य अवस्थित है, समुच्चय भूत भी हममें उसी प्रकारसे अवस्थित है जानना ॥ ६ ॥

व्याख्या । जैसे आकाश देखनेमें असीम है, आकाश के पास वायु ससीम हो करके भी अपने अणु परमाणुमें आकाशको मिलायके असीमका साज सजलिया है, परन्तु जैसे आकाशमें उसका कोई छाप न लगा; इसीतरह जितने भूत हैं उन सबके अणु परमाणुमें ओत-प्रोत भावसे मुझको मिलाकर 'मैं' साजकर अपने सबको छिपाकर मेरा स्वरूप दिखाते हैं। परन्तु "मैं" इन सबके किसी बातमें किसी प्रकारसे लिप्त नहीं हूं। इसलिये कहता हूं कि, आकाशमें वायु सदृश "मैं" में भूतसमूह है, जान लेओ ॥६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥७॥

अन्वयः। हे कौन्तेय! कल्पक्षये सर्वभूतानि मामिकां प्रकृतिं यान्ति (मायायां लीयन्ते), कल्पादौ पुनः अहं तानि विसृजामि ॥ ७ ॥

अनुवाद। हे कौन्तेय! कल्पक्षयमें (प्रलय कालमें) भूत समूह मदीय प्रकृतिमें लीन होता है; और कल्पादिमें (सृष्टि कालमें) फिर मैं उन सबको सृजन करता हूं ॥७॥

व्याख्या। जलका घर द्वार समुद्र है। वायुके शोषण-शक्तिसे जल शोषित हो करके आकाश में उड़ जाता है, जैसे गरम भातका भाप। वह जो पृथिवीकी सर्वोच्च पर्वतकी सर्वोच्च शिखरकी सर्वोच्च वृक्षकी सर्वोच्च स्थानकी पत्ति किशलय राग करके नवीन रसमें रञ्जित होकर दर्शन करनेवालोंका मन भुलाता है, देखते हो, उसकी वह रसविन्दु भी उसी महासागरका जल है। वायुद्वारा शोषित जलकण आकाशमें उठकर वायुके सहारासे मेघरूप धरके वर्षणसे समस्त पृथिवीको सींचकर नदीरूपसे समुद्रमें मिलकर पुनः समुद्र हो जाता है। यह "कल्पादि" और "कल्पक्षय" हुआ। इसी तरह मन कल्पना परित्याग करके जब बुद्धिको आश्रय करता है, तत्क्षणात् बुद्धि अहंकारको आश्रय करती है। यह अहंकारही छोटे "मैं" अर्थात् जीव है। जबतक साधक

चित्तभेद करके विवस्वान्के ऊपर पीठमें न पहुंचे, तब तक उनको चित्तके आधीन में रहने होता है । इसीलिये क्रियाकी परावस्था भोग करके भी साधकको पुनः संसार अवस्थामें, अर्थात् क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें उतर आने पड़ता है; यह "कल्पादि" हुआ । क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्मत्व भोग किया, फिर विवश होकरके जो पुनः संसारावृत्ति हुआ, फिर जो जीव सज कर नाचने लगा, यह प्रकृतिके वशतापन्नका दृष्टान्त और दैनिक प्रलय तथा जन्म ग्रहणके भोगाभोगका बोधन है, यह जैसे अल्पकाल स्थायी है, मृत्युके बाद तैसे कुछ अधिक काल रह करके पुनः संसार प्राप्ति वा जन्म होता है । इससे और कुछ अधिक काल परिलीन अवस्था में रहनेका नाम महाप्रलय है । परिलीन अवस्थाकोही "कल्पक्षय" कहते हैं । और प्राकृतिक स्फुरण अवस्थाको कल्पके आदि कहते हैं । प्रकृति जैसे "मैं" में लगकर विभोर होकर "मुझको" न लेकर चक्कर खाती है, विवशका खेल खेलती है, प्रकृतिगत जो कुछ है वह सब भी उसी प्रकृति सदृश विवश होकर चक्कर खानेवाले खेलमें योग दिया है । यह कल्पक्षय और कल्पादि कहा गया है ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अन्वयः । (अहं) स्वां प्रकृतिं अवष्टभ्य (अधिष्ठाय) प्रकृतेर्वशात् अवशं इमं कृत्स्नं भूतग्रामं पुनः पुनः विसृजामि ॥ ८ ॥

अनुवाद । (मैं) अपने (निज) प्रकृतिको आश्रय करके, प्रकृति के वशमें विवश इन समस्त भूतोंको बारंबार सृजन करता हूं ॥ ८ ॥

व्याख्या । जैसे दर्पणमें मुख है, और गोष्पदके जलमें आकाश है, वैसेही चित्तमें प्रतिविम्बित "मैं" हूं । इस "मैं" में मैं बहु मैंको सृष्टि कर लेता हूं । जैसे सहस्र पलवाले कांचके दुरबीनमें आंख लगाकर देखनेसे एक वस्तुको एक सहस्र देखा जाता है, तैसे मैं अपने मायाको विस्तार करके एक मैंको अनन्त प्रकार व अनन्त आकारसे सृष्टि कर चुका हूं । कांचके दुरबीनको घुमानेसे जैसे वह एक वस्तु बदलते बदलते और प्रत्येक पलमें नये नये आकार धरते धरते अन्तमें पूर्वसदृश ठीक आकारमें देखा जाता है, तिसमें वह वस्तु जैसे जड़ तैसेही ठीक एक स्थानमें रहता है, हिलता डोलता नहीं, अथच दुरबीनकी टेढ़ी-सीधी फिराईमें भ्रममय बहुतेरे आकारका दृश्य दिखला देता है; वैसेही मेरे मायाकी चक्करवाले खेलके गुणसे बारंबार मेरा

जन्म, बारंबार मेरा संक्षय सरीखे भ्रम दिखला देता है। यह भी उसी कांचके वशीभूत दृश्यके सदृश माया के वशमें भूतोंके ग्राम अर्थात् शरीर-समूह इन्द्रजालकी क्रियाका दृश्य है। इसका एक भी सत्य नहीं है ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीन वदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु ॥ ९ ॥

अन्वयः । हे धनञ्जय ! तेषु कर्म्मसु असक्तं उदासीनवत् आसीनं मां तानि कर्म्माणि न च निबध्नन्ति ॥ ९ ॥

अनुवाद । हे धनञ्जय ! मैं उन सब कर्म्ममें अनासक्त तथा उदासीन सदृश अवस्थित हूं, इसलिये वह कर्म्म समूह मुझको आबद्ध नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

व्याख्या । कर्म्म (गुरूपदिष्ट मार्गमें प्राण चालन) जबतक किया जा सके, तबतकही रजोगुणकी क्रिया है। जैसे जैसे रजोगुणकी क्रियाका अवसान होता रहे, तैसे तैसे सत्त्वगुणका प्रकाश आरम्भ भी होता रहे । इस सत्त्वगुणका प्रकाश जबतक होता रहे, तबतक रजोगुण भी रहता है; जब प्रकाश शेष होकर स्थिति हो गया, होना न होना सब क्रिया मिट कर प्रकाशही प्रकाश रह गया; यह स्थितिही (शुद्ध) "तमः" है । इस तमोकोही गुणातीत अवस्था कहते हैं। इसको कर्म्म छू नहीं सकता

यह गुणके अतीत अति उच्चपद है; यहां कर्म्म पहुंच नहीं सकता। मैं "उदासीनवत्" अर्थात् उस ऊंचेमें बैठ रहनेके सदृश बैठा हूं। सत्त्व, सत्त्वरजः, रजस्तम यह सब गुण नीचेमें जैसे किल बिला करते, घुमते फिरते रहते हैं। मेरी आसक्ति इन सबके ऊपर न होनेसे तो कोई भी मुझको छू नहीं सकेगा। मेरेमें आसक्ति भी नहीं है, मुझको यह सब छू भी नहीं सकते। छूआ छूत अर्थात् गुण स्पर्श दोष ही बन्धन है, मुझमें गुण स्पर्श नहीं, इसलिये बन्धन भी नहीं है ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्त्तते ॥ १० ॥

अन्वयः। हे कौन्तेय ! अध्यक्षेण (अधिष्ठात्रा) मया प्रकृतिः सचराचरं (व्यक्ताऽव्यक्तात्मकं विश्वं) सूयते (जनयति); अनेन हेतुना (अध्यक्षत्वेन) जगत् विपरिवर्त्तते (पुनः पुनः जायते) ॥ १० ॥

अनुवाद। हे कौन्तेय ! मेरे अध्यक्षतामें प्रकृति सचराचर जगत्‌को प्रसव करता है; इस अध्यक्षता हेतु जगत् बारंबार बदलता (जनमता) है ॥ १० ॥

व्याख्या। अध्यक्ष जैसे चीनी ढोवनेवाला बैल (बरधा) है; बोझा ढोवते मरे, परन्तु दूसरा जन चीनी खाय। वैसे कार्य्य करके परिश्रम कर मरूं मैं; उस कार्य्य

का फलभागी हो दूसरा कोई । यहां मैं (अहंकार) अध्यक्ष हुआ । आकाशके ऊपर एक दृष्टिसे बहुत देर तक दृक् शक्तिको रखनेसे (ताकनेसे) लम्बे लम्बे गोल गोल, हिजिर-विजिर कितना क्या देखनेमें आता है; वह सब जैसे दृष्टिके बिकार बिना कोई वस्तु नहीं है, तैसे चित्तपटमें प्रतिबिम्बित चिच्छायाके साथ मिलकर प्रकृति नाना प्रकार की सृष्टि कर डालती है । वही सब सृष्टि चर (जो चल फिर कर घूमता है, जैसे जीव जानवर) और अचर (जो चल नहीं सकते, जैसे पेड़ पत्थर) है; यह सब भी उस दृक्शक्तिके विकारसे उत्पन्न आकाशके ऊपरके स्वरूप सदृश परिवर्त्तन शील उत्पत्ति-स्थिति-लय धर्म्मी है । परन्तु द्रष्टाका दृक्शक्ति और मायाका संयोग ही उसका हेतु है । यह तो असल बात हुई; इसमें फिर धड़-मुड़की टेढ़ी टेढ़ाई ढंग कितना है !—मैं करता हूं, मैं बोलता हूं, यह मेरे, वह मेरा, हमसे बड़ा कौन है ! हाय ! हाय ! हाय ! हँसी भी आवे ! रोलाई भी आवे ! ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

अन्वयः । मोहिनीं राक्षसीं आसुरीं च एव प्रकृतिं श्रिताः (आश्रिताः) मोघाशाः मोघकर्म्माणः मोघज्ञानाः विचेतसः मूढ़ाः (जनाः) मम भूतमहेश्वरम् परं भावं अजानन्तः (सन्तः) मानुषीं तनुं आश्रितं मां अवजानन्ति (अवमन्यन्ते) ॥ ११ ॥ १२ ॥

अनुवाद । मोहकरी राक्षसी और आसुरी प्रकृतिके आश्रय करके ही मोघाशा, मोघकर्म्मा, मोघज्ञान, विक्षिप्तचेता मूढ़ (जना) मेरे भूतमहेश्वरके परमभावको न जानकर मानुषी तनुधारी मेरी अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

व्याख्या । जिसके मन है उसीको मानुष कहते हैं। उसी मनका धर्म्म सङ्कल्प और विकल्प करना है । उस मनोधर्म्ममें जो कोई आतुरता दिखावे, अर्थात् संकल्पमें हो वा विकल्पमें ही हो,—कार्य्य सिद्धि न कर सकनेसे ही जैसे "मैं मर गया", "मेरे जैसे सर्वस्वान्त हुआ" ऐसा अन्धतामिश्रमें डूब जाता है, वही मानुषी तनुके आधीन है । इस प्रकार अन्तःकरणकी दुर्बलता जिसकी है, वही मूढ़ है । क्योंकि, भोगलालसाके आपूरणसे वह बँचता है, और न होनेसे मरता है । इस अवस्थापन्न लोग, संकीर्णचेता है; "मैं" जो अनादि अनन्त, इस भूत-बाजारके महान ईश्वर हूं, सो अपनेको समझ नहीं सकते; इसलिये आपही अपनेको छोटेसे डिबियामें शालग्राम शिला (नारायण) सजाकर अवज्ञा करता है । अनित्य आशा, अनित्य कर्म्म, अनित्य

ज्वालामयी राक्षसी, आसुरी (आत्मघातिनी) प्रकृति का आश्रय लेनाही इसका कारण है ॥ ११ ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३॥

अन्वयः । हे पार्थ ! तु (किन्तु) दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः महात्मानः अनन्यमनसः (सन्तः) मां अव्ययं भूतादिं (जगत्कारणं) ज्ञात्वा भजन्ति ॥ १३ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! परन्तु दैवीप्रकृति विशिष्ट महात्मागण अनन्यमना होकर मुझको भूतके आदि और अव्यय जानकर भजते रहते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या । महत् प्रधान है, और मैं आत्मा हूं। यह प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति वा माया जब सब छोड़ कर 'मैं' को सन्मुखमें लेकर बैठ रहे, अथच "मैं" में मिल न जाय, तथा पीठके ओर (संसारवाले) कोई कार्य्य भी न करे, मायाकी इस अवस्थामें जो रहते हैं, वही साधक महात्मा हैं। यह अवस्था, साधन बलसे मन-बुद्धि-अहंकार-चित्तके चारों अवस्थाको पीछे करके, 'मैं'-मुखी दृष्टिसे होता है; और नीचे दिशा (चित्तके भी कार्य्यविमुक्ति अवस्थाके प्रारम्भके नीचे) में किसी अन्तःकरणके धर्म्ममें रहनेसे (यह) होनेका युक्ति नहीं

है । यह तो अतिमात्र तीव्र साधकका काम है । इस समय प्रकृति प्रसव शक्ति त्याग करके पतिरता होती है इस करके "दैवी प्रकृति" कहा हुआ है । साधक भी इस अवस्थापन्न प्रकृतिके आश्रय करके मन आदि अन्तः-करण चतुष्टयको त्याग करके "मैं" को भजते रहते है, अर्थात् भूतके आदिकारण––सर्वशक्तिमती प्रकृतिके सर्वशक्तिकारण "मैं" कोही "मैं" जान करके, अव्यय निश्चय करके, मिल करके, एक हो जानेका चेष्टा करते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

अन्वयः । (ते महात्मानः) सततं मां कीर्त्तयन्तः दृढ़व्रताः (सन्तः) यतन्तः, भक्त्या मां नमस्यन्तः च, (तथा) नित्ययुक्ताः (सन्तः) उपासते ॥ १४ ॥

अनुवाद । (वही महात्मागण) सतत मेरे कीर्त्तन करके, दृढ़व्रत होकर प्रयत्न करके भक्ति सहकार मुझको नमस्कार करके, और नित्य-युक्त हो करके, उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या । सतत (अविच्छिन्न भावसे) जब प्रकृति-पुरुषका चाक्षुषी मिलन होता है (प्रकृतिही साधक है), तब साधक तृतीय चक्षुकी दृक्शक्ति द्वारा मुझको साधकके

भीतर घुसाकर, भीतर बाहर अणु परमाणुमें मिलाकर आधा "मैं" हो जाकर, मेरी निर्गुणता और साधककी सगुणता एक करके सगुणमें विकार और निर्गुणमें निर्म्मलता देखते हैं। यह जो देखना है, उसीको मेरा कीर्त्तन कहते हैं अर्थात् अपने आशुकका गुण अकेले बैठकर मनही मनमें जैसे आलोचना करके प्रसन्न होता हूं, अथच मेरी उस प्रसन्नताको बाहरका कोई नहीं जान सकता; मनकी प्रसन्नता मनमें रह करके जैसे मनही मनमें मनको मतवाला करता है, यह कीर्त्तन भी उसी प्रकार है। निर्गुणकी निर्म्मलता जिस प्रकारसे और गुणके विकारमें मेल न हो सके; तथा गुणके विकार भी जिस करके निर्म्मलता में मलिनता मिला न दे सके, इस विषयमें दृढ़ता सहकार सतर्क (हुंशियार) होते हैं। इसीकोही दृढ़व्रत होकर प्रयत्न करना कहते हैं। मलिनता प्रकृतिमें और निर्म्मलता "मैं" में है। एक बार निर्म्मलतामें लक्ष्य, फिर मलिनतामें आना, फिर निर्म्मलतामें लक्ष्य, फिर मलिनतामे आना—यह जो ऊंचे नीचे करना अब आकर खड़ा हुआ, इसीकोही नमस्कार कहते हैं। यह गुरु वाक्यमें अटल विश्वासका फल है। इस गुरुवाक्यमें अटल विश्वासका नाम 'भक्ति' है। इस प्रकार जाना आना करते करते प्रकृतिकी अनित्यता "मैं" के संयोगसे

धटती रहती है। "मैं" नित्य हूं; प्रकृति क्रम अनुसार "मैं" में युक्त होकर मेरे सेवामें मिलजाती है,—जैसे स्फटिकमें निकटस्थ जवाफूल (अढ़ौल) के लाल रंगका संक्रमण है। जवाफूल पृथक् है स्फटिक भी पृथक् है। स्फटिक अत्यन्त स्वच्छ है, जवाफूलके रंगको अपने में धरकर जैसे जवाके रंगमें रंगीला हो जाता है, प्रकृतिकी 'मैं'-उपासना भी तद्रूप है ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्वयः। अन्ये अपि च विश्वतोमुखं (सर्वात्मकं) मां ज्ञानयज्ञेन एकत्वेन (अभेदभावेन) पृथक्त्वेन (पृथक्भावेन) बहुधा (बहुभावेन) यजन्तः (पूजयन्तः सन्तः) उपासते ॥ १५ ॥

अनुवाद। दूसरे लोग भी सर्वात्मक मुझको ज्ञान यज्ञसे (एकत्व) अभेद भावस, (पृथकत्व) पृथक भावसे, और (बहुधा) बहु भावसे पूजा करके उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या। एकको और एकमें आहुति देनेका नाम यज्ञ है—जैसे विल्वपत्रमें घी लगाकर अग्निमें फेंककर हवन करना। तैसे साधनाके शेषमें जैसे जैसे निजबोधरूप ज्ञानका प्रकाश होता रहता है, वैसे वैसे उस ज्ञानाग्निमें अज्ञानता आपही आप आहुतिकी सदृश पड़

करके जलकर चिर दिनके लिये भस्म हो जाता है, और स्वरूपमें स्थिति भी हो जाती है। यह ज्ञानयज्ञ हुआ; यह उदार है। इसमें समझाय दिया कि, "मैं" बिना और कुछ नहीं है। यह एक-ज्ञान जब न था, तब विश्व हुआ था। इस विश्वमें नानात्व,—मैं, तुम, यह, वह, सात, पांच कितने क्या हैं। जिससे जिसका बुद्धि जरा भी अधिक निर्म्मल है, वही उस अनिर्म्मल बुद्धिको अपना उपासक बना लेता है, और वह अनिर्म्मल उसीको ही उपासना करता रहता है। ऐसे शक्ति, शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य्य, मनसा, महाकाल आदि कितने क्या उपास्य और उपासकके तरङ्ग चल रहे हैं, देखनेमें आता है। परन्तु वस्तु जो एकही एक है, उसे अर्थभेदसे खुलासा कर-लेनेका शक्ति वह न पायके गोलमाल कर देता है। साधक जब गुरुमहाराजके पास प्रथम पहुंचा, तब वह कुछ भी नहीं जानता था; जाकर प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—"ठाकुर! मैं क्यों यहां आया हूं? मैं क्या चाहता हूं? मैं क्या करूंगा?" अहो! इस सरलताके आधार शिष्यको प्राप्त होकर दयाका सागर गुरुदेव कहें—"वत्स! तुम इस त्रितापमय संसारके ज्वाला में जलते हुए यहां आये हो, तुम्हारी मुक्ति चाहिये, इस त्रिताप और तुमको जैसे किसी तरहसे धोखा दे

न सके । तुम जो करोगे, वह मैं तुमको कहता हूं ।' यह कह करके गुरुदेवने जिज्ञासु शिष्यकी बहिर्म्मुखी वृत्तिको अन्तर्म्मुखमें चित्त पथमें ला दियें । जब साधक मूल आधारमें, मूलाधारके ऊपर उठ बैठे, तत्क्षणात् अपना अधिष्ठान को (स्वाधिष्ठान) प्राप्त हुए । जब अधिष्ठान अर्थात् बैठनेका जगह मिला, वैसेही मणिमय पुरमें आ पहुंचे। जब मणिमय पुरके भीतर उपस्थित हुए, तत्क्षणात् देखा कि और किसीसे उनको आहत होनेका डर नहीं है। जब आहत होनेका डर दूर होगया तत्क्षणात् अनाहत में "विशोका ज्योति" जिसमें त्रितापकी ज्वाला छूट जाता है—सोचना दूर होता है, वही ज्योति खिल उठी । जब विशोका ज्योति खिल उठी, साथही साथ विशुद्ध अर्थात् निर्म्मलत्व प्राप्ति हुई । जब निर्म्मलत्व प्राप्ति हुई, तत्क्षणात् युगपत् अज्ञानका शेष हुआ । जब अज्ञानताका शेष हुआ तत्क्षणात् स्वस्वरूपमें अवस्थान हुआ । इस स्वस्वरूप में अवस्थान और ज्ञानाग्निमें अज्ञानताकी आहुति, एकही बात है । अब समझ लो, साधक ! एकत्व और पृथक्त्व क्या है ? ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

अन्वयः । अहं क्रतुः, अहं यज्ञः, अहं स्वधा, अहं औषधं, अहं मन्त्रः, अहं एव आज्यं, अहं अग्निः, अहं हुतम् ॥ १६ ॥

अनुवाद । मैंही क्रतु, मैंही यज्ञ, मैंही स्वधा, मैंही औषध, मैंही मन्त्र, मैंही आज्य, मैंही अग्नि, मैंही हवन (होम) हूं ॥ १६ ॥

व्याख्या । द्वैत दोका नाम है, और अद्वैत एकका नाम है । यह द्वैताद्वैत विवर्जित "मैं" हूं । अब साधक ! देखो, तुममें द्वैत भी नहीं है, अद्वैत भी नहीं है, क्योंकि तुम "मैं" हो चुके हो । चौदह भुवन शब्दके भीतर जो कुछ है, वही सब 'मैं' हूं । मैं क्या हूं ?

"अहं क्रतुः" । क्रतु कहते हैं वेदविहित क्रियाको, अर्थात् ज्ञानके द्वारा जो कुछ क्रिया किया जाता है वही "मैं" हूं । क्रतु—सोमरस-साध्य याग * है "सोम" कहते हैं चन्द्रमाको; इस चन्द्रमासे जिस सुधाका क्षरण होता है वही पुष्टि अर्थात् अमृत है । इस अमृतसे जगत्में जो कुछ दर्शनीय है, उसीका पुष्टि साधन होता है, (८म अः ४र्थ श्लोक "अधियज्ञ" देखो) । जब शरीरके भीतर कोई कुछ उपादान अर्थात् खाद्य दिया जाता है, वही खाद्य पेटके भीतर जानेसे जठराग्निके

* "सोमधारा क्षरेत् या तु ब्रह्मरन्ध्रात् वरानने ।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः ॥"
आगमसारः ।

द्वारा उसका पचन होता है। पश्चात् सींठी समूह सींठीके दरवाजेमें, जलांश जलके दरवाजेमें, जो कुछ असार अंश अपान वायु फेंक देता है। पचकर जो एक दम सार होकर खड़ा हुआ, जिसको किसी प्रकार से अग्नि और क्षय नहीं कर सकी, उसीका नाम अमृत हुआ। वही अमृत मेरुदण्डको आश्रय करके वायुके सहारासे शरीरके प्रत्येक अणुके संयोग स्थलमें उन सबका क्षयांश आपूरण करके सहस्रारके मूल-त्रिकोणमें उठपड़ा। उस त्रिकोणमें तीन मुख हैं। एकमुख ईड़ा नाड़ीमें, एकमुख पिङ्गलामें, और एकमुख सुषुम्नामें मिला है। ईड़ा नाड़ीसे जो धारा शरीरमें घुमा फिरा करता है उसीसे शरीरकी पुष्टि होती है। (साधक देखेंगे कि जब उनका वाम नासिकामें श्वास वहेगा, तब उनको क्षुधा नहीं रहेगी)। और जो धारा सुषुम्ना मार्गमें सञ्चरण करती है उससे साधकके ज्ञानकी वृद्धि होती है। और जो धारा पिंगलामें वहती रहती है उस धाराको सूर्य्यरूपिणी महामाया खा जाती है। (साधक देखेंगे, जब उनके दक्षिण नासामें श्वास बहेगा, तब उनको क्षुत्बोध होवेगा, क्योंकि इस सुधाकी अपक्षयमें आपूरणका प्रयोजन होगा, अर्थात् खाद्य द्रव्य शरीरमें देनेका प्रयोजन होगा,--खाद्य द्रव्यका प्रयोजन समझाय देनेकोही क्षुधा

कहते हैं) । साधक गुरूपदिष्ट क्रम अनुसार जिह्वाको गलगह्वरके भीतर प्रवेश कराकर ऊर्ध्वमुखमें नासा-रन्ध्रकी पश्चिम ओर भिड़ाकर श्लेष्माका स्थान अतिक्रम करके वायें तरफ झुका देनेसेही सुधाकूप अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को पावेंगे । उस स्थानसे होकर वह अमृत पिङ्गलामें जाती है । रसना पिङ्गलाका द्वार अवरूद्ध करनेसे, जिह्वा की अग्रभागको दांतसे दबानेसे जो योनिस्थान देखा जाता है, उस योनिस्थानमें उस सुधाकूपस्थ लिङ्गका संयोग होकर सुधाक्षरण-प्रवाह बहता रहता है । वह सुधा जिह्वा को आश्रय करके जठरमें आकर वैश्वानर अग्निमें पड़ता है । वैश्वानर और उसको पचन नहीं कर सकता, अथच वह सुधा वैश्वानरको तृप्ति दे करके मेरुदण्डको आश्रय करके, तथा पुनः समस्त शरीरके प्रत्येक अणुके संयोग को पुष्टि देकर पुनराय सहस्रारका मूल त्रिकोणमें उठ जाता है। ऐसे बारंबार जाना आना होता रहता है। इस अवस्थामें आ पहुंचनेसे साधकका अपक्षय शून्य हो जाता है । इस अपक्षय-शून्यताका नामही परिणाम-शून्यता है। यह परिणामशून्यता जिसमें है, वही अपरिणामी है। जो अपरिणामी है वही सत्, ब्रह्म, वा "मै" हूं । अब साधक ! समझ लो, "अहंक्रतुः" वाक्यका अर्थ क्या है ?

"अहं यज्ञः" । इस आदान-प्रदानको ही यज्ञ

कहते हैं; क्योंकि सर्व प्रकार यज्ञ जिसको आश्रय करके रहता है, वही विष्णु है (विष+ण+उ)। विष=व्याप्ति वा व्यापन है; ण=निर्गुण, उ=पञ्चदेव-समष्टि, अर्थात् शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु, सूर्य्य--इन पांचोंको गलाकर एक कर देनेसे पञ्चदेव समष्टि होती है। इस अवस्थामें सब एक हैं, किसी गुणकी क्रिया नहीं रहती,—जैसे चीनी घोरा हुआ इक्षुका रस; सबमें ही सब व्याप्त हो रहा है इस करके, विश्वव्यापक चैतन्य आत्माही विष्णु है। इस शरीर रूप विश्वमें वह आदान-प्रदान रूप पुष्टि-क्रिया ही पालन है। जिस चैतन्य-सत्त्वासे वह पालन सम्पादित होता है वही विष्णु है; वही विष्णु यज्ञेश्वर है, और इस लिये वह यज्ञ भी मैं हूं।

"अहं स्वधा"। स्वधा अग्नि देवताकी पत्नी है। अग्निका और एक नाम तेज है। यह तेज-सोहागिनी शक्ति भी "मैं" हूं। यह अवस्था अच्छी तरहसे व्यक्त करनेकी युक्ति नहीं है। साधक! समझ लो, जीवत्व से ब्रह्मत्व लेनेके लिये चलो तो चित्तके ऊपर दिशामें उठनेके समय जो महाशक्ति तेजकी सहायता करती है, वही स्वधा है। "स्व" शब्दमें अपना; और एक जगहसे चलना प्रारम्भ करके चलते चलते तदाकार और एक विश्राम भूमिकामें उपनीत होनेका नाम 'धा' है, जैसे

गीतका सम । मैं जो "मैं" से सृष्टिसुख भोग करनेके लिये आत्महारा होकर दौड़ा था, सृष्टि भोगके पश्चात् पुनः जो 'मैं' जहांसे दौड़ा था उसी 'मैं' में आ पहुंचा, यही हुआ मेरा "धा" । इसीलिये "मैं" स्वधा हूं ।

"अहं औषधं" । औषध कहते हैं जो रोग नाश करके जीवको बँचा रक्खे । जीव जबतक जीव रहता है, तबतक किसी प्रकारसे उसको बँचनेका उपाय नहीं है । जीवका कार्य्य जन्म और मरण भोग करना ही है । उस जन्म-मरण भोगकोही भवव्याधि कहते हैं । इस व्याधिके वैद्य श्रीगुरुमहाराज हैं । उनका श्रीमुखनिःसृत जो "मैं" वाचक शब्द है, उसीकोही औषध कहते हैं । उसका प्रयोग करते करते, वह शब्द जन्म-मरण रूप जीवत्वकी क्रिया शेष कराकर "मैं" त्वमें ला फेंकके "मैं" करा देता है, आप भी 'मैं' हो जाता है । इसलिये औषध भी 'मैं' हूं ।

"अहं मन्त्रः" । मनका त्राण जो करे, वही मन्त्र है । मनका धर्म्म संकल्प और विकल्प करना है । एक छोड़ना, एक पकड़ना,—एक छोड़ना, एक पकड़ना; जोंकके सदृश मनका यह कार्य अविश्रान्त चलताही रहता है । यह मन जब सम्पूर्णरूप वृत्तिशून्य हो पड़ता है, मनका वह निर्वृत्तिक अवस्थाही 'मैं' हूं । इसलिये 'मैं' मन्त्र हूं ।

"अहं आज्यं"। आज्य कहते हैं हविको । जो पुनर्भव वही "हवि" है। क्योंकि, हवनसे हुत वस्तु सूक्ष्मत्व ले करके वायुतत्त्वके साथ मिल करके आकाशमें उठकर पाँचो तत्त्वकोही शोधन कर देता है; अर्थात् बली कर देता है। पुनः नवीन शक्तिसे शक्तिमान हो करके प्रत्येक तत्त्व सहस्र मुखसे क्रिया करने लगता है। इस क्रियासे समस्त प्रजा-शरीरमें समयोचित आवश्यकीय शक्ति सञ्चार होती है। इसलिये वह सब प्रजा भी फिर सुन्दर सुन्दर नवीन प्रजाको उत्पन्न करती है। यह बहिर्जगत्की क्रिया हुई। और जब अन्तर्यागमें, साधक! तुम "मैं" में "मैं" को हवन करो, वह भी प्रत्यक्ष करके समझ लो। तुम्हारा जो बहिर्जगत् का "मैं" (अधोमुखी वृत्ति) है उसी मैंको गुरूपदिष्ट क्रियासे समेटते समेटते सब समेटना शेष करके जब सर्वशेषके "मैं" में कूदने जाते हो, तब एक बार देख लो, उस "मैं" सेही तुम कटिबद्ध होके सृष्टिमुखी वृत्तिको लिये थे, कितने क्या सृष्टि भी कर डाले थे; अब उन्हीं सब सृष्टि समेट करके, जिस मैंसे बाहर हुए थे, फिर वही "मैं" होते हो। इसलिये आज्य वा हवि शब्दमें पुनर्भव अर्थात् 'मैं ही मैं' हूं।

"अहं अग्निः"। अग्नि भी मैं हूं। अग्नि कहते हैं स्वयोनिभूक् को, अर्थात् अपने उत्पत्ति स्थानको जो

खाता है। काष्ठके भीतर अग्नि है, परन्तु आपही आप काष्ठ जल नहीं उठता। परन्तु दो काष्ठ लेकर घिसनेसेही अग्नि निकल आती है; अपना उत्पत्ति स्थान जो काष्ठ है, उसको खा डालती है; पश्चात् आप भी विश्रामको लेती है। जबतक वह काष्ठ और अङ्गार रहता है, तबतकही अग्निका नाम ऊर्ध्वशिख है, अर्थात् जिसकी शिखा ऊंचे दिशामें है। जब मैं मायाके गर्भमें प्रवेश किया था, प्रवेशके पश्चात् अपना स्वरूप छिपा रक्खा था, तब वह काष्ठगत अग्निके सदृश मायाके शरीरमें विराजता था। जितनी दुर्द्दशा वा सुदशा काष्ठमें आ पड़ती थी, काष्ठके साथ मैं भी उसको भोगता था। तैसे मायामें भी है। यह सृष्टिमुखी वृत्तिका काष्ठ हुआ। फिर जब मैं-मुखी वृत्ति लेनेका समय आया, मेरे उद्धारके कर्त्ता श्रीगुरुदेव ने उन दोनों मुखको एक करके जैसे रगड़ दिया वैसेही झटसे जलकर मेरी जो योनि, माया वा महत् है, उसको खाकर आपही आप क्रिया समाप्ति करके ऊंचेमें आकर विश्राम लिया, अर्थात् "मैं" हो गया। अतएव अग्निभी 'मैं' हूं।

"अहं हुतं"। हुत शब्दमें हवन कार्य्य, अर्थात् जिस गुरूपदिष्ट क्रियासे, इस जगद्-व्यापारको "मैं" में अर्थात् ब्रह्माग्निमें आहुति देकर मुक्ति लिया जाता है वही क्रिया है। वह क्रिया भी "मैं" हूं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च ॥ १७ ॥

अन्वयः । अहं एव अस्य जगतः पिता, माता, धाता, पितामहः, वेद्यं, पवित्रं, ओङ्कारः, ऋक्सामयजुः एव च ॥ १७ ॥

अनुवाद । मैंही इस जगत्का पिता, माता, धाता, तथा पितामह हूं; मैंही वेद्य, पवित्र, ओङ्कार, ऋक्, साम और यजुः हूं ॥ १७ ॥

व्याख्या । जगत् अर्थमें जो जाता है। जो जाता है, उसका उत्पत्तिकर्त्ता "मैं" हूं; क्योंकि, चित्तमें प्रतिबिम्बित हो करके मैं जो "मैं" कह करके अहंकार करता हूं, उसी अहंकारसेही सृष्टि होती है । इसलिये मैं सृष्टिका पिता व जनयिता हूं ।

और "माता"?--जो जिसके पेटमें जनमता है, वही उसकी माता है। मैं असीम हूं, यह ससीम जगत् मेरे पेटमेंही रहा है, इसीलिये मैं माता हूं। साधक ! अपने अधिक विश्रामको अल्प विश्राम देकर मिला लो। यह थोड़ा कम और वह अधिकसे अधिक है; यही मात्र प्रभेद है ।

"धाता"।--जो धारण करके रहता है। वह देखो, वहभी वही 'मैं' हूं; क्योंकि, मैं समस्तको गर्भमें धारण करके बैठा हूं ।

"पितामह" ।--सृष्टिके पहले जब माया हमसे पृथक् नहीं हुई थी, खारे जल सरीखे जब हममें घोली रही थी, वही मैं एक मैं हूं । पश्चात् चित्तमें प्रतिफलित विम्ब एक मैं हूं । तत्पश्चात् जगत्का रचना-माला और एक मैं हूं तभी तीन 'मैं' हुआ । इस शेषवाले मैंका पितामह वह पहलेवाला 'मैं' हूं ।

"वेद्यं"।--ज्ञाता ज्ञानसे जो जाननेके वस्तुको जानते हैं, उन्हींको ज्ञेय कहते हैं । अब साधक ! समझ लो, यह जाननेका वस्तु वह लवणाम्बु "मैं" बिना और कुछ नहीं है । इसलिये मैं वेद्य अर्थात् जाननेका वस्तु हूं ।

" पवित्रं " ।--ग्लानिशून्यं; अर्थात् विकारी माया जहां विकार लेकर कोई नाम-रूपका खेल खेलने नहीं सकता, ऐसा मैं हूं ।

"ॐकारः" ।--अर्थात् जिसको उच्चारण करना हो तो अति सूक्ष्मसे खींचकर अति स्थूल दिखलाकर पुनः उसी अति सूक्ष्ममें फेंककर नैरन्तर्य्य रचना करके देखना होता है; वही प्रणव मैं हूं । (साधक ! इसे अच्छी तरह प्रणिधान करके समझ लेवेंगे) ।

"ऋक् साम यजुरेव च" । (१)—ऋक्=पूर्व आम्नाः (२) साम=पश्चिम आम्नाः (३) यजुः=दक्षिण आम्ना है ।

ऋक्-'ऋ' अर्थमें पावन, 'क' अर्थमें सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा

है । सृष्टिकर्त्तारूप ब्रह्माको जो पावन (पवित्र) करता है, वही ऋक् अर्थात् वेद है । वेद=विद्+घञ्, विद् धातुका अर्थ ज्ञान है । स्थूल शरीरधारी मनुष्योंमें सब कोई ज्ञान-द्वारा मुक्ति लाभ करते हैं । विचारसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । कर्म्मका अर्थ लक्ष्य कर चलनेका नामही विचार है । इसलिये ऋक्—कर्म्मकाण्डप्रधान, उपासनामय, पूर्व गति वा सृष्टि-आड़म्बर है । इसका बीज अहंकार है इसलिये "मैं" हूं ।

साम—स्+आ+म । स्=सूक्ष्मश्वास, आ=आसक्ति, म=मणि; सूक्ष्मश्वासमें आसक्ति देके (क्रिया गुरूपदेशगम्य) श्वास स्थिर हो जानेके पश्चात् स्वच्छ आवरणके भीतरसे हीराके जल सरीखे जो ज्योति प्रकाशित होती है; उस ज्योतिमें "मैं" और "मेरे" इन दोनोंका भेद समझा देता है, साधकलोग जिसको ज्ञानालोक कहते हैं,—जिस आलोककी शिखा देखनेकी चेष्टा करनेसे सर्वदा पश्चिम-मुखी है, दिखाई देता है;—वही "साम" है । "हिरण्मयेन कोषेन सत्यस्यापिहितं मुखं । तच्छुभ्रज्योतिषां ज्योतिः तद् यदात्मविदो विदुः"—इति श्रुतिः । वह ज्योतिही 'मैं' हूं, अतएव मैं साम हूं ।

यजुः—य+ज्+उः । यं—स्वरूपे, जं-जायमाने, उ—स्थितिका स्थान है । साधन-समयमें योनि मध्यगत ज्योति-

स्मेय जो स्वरूप दर्शनमें आता है, जिसको आत्मदर्शन कहते हैं; जिससे--मैं देह नहीं हूं, मेरी देह भी नहीं है, इन दोंनोसे मैं अत्यन्त भिन्न हूं, अथच मैं कुछ न करके भी देहको धारण कर रहा हूं, स्पष्टतः समझा जाता है; वही साक्षात् ज्ञान स्वरूप यजु भी 'मैं' हूं। दक्षिण दिशामें देखा जाता है, इसलिये साधक गण इसको दक्षिण आम्ना कहते हैं ॥ १७ ॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

अन्वयः । (अहमेव) गतिः, भर्त्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणं, सुहृत्, प्रभवः, प्रलयः, स्थानं (आधारः) निधानं (लयस्थानं), अव्ययं, बीजं ॥ १८ ॥

अनुवाद । मैं ही—गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत, प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान और अव्यय बीज हूं ॥ १८ ॥

व्याख्या । गति--परिणामको कहते हैं। इस जगत् की 'गति' अर्थात् परिणामस्थल 'मैं' हूं। 'भर्त्ता'—जो भरण करे वा जो पोषण करे; पालन कर्त्ता है। यह जगत् अहंकारसे पालित है; वह अंहकार 'मैं' हूं । 'प्रभु' स्वामी । इस जगत्का स्वामी 'मैं' हूं। "साक्षी" देखने वाला है। इस जगत्का द्रष्टा 'मैं' हूं। "निवास" शब्द

में घर मकान है। जिसके भीतर रहा जाता है वही मकान है। यह जगत् मेरे भीतर रहता है, इसलिये 'मैं' जगत् का निवास हूं।

'शरण'—वही है जिसके पास जानेसे विपदसे रक्षा होता है। जगत्भोगही अर्थात् जन्म-मरणही जीवका विपद है। जो जाता है वही जगत् है। इस जाने का भ्रम जब "परं" दृष्टिसे मिट जाता है, तबही चिरन्तनत्व प्रकाश पाता है। इस चिरन्तनमें विच्छेद नहीं है, चञ्चलता नहीं है; इसलिये चिरन्तन स्वपद हैं, और स्वपदका विपरीत विपद है। 'मैं' में चिरन्तनत्व चिर विद्यमान कह करके, इस जगत्का विपदसे परित्राण कर्त्ता भी 'मैं' हूं।

'सुहृत्'—इस जगत्से किसी प्रत्युपकारका प्रयोजन मेरा नहीं है, अथच सर्वदा मैं जगत्का कल्याण करता हूं। इसलिये मैं जगत्का सुहृत् हूं, अर्थात् जीवरूपसे नाचता हुआ मैं जगत्का अस्तित्व सम्पादन कर रहा हूं। अर्थात् 'मैं' जगत्के मतामें मन मिला रहा हूं—'सदैकानुमतः सुहृत्' जीते रहनेके नाम कल्याण है और मृत्युके नाम अकल्याण है।

'प्रभव'—महामाया हमको जगत्रूपसे प्रसव करती है कह करके, और मैं जगत्रूपसे उत्पन्न होता हूं इस

करके प्रभव भी 'मैं' हूं ।

'प्रलय'—यह विश्व ब्रह्माण्ड जगत् कल्पान्त होनेसे हमहींमें विश्राम करता है, इस करके 'मैं' ही प्रलय हूं ।

'स्थान'—शब्दमें आधार है । यह जगत् हमहींमें भासमान है । इस हेतु करके 'मैं' ही स्थान हूं ।

'निधान'—अर्थमें सर्व कार्य्यके परिसमाप्तिमें जहां जाना होता है । इस जगत्का कार्य्य शेष होनेसे एक मात्र 'मैं' ही 'मैं' रहता हूं ।

'वीज'—जिससे इस जगत्की उत्पत्ति होती है । वह भी 'मैं' हूं । और सच्चे 'मैं' को लिङ्ग-संख्या-कारक देकर कोई नहीं समझा सकता है, इसलिये 'मैं' 'अव्यय' अर्थात् विकार-विहीन हूं ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अन्वयः । हे अर्जुन ! अहं तपामि, अहं वर्षं उत्सृजामि निगृह्णामि च; अमृतं च मृत्युः च, सत् असत् च, अहं एव ॥ १९ ॥

अनुवाद । हे अर्जुन । मैंही ताप प्रदान करता हूं; मैंही वृष्टि धारा उत्पन्न करता हूं फिर आकर्षण करता हूं; मैंही अमृत, मृत्यु, सत् और असत् हूं ॥ १९ ॥

व्याख्या। तप=तापने। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजीके ऊपर प्रथम अशरीरि वाणी 'तप' है। साधक जब क्रियाविशेष द्वारा नादमें जा करके पहुंचते हैं, तब उनको ज्योति प्रत्यक्ष होती है। उस ज्योतिकी महियसी शक्ति इतनी है कि, उसके दर्शनमात्रसे मन संकल्प-विकल्पको अलग छोड़कर उस ज्योतिके भीतर घुस जाता है। क्योंकि ज्योति मनको छा लेती है, मन भी अपने धर्म्मके साथ मिट जाता है। मनके अभाव होनेसे शरीर-वाक्यादि सब विस्मृतिको प्राप्त होती है। इसलिये जगद्व्यापार मिट जा करके अन्तःकरणका आवरण खुल जाता है। और 'मैं ही मैं' विना दूसरे बोध्य-बोधन नहीं रहता। यही समाधि-स्थिति, क्रियाकी परावस्था वा प्रश्वासका शेष है। यही आकर्षण वा तापन है,—जैसे सूर्य्य किरणसे समुद्रका जलकण आहरण है।

'वर्ष'=विकर्षण वा स्राव है। वह जो समाधिस्थ चित्त-लय अवस्था है, उसमें संसार बीज रहता है; क्योंकि शरीरका शेष निश्वास न फेंक करकेही यह अवस्था होती है। इसलिये पुनः संसार-अवस्थामें आने पड़ता है। उस आनेकोही विकर्षण वा वर्षण कहते हैं। यह प्रकृतिकी संसारमुखी गति वा निश्वास है।

'निग्रह'—निः=नास्ति, ग्रह = ग्रहण, अर्थात्

जहां ग्रहण नहीं है, फिर त्याग भी नहीं है, ऐसा जो ग्रहण-त्याग शून्य अवस्था है, उसीको निग्रह अर्थात् प्रलय कहते हैं। प्रकृति-विलयका नाम प्रलय है। और सृष्टिको उत्सृजन कहते हैं प्रकृतिका स्फुरण सृष्टि है। यह दोनों ही "मैं" से होती हैं। संसार-जालसमेटकर प्रकृति जब "मैं" में विश्राम करती है तबही अमरत्व और सत् अवस्था होती है। फिर जब "मैं" से खिसककर जगत् जालका विस्तार करती है, तब मर वा असत् अवस्था है। असत् कहते हैं तीनों कालमें जिसके विद्यमानताका अभाव है अर्थात् केवल भ्रम। साधक! देखो, इन सब में एकमात्र मैं ही मैं विद्यमान हूं, केवल वाणीकी मार पेंच मात्र है। जब तुम मुझको ग्रहण करते हो, उसीको निग्रह कहा जाता है। यदि तुम न उतरो तो तुम्हारा 'त्वं' त्व चला जाता है, और तुम "मैं" हो जाते हो। यदि तुम उतर आ पड़ो, तबही उत्सृजन होता है, अर्थात् ऊंचेमें जो तुम "मैं" हुए थे, उतर आकर फिर उसी "मैं" को तुम सृष्टि कर डालो। तब ऊंचेवाला मैं तुम्हारे लिये "तुम" होगया, और नीचेवाला "मैं" जो तुम थे उसी तुमको तुम "मैं" कर लिया। अतएव सब दिशामें मैं ही मैं वर्त्तमान हूं॥ ११॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

अन्वयः। त्रैविद्याः (ऋक्यजुसामविदः) यज्ञैः मां इष्ट्वा (संपूज्य) सोमपाः पूतपापाः (सन्तः) स्वर्गतिं (स्वर्गगमनं) प्रार्थयन्ते; ते पुण्यं (पवित्रं) सुरेन्द्रलोकं आसाद्य (संप्राप्य) दिवि दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति (भुञ्जते) ॥ २० ॥

अनुवाद। त्रिवेद-वेत्तागण यज्ञानुष्ठानसे मुझको पूजा करके सोमपायी तथा निष्पाप होकर स्वर्गगतिकी प्रार्थना करते हैं; वह लोग पवित्र सुरेन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देव भोग सब भोग करते हैं ॥ २१ ॥

व्याख्या। "त्रै" कहते हैं सत्त्व रजः तमः गुणके अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन देवतोंको। जब क्रियामें बैठनेसे साधकमें इन तीन गुणकी समता आती है, तबही इन तीन देवताओंकी पृथकता नष्ट हो जाती है। प्रकृति तब साम्यभाव करके सत्त्वरजस्तमो गुणमयी होती है अर्थात् धर्म-अर्थ-कामको गर्भमें लेकर मुक्तिकी आकांक्षा से अपेक्षा करती है। सत्त्वका प्रकाश, रजोकी

क्रिया, तमोकी स्थिति एक हो जाकर क्रियाशून्य अधिष्ठान मात्र होके रहती है । मायाकी इस अति उच्च अवस्था को त्रैविद्य कहते हैं । इस अवस्थाके बादही माया हम में पड़कर "मैं" बन जाती है । साधकका जब यह अवस्था आता है, तब सहस्रारसे सुधा (सोमरस) का क्षरण होता है । वह सुधा आपाद मस्तकका पोषण करती है; इसीलिये तब साधक सोमपायी है । इस अवस्थामें साधककी चञ्चलता मात्र भी नहीं रहती; अतएव निष्पाप है । यह जो सुधाकी प्लावन है, यही यज्ञ है । यह अवस्था भी साधककी निर्बीज समाधि नहीं है । इसलिये अवसर मिलनेसे ब्रह्मत्व-सुख भोग करते हैं । यह सुख भर जगत्का कोई किसीके सादृश्यमें नहीं आती; इसलिये "देवभोग" कहा हुआ है । "आठो पहर जो लड़े सो सूर"—अर्थात् अष्ट प्रहर जो क्रिया कर सके वही सुर है । जिसका एक भी निश्वास वृथा न जाय वही सुरेन्द्र है ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

अन्वयः । ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा पुण्ये क्षीणे (सति) मर्त्त्यलोकं विशन्ति; कामकामाः (भोगकामयमानाः सन्तः) त्रयीधर्म्मं (वेदत्रयविहितं धर्म्मं) अनुप्रपन्नाः (जनाः) एवं गतागतं लभन्ते॥ २१॥

अनुवाद । वह लोग विशाल स्वर्गलोकको भोग करके पुण्यक्षय होनेसे मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं। भोगकामनाके साथ वेदत्रय विहित धर्म्मका अनुष्ठान करनेसे इस प्रकार आवागमन करना होता है ॥२१॥

व्याख्या । पुण्य--पु =पुँज् (पिप्=पिर्कीके भीतरका गरदा) अर्थात् मलमूत्रमय देह + ण = निर्वाण * + यं = स्वरूप। मलमूत्रमय देह छोड़कर स्वस्वरूपमें अवस्थानका नाम पुण्य है; अर्थात् मैं जब देहाभिमान छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित हुआ, तब मेरी चञ्चलता नष्ट हो गई; उसी चञ्चलता शून्य अवस्थाको ही पुण्य कहते हैं। इस का व्यतिक्रमही पाप है। जब तक स्वस्वरूपमें अवस्थान है, तबतकही अनन्तत्व वा ब्रह्मत्व है। यह विशाल, निस्तरंग, अवधिरहित है। जबतक साधक सबीज समाधि

---

* निः=नास्ति, वाण=भेद कारक पदार्थ । वायुके साहाय्य बिना किसीसे कोई किसीको भेद कर नहीं सकता, इसलिये वायु भेदक वा वाण है । यह वायु जब "निः" होजाय—न रहे अर्थात् समताको प्राप्त होता है, उसी अवस्थाका नाम निर्वाण है।देहाभिमान तबतक वायुकी क्रिया है जबतक । वायु बाहर नहीं हुआ अथच देहके भीतर आकाशमें सूक्ष्मरूपसे विश्राम लिया उसी विश्राम युक्त अवस्था को ही "ण" कहते हैं॥ २१ ॥

में भी इस विशाल ब्रह्मके संस्पर्श सुख अनुभव करता है, तबतक साधकमें माया विकारका कुछ भी स्फूरण नहीं होता। जैसे जैसे उस अवस्थाका शेष होता रहता है, अर्थात् वह गर्भस्थ संसार-बीज समाधि-भङ्गके लिये संसार-रसको ग्रहण करता रहता है, तैसे तैसे धीरे धीरें मरजगत्का देहाभिमान भी आता रहता है, और वह स्वरूप स्थितिकी स्थिरत्व कम होते हुए चञ्चलताकी वृद्धि होती रहती है। यह जो स्थिरत्व और चञ्चलत्व है, यह दो स्तर वा स्वर्ग है; यह दोनोंही त्रिगुणमयी मायाकी लीला हैं। इसमें आवागमन अर्थात् जाना आना सिद्ध करता है; क्योंकि, क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें रहनेका जो अभिलाष है, वह भी काम है ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अन्वयः । अनन्याः (सन्तः) मां चिन्तयन्तः ये जनाः पर्य्युपासते, अहं तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं (योगः अप्राप्तस्य प्रापणं क्षेमस्तद्रक्षणं तदुभयं) वहामि (प्रापयामि) ॥२२॥

अनुवाद । जो लोग अनन्य होकर मेरी चिन्ता करते करते उपासना करते हैं, मैं उन्हीं नित्ययुक्त साधकोंके योग और क्षेमको वहन करता हूं ॥२२॥

व्याख्या। चित्तका धर्म्म चिन्ता है; वह चित्त जब "मैं" बिना और किसीका चिन्ता न करे, अनन्य होकर "मैं" का चिन्ता तबही होता है। इस प्रकारसे जो साधक "मैं" के ऊपर गिरकर, संसारको भूलकर स्थिर रहे, वह नित्यमें ("मैं" में) अभियुक्त (अभि= निर्भय, युक्त=मिलकर एक हो जाना; जैसे कलमी पेड़) होता है अर्थात् 'मैं' में युक्त हो कर निर्भय हो जाता है, कारण 'मैं' में परिणाम नहीं है; किन्तु साधकका संसार-अवस्थामें केवलही परिणमनता है। इसलिये, इममें स्थिर रहनेसे साधकका वह परिणमनता त्याग हो जाकर अपरिणामित्व प्राप्ति होता है;—भय केवल मरनेका है, वह मिट जाता है। इस प्रकार बराबर रहनेसे, भगवान् स्वयं साधकका योग और क्षेम बहन करते हैं। अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति योग है। अब "मत्संस्थां शान्ति" ही साधकके पानेकी वस्तु है; इससे बढ़के पानेकी वस्तु और कुछ नहीं है (६ष्ठ अः १५वां और २२वां श्लोककी व्याख्या देखो)। अतएव मत्संस्था शान्ति ही योग है। और क्षेम प्राप्त वस्तुका रक्षण है। अनन्य होकर "मां" चिन्ता कर सकनेसे और साधकका कोई भावना नहीं रहता,—वह मत्संस्था शान्ति (आत्म-भावावस्था) पानेके लिये चेष्टा भी नहीं करने होता, और प्राप्त होजानेसे उसकी रक्षा करनेका भी चेष्टा नहीं

करने होता । क्योंकि, तब साधक भाग्यवान् होते हैं, इसलिये भगवान् साधकका बोझ ढोवते हैं ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! ये अपि भक्ताः श्रद्धयान्विताः (सन्तः) अन्य-देवताः यजन्ते, ते अपि मां एव अविधिपूर्वकम् यजन्ति ॥ २३ ॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! जो लोग भक्त तथा श्रद्धायुक्त हो करके दूसरे दूसरे देवतोंको भी भजते रहते हैं, वह लोग मुझकोही अविधि पूर्वक भजते रहते हैं ॥ २३ ॥

व्याख्या । भक्ति और श्रद्धाकी आलवाल दे करके "मैं" से अलग करके और एक देवताका भजन करते जानेसे वह देवता भी "मैं" (मुझ) को छोड़कर कभी अलग हो नहीं सकता; क्योंकि, साधक जब जिस देवताका भजन करेंगे, तब उनका अन्तःकरण उसी देवताके आकारमें मिल जा करके उसी देवताका रूप धारण करेगा; यह विश्वकोष मेरे गर्भमेंही है, और वह देवता भी विश्वातिरिक्त न होनेके कारण तब "मैं" हो जाता है। दूसरे देवताका उपासना करके भी साधक तब मेराही उपासना करते हैं; परन्तु भेदज्ञानसे मोहित हो करके अज्ञानताके लिये साधक उस देवताको "मैं" (हम) से

पृथक् भावसे भजन करते हैं और मनमें सोचते हैं कि वही देवता उनको कल्याण करेंगे, यह जो भ्रम, वही अविधि है। [इस अविधिके लिये पुनरागमन (पुनर्जन्म) होता है; परश्लोक देखो] ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

अन्वयः। हि (यतः) अहं सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुः एव च; तु (किन्तु) ते मां तत्त्वेन (यथावत्) न अभिजानन्ति, अतः च्यवन्ति (पुनरावर्त्तन्ते) ॥ २४ ॥

अनुवाद। क्योंकि, सर्वयज्ञका भोक्ता भी मैं हूं, प्रभु भी मैं हूं, परन्तु वे लोग यथार्थ रूपसे मुझको जान नहीं सक्ते, इस कारण करके पुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या। अग्निमें साकल्यकी आहुतिका नाम यज्ञ है। यह श्रुति-उक्त तथा स्मृति-उक्त विधान है। श्रुति अशरीरी वाणीको कहते हैं; कौन कहा तिसका ठौर ठिकाना नहीं है, परन्तु मुझको सुननेमें आया, और मैं समझा। और स्मृति पुराकृत (पहले किया हुआ) कार्य्यके स्मरणको कहते हैं। इन दोनोंके बीच में मैं हूं। मैं जब सर्वस्वरूप संसाररूप अज्ञानताको 'मैं' में आहुति देनेके लिये जाता हूं, तब वह जो श्रुति-उक्त यज्ञ, स्मृति-

उक्त यज्ञ और यह संसाररूपी अज्ञानताकी आहुतिरूपी यज्ञ है—इन तीनोंका भोक्ता और प्रभु "मैं ही मैं" हूं। इस "मैं" को न जान करके और एक पृथक् मैं को बना लेनेसे ही पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी है ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्
पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या
यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

अन्वयः । देवव्रताः देवान् यान्ति, पितृव्रताः पितॄन् यान्ति, भूतेज्या (भूतानां पूजकाः) भूतानि यान्ति; मद्याजिनः मां अपि यान्ति ॥ २५ ॥

अनुवाद । देवपूजकगण देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितृपूजकगण पितृगणको प्राप्त होते हैं, भूतयाजिगण भूतोंको प्राप्त होते हैं, मद्याजिगण मुझकोही प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या । कोई कार्य एक बार करचुकनेसे, उसकी शक्तिसे और एकवार ठीक उसी प्रकार कार्य्यको कराय देता है। ऐसे किसी एकको बहुत बार करनेसेही, वह अभ्यासमें आता है । वह अभ्यास गाढ़ा हो जानेसे ही, वही गाढ़ापन संस्कार रूपसे खड़ा

हो जाता है। इच्छा न रहनेसे भी आपही आप अनजान भावसे उसी कार्य्यको कराय देना संस्कारके कार्य्य है। क्योंकि, सांस्कारिक अन्तःकरण संस्कार बिना और किसीको जानता ही नहीं। यदि मैं किसी देवताका भजन करूं तो मेरे अन्तःकरणमें उस देवताका संस्कारही घुल जाता है। शरीर त्याग करनेके समय संस्कारके शक्तिसे मनमें वही देवताही आकर उदय होता है। यदि उस देवताको लेकर शरीर त्याग हो, तो उसी देवलोकमें जाकर उसी देवताका आकार धारणकर उसी देवताका सालोक्य भोग करना पड़ता है। तैसे जो सब साधक पितृलोगोंकी आराधना करते हैं, उन सबके अन्तःकरण में पितृलोकके संस्कार दृढ़ीभूत हो करके शरीरान्तमें पितृलोकमें जाकरके उसी लोक भोग करना पड़ता है। जो लोग भूतादिके याजक हैं, उन सबके अन्तःकरण पाञ्च-भौतिक योनिमें भ्रमण करते रहता है। इन देवता-पितृ-भूतों के उपासकगण पुनरावृत्तिको पाते हैं, अर्थात् जन्म मरण भोग करते रहते हैं। परन्तु जो साधक मद्याजी अर्थात् मेरी उपासना करते हैं, वह लोग मुझको प्राप्त होकर "मैं" में मिलकर "मैं" हो जाते हैं; उन लोगोंकी और पुनरावृत्ति नहीं होती है।

साधक! विचार कर देखो, जब तुम पहिले पहल

साधना प्रारम्भ किये थे, तब तुम जिन सब बाहरवाले मूर्त्ति लेकर कारबार खोले थे, वही सब मूर्त्ति तुम्हारे चित्तमें उठजाकर प्रत्यक्ष तैजस मूर्त्तिसे तुम्हारे चित्तकी एकाग्रता आकर्षण करतेथे या नहीं ? उन सब मूर्त्तिका आकार रहनेसे भी, स्थूल शरीरके सदृश वे छायाधारी नहीं थे; वही सब देवता हैं; कारण यह है कि, जिन सबका छाया न पड़े, वह सबही देवता हैं। और जो कभी कभी कितने मरे हुए मनुष्यको देखनेमें आता है, वह सब पितृ-लोक हैं। और भी कितना अभूतपूर्व, अदृष्टपूर्व, इस जन्ममें कभी जिसे न देखाहो ऐसा कि कभी सुना भी न होगा, ऐसे विकट विकट स्वरूप भी सामनेमें आकर खड़े होते हैं; उन सबको भूत कहते हैं। और भी, भूत कहते हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशको; यह सब भी देखनेमें आता हैं। क्रियामें बैठनेके समय पहिले पहल जो कुछ आधिक अधिक मनमें आवे, प्रायः उस दिनकी क्रियामें उसीकी छबि अन्तःकरणमें खेलकर चित्तके ऊपरमें उठने नहीं देता । उस समय यदि इनमेंसे किसी एकको लेकर शरीर त्याग हो जाय तो जितना दिन अव्यक्त-भावमें रहना पड़े, अर्थात् जितना दिन पुनः देह धारणकर जन्म लेना न हो, तितना दिन उस लोकका सम्भोग करके बल संचय करना पड़ता है।

पश्चात् उसी बलसे उसी आकार लेकर उसी गुणमें गुणी होकर जन्म लेके पुनः संसारकी लीलामें नाचना पड़ता है। यह बात निश्चय है । तैसे और भी एक निश्चय है कि यदि तुम ब्रह्मनाड़ीके भीतर भीतर उठ जाकर चित्त भेद करके "मैं" में जा पड़ो, और उस समय शरीरको त्याग करो तो फिर तुमको इस मर्त्यलोकमें आने न पड़ेगा । तुम "मैं" हो जाओगे ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

अन्वयः । यो मे भक्त्या पत्रं पुष्पं फलं तोयं प्रयच्छति (ददाति), अहं प्रयतात्मनः (शुद्धबुद्धेः) भक्त्युपहृतं (भक्तिपूर्वकं प्रदत्तं) तत् (पत्रादिकं) अश्नामि (गृह्णामि) ॥ २६ ॥

अनुवाद । मुझको जो कोई भक्तिके साथ पत्र, पुष्प, फल, जल देता है, उस शुद्धबुद्धि सम्पन्न साधकके भक्तिसे दिया हुआ उस पत्रादि मैं ग्रहण करता हूं ॥ २६ ॥

व्याख्या । "पत्र"=वेद । पत्रसे छाया होती है, जिस छायेमें खड़ा होनेसे उष्णताकी ज्वाला-यन्त्रणाकी शान्ति होती है; तैसे वेदसे ज्ञानोत्पत्ति होती है, जिस ज्ञान करके भव-यन्त्रणासे अव्याहति मिल जाता है। इसलिये वेद संसार वृक्षका पत्र है ।

"पुष्प"=गुरूपदेश । वृक्षका सर्वोत्कृष्ट अंश फूल है; इस शरीर धारणका सर्वोत्कृष्ट अंश भी वैसे गुरूपदेश है, जिससे सन्ताप नष्ट और आत्मप्रीतिका उद्भव होता है ।

"फल"=गुरूपदेशसे कृतित्व लाभ करना ।

"जल"=गुरूपदेश ग्रहण करनेवाली शक्ति । इस शक्तिसेही उस पत्र, पुष्प, फलका परिपूर्ण पुष्टि साधन होता है ।

गुरुवाक्यमें अटल विश्वास करके जो पुण्यवान भोक्त पत्र, पुष्प, फल और जल "मैं" में अर्पण करता है—प्रदान करता है, उसका वह अर्पण 'मैं' को ग्रहण न कराकरके छोड़ता नहीं ।

यह जो अर्पणकी बात कही गयी है, वह भीतरकी बात है; अन्तर-साधनाका फल है । इस अपर्णमें अधिकारी होनेके लिये बाह्य-साधनाका प्रयोजन है । बाह्य-साधनासे मनका मैल साफ करके, मनकी कृपणता दूर न कर सकनेसे, अन्तर-साधनाका अधिकार नहीं आता । इसलिये इस श्लोकका बाह्य-भाव प्रकाश करके बाह्य-साधनाका विषय कहा जाता है ।

मनुष्य जब जीव जगत्में प्रथम प्रवेश करता है, तब उसको दयाके आधार ममताका उत्स स्वरूप दो

जीवित इष्ट देवता मिलते हैं। एक माता है, और एक पिता। इन दोनों देवतोंके शरीर, मन, धन, और प्राणके सहारासे उसका वही विवश, अशक्त, शिशु शरीर धीरे धीरे बढ़ता हुआ मनुष्य होता है। उन इष्ट देवतोंने अपना तन मन धन देकर उसको इतना बड़ा किया; कुसंग दोष तथा दुष्क्रियाके फलसे यदि मानव उन्हीं दोनों जीवित देवतोंकी उपासना अपना शरीर-मन-धन और प्राण देकर न कर सके, तो उसका दूसरा इष्ट देवता कहो, याग-यज्ञ कहो, और चाहे योग-समाधि ही कहो, कोई भी अच्छा फल नहीं दे सकता। क्योंकि, वह मनुष्य मनमें मन और प्राणमें प्राण मिलाने नहीं सीखा। माता पिताके ऊपर जिसकी भक्ति-श्रद्धा मन-प्राणसे नहीं होती है, किसी पारमार्थिक कार्यमें उसका अधिकार नहीं होता। कारण कि, जगत्की जो कुछ शिक्षा है, उन निःस्वार्थ दोनों सुहृत्से प्राप्त हो करके भी जो मनुष्य उन दोनोंके ऊपर अपव्यवहार करता है, उसमें मनुष्यत्व नहीं रहता। जिसमें मनुष्यत्व नहीं है वह मनोधर्म नहीं समझता है। जो मनोमर्ध नहीं समझता है, उसमें "मैं" समझनेका शक्ति नहीं रहता; क्योंकि, "मैं" भी पिता माता स्वरूपसे जगत्का पालन कर्त्ता हूं, इसलिये, यहींसे भक्तिका प्रारम्भ होना

प्रयोजन है । परन्तु जिस भक्तिमान श्रद्धावान कृतज्ञ पुरुष का उन दोनों इष्ट देवतोंके ऊपर इष्ट-देवता-बुद्धि रहती है, वही महापुरुष समझ सकते हैं कि, गुरूवाक्यमें अटल विश्वासका फल क्या है ? सर्व बाधा अतिक्रम करके गुरूवाक्यके अनुष्ठानमें दृढ़व्रती होनेसे तितिक्षा रूप महासाधनके फलसे क्या नहीं करादे सकता है ! उन इष्ट देंवतोंके पूजाके लिये (शरीर धारणोपयोगी आहारके लिये) पत्र, पुष्प, फल, और जलका प्रयोजन होता है । पिता माताके परितृप्तिके लिये भक्ति सहकार उन लोगोंको पत्र, पुष्प, फल, और जल प्रदान करनेसे, परम पिता परमेश्वर परब्रह्ममेंही वह सब अर्पित हो जाता है । पिता माताके परितोष साधनमेंही मनका मैल कट जाता है, संकोचता दूर होती है, इसलिये अन्तरमें प्रवेश करनेका अधिकार भी आ जाता है ॥ २६ ॥

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यासि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यासि ॥२८॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! यत् करोषि, यत् अश्नासि, यत् जुहोषि,

यत् ददासि, यत् तपस्यसि, तत् मदर्पणं कुरुष्व; एवं (कुर्वन्) कर्म्म-बन्धनैः शुभाशुभफलैः मोक्ष्यसे; विमुक्तः (सन्) संन्यासयोगयुक्तात्मा (संन्यासः कर्म्मणां मदर्पणं, स एव योगः तेन युक्तः आत्मा चित्तं यस्य तथाभूतः त्वं) मां उपैष्यसि (प्राप्स्यसि) ॥ २७ । २८ ॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! जो कुछ तुम करोगे,—भोजनही करो, हवनही करो, दानही करो, और तपस्याही करो, उन सबको मुझे अर्पण करना; इस प्रकार करनेसेही शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे; विमुक्त होकर संन्यासयोगमें युक्तचित्त होनेसेही मुझको पाओगे ॥ २७ । २८ ॥

व्याख्या । साधक ! जब तुम विषयभोग-लालसा लेकर रहते हो, तब तुम्हारे विषयासक्तिके लिये मातृभाव प्रकाश पाता है । और जो उस आसक्तिको तुम नहीं छोड़ सकते उसे कृपणता कहते हैं । फिर जब तुम उस कृपणताको दूरमें फेंक कर यथारीति उपदेश अनुसार पृथिवीको लेकर जलमें, जल तेजमें, तेज वायुमें, वायु आकाशमें,आकाशको पराकाशमें ले जाओ, उसीको करण कहते हैं; यही पितृभाव है । और यह जो कर चले हो, उसीको भोग कहते हैं । (विषय भोग करनेका नामही भोग है; इसमें सूंघना, चीखना देखना सब रह गया) । और इसको ले जाकर जो "मैं" त्वमें फेंक देते हो; इसीकोही हवन कहते हैं । वह जो विषयादि भोग छोड़

कर चले आये हो, वही दान है । और यह जो माया-विकारको ब्रह्माग्निमें अर्थात् ज्ञानाग्निमें जलाकर भस्म कर दिया, इसीको तपस्या कहते हैं । इन सबको ले जाकर 'मैं' में पड़ने होता है । इस 'मैं' में पड़नेका नाम 'मदर्पण' है । इस प्रकार अर्पणमें कर्म्मकृतशुभ और अशुभ फल नहीं छू सकता; अतएव कर्म्मबन्धन से मुक्ति होती है । 'संन्यास'—सं = सम्यक्, न्यास = निक्षेप, त्याग; जब सब त्याग होगया, तत्क्षणात् तुम्हारा 'मैं' विशुद्ध 'मैं' में पड़गया, योग भी होगया । दोनों 'मैं' मिलकर एक होगया; यही युक्त होनेकी अवस्था है । तब और देह अर्थात् देहबुद्धि नहीं रही, 'विमुक्ति' अर्थात् विशेष मुक्ति (सर्वसे पृथकता) प्राप्ति होगई । यही तुम्हारा 'मैं'-होना अवस्था है ॥२७।२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

अन्वयः । अहं सर्वभूतेषु समः । मे द्वेष्यः न अस्ति, प्रियः न (अस्ति) । ये तु भक्त्या मां भजन्ति ते मयि (वर्त्तन्ते), अहं अपि च तेषु(वर्त्ते) ॥ २९ ॥

अनुवाद । मैं सर्वभूतमें ही समान हूं । मेरे द्वेष्य भी नहीं है, प्रिय भी नहीं है । परन्तु जो लोग भक्ति सहकार मुझको भजन करते हैं, वह लोग हममें रहते हैं, "मैं" भी उन सबके भीतर रहता हूं ॥२९॥

व्याख्या । वह जो गुरूपदिष्ट क्रममें 'मैं' भज करके 'मैं' होना है, इस 'मैं' में द्वैताद्वैत भाव नहीं रहता। क्योंकि, जो 'मैं' भजता है वह 'मैं' हो जाता है; 'मैं' भी मैं-भजने वालाके साथ मिल कर उसको 'मैं' बनाय लेता हूं। इसलिये 'मैं' निस्तरंग ऊंचानीचा-बिहीन हूं। 'मैं' में प्रिय वा अप्रियका स्थान नहीं है, सब समान है। 'समोऽहं'—अहं शब्दमें एकको समझाता है। इस एकमें सब मिलनेसे ऊंचा नीचा नहीं रहता। भूतसमूह जब उस अहंमें मिलता है, तब भूतोंका ऊंचा नीचा ह्रास-वृद्धि भी मिट जाकर समान हो जाता है। इसलिये 'मैं' में प्रिय वा अप्रिय की उद्रेक नहीं रहती। जो कोई गुरूपदेश अनुसार अटल विश्वास और भक्तिपूर्वक मैं-भजन करता है, वही 'मैं' में पड़कर मिल करके 'मैं' हो जाता है; थोड़ासा भी इधर उधर होनेसे 'मैं' नहीं हो सकता; जैसे शीतकालमें अग्नि तापना है,—जो निकटमें रहता है, उसका ठण्ढा (शीत) दूर होता है, जो दूर रहता है, वह अग्निको देखता है सही लेकिन उसका जाड़ा टूटता नहीं; परन्तु अग्नि दोनोंके लिये समान है॥ २९॥

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

अन्वयः । सुदुराचारः अपि चेत् (यदि) अनन्यभाक् (अनन्यभक्तिः सन्) मां भजते, सः साधुः एव मन्तव्यः; हि (यतः) सः सम्यक् व्यवसितः (शोभनं अध्यवसायं कृतवान्) ॥३०॥

अनुवाद । सुदुराचार मनुष्य भी यदि अनन्यभक्ति हो करके मुझको भजन करें तो वह साधु कह करकेही गण्य होवेगा; क्योंकि, वह सम्यक् प्रकारसे व्यवसित (अध्यवसाय युक्त) है ॥ ३० ॥

व्याख्या । साधक ! क्रियाके प्रति लक्ष्य करके आपही समझकर देखो कि यदि मैं अनासक्ति पूर्वक चरण करूं (चरण विषय बिना और किसीमें नहीं होता), तो विषय हमसे बहुत दूरमें पड़ा रहता है; फिर जो उस विषयमें आसक्ति देकर बहु जन्म भोग रागमें मतवाला हो रहता हूं, वही सुदुराचार अवस्था है; क्योंकि, वह अति चंचलतामय है । फिर जब मैं विषयासक्तिको छोड़कर कूटस्थमें अपने स्वरूपको लक्ष्य करके सूक्ष्मश्वासमें आसक्ति देकर धारणामें स्थित हो जाऊं, तबही मैं "मैं" होता हूं—साधु होता हूं । इसीका नाम आत्मनिष्ठा है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

अन्वयः । (सुदुराचारोऽपि मां भजन्) क्षिप्रं (शीघ्रं) धर्म्मात्मा भवति, (ततश्च) शश्वत् (नित्यं) शान्तिं निगच्छति (प्राप्नोति); हे कौन्तेय ! मे (परमेश्वरस्य) भक्तः न प्रणश्यति इति प्रतिजानीहि (निश्चितां प्रतिज्ञां कुरु) ॥ ३१ ॥

अनुवाद । (सुदुराचार भी मुझको भज करके) शीघ्रही धर्म्मात्मा होते हैं, और नित्य शान्तिको प्राप्त होते हैं । हे कौन्तेय ! मेरा भक्त विनाशको प्राप्त न होगा, यह बात प्रतिज्ञा करके तुम कह सक्ते हो ॥३१॥

व्याख्या । आत्मनिष्ठा का सुख जिसने एक बार अनुभव किया है, उस सुखको फिर भोग करनेके लिये व्याकुलता उसमें अवश्य आती है । उस व्याकुलता उस सुखभोग करनेके लिये उसको अवश्य चेष्टा कराती है । उस चेष्टासे वह उस सुख पाता भी है । अतएव बारंबारके व्याकुलतामें बारंबारके सुख भोगका अभ्यास गाढ़ा हो आनेसे शीघ्रही शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन सब विषय भोगके ऊपर वितृष्णा आ पड़ती है, चरण (चलना, फिरना, संकल्प, विकल्प रूप, अन्तः-करण धर्म्म) छूट जाता है, धारणा आ पड़ती है । यह धारणाही धर्म्म है । चित्त तब इस धर्म्ममें आबद्ध हो

कर स्थिर रहता है, और दूसरा कुछ ग्रहण नहीं करता; इसलिये यह अवस्था शाश्वत शान्तिका निवास भूमि है। भक्त होनेसे—अनन्यभाक् होनेसे इस शाश्वत शान्ति की निवास-भूमिमें जानाही पड़ता है, विनाशको प्राप्त होता नहीं, अर्थात् विषयासक्तिमें मोहित होकर बारंबार जन्म-मरण भोग नहीं करने पड़ता। साधक ! अब तुम आज्ञा चक्रमें उठ करके उपासनासे प्रत्यक्ष ज्ञानमें ज्ञान विज्ञानका आकर्षण करनेमें समर्थ होकरके "कौन्तेय" पदवाच्य हुए हो; अब तुम प्रतिज्ञा करके यह बात (प्रति + ज्ञ = जाननेका वस्तु "मैं" + आ = आसक्ति) अर्थात् जाननेका वस्तु जो "मैं", उसी "मैं" के प्रति आसक्ति देकरके "मैं" के भाव अनुभव करके कह सक्ते हो कि, 'मैं' का भक्त होनेसे और विनाश को नहीं प्राप्त होता ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२॥

अन्वयः । हि (यस्मात्) पापयोनयः (पापजन्मानः) स्त्रियः वैश्याः तथा शूद्राः ये अपि मां (परमात्मानं) व्यपाश्रित्य (आश्रयत्वेन गृहीत्वा, संसेव्य इत्यर्थः) स्युः (भवेयुः), ते अपि परमां गतिं यान्ति ॥ ३२ ॥

अनुवाद । पापजन्मा स्त्री, वैश्य, और शूद्र जो कोई मुझको

विशेष प्रकारसे आश्रय करके रहते हैं, वे लोगही परमागतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

व्याख्या । हे विषयासक्त साधक! यदि तुम उस ऊपरवाले "मैं" को निश्चय रूपसे आश्रय कर रह सको, तो तुम्हारा स्त्रीभाव (अन्तःकरणमें जब अष्ट गुण कामरस-भोगलालसा बढ़ता है; वही अवस्था), तुम्हारा वैश्यभाव (क्रिया करके क्रियामें प्राप्त जो अलौकिक विभूति है, उसे दिखलानेके लिये—लोगोंके पास बड़े होनेके लिये अन्तःकरणकी जो आतुरता है वही), और तुम्हारा शूद्रभाव (श=श्वास + उ=स्थिति + द= योनि + रं =प्रकाश—अर्थात् जिस अवस्थामें प्रति निःश्वास और प्रश्वास योनिमें प्रकाशमान रहता है अर्थात् अन्तःकरण कामान्ध हो करके भोगवासनाके सेवक होता है, वही) यह तीनों शीर्ण हो जाकर "मेरी" परमगति जो "मैं", वही होवेंगे ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः । पुण्याः (सुकृतिनः) ब्राह्मणाः तथा भक्ताः राजर्षयः (परां गतिं यान्तीति) किं पुनः (वक्तव्यं)? (अतः त्वं) इमं अनित्यं (क्षणभंगुरं) असुखं (सुखवर्जितं) लोकं प्राप्य मां भजस्व ॥ ३३ ॥

अनुवाद । पुण्यवान ब्राह्मणगण और भक्त राजर्षिगण परमागतिको जो प्राप्त होवेंगे, उसमें और बात क्या! अतएव तुम इस अनित्य असुखकर लोक प्राप्त होकर मुझको स्मरण किया करो ॥ ३३ ॥

व्याख्या । जो पुरुष ब्रह्मको जानते हैं, अर्थात् सर्वदा ब्रह्मसंस्पर्शानन्द सुख अनुभव करके देहात्मबुद्धि जिसकी

नष्ट होगई है, वही महात्मा ब्राह्मण है। और जो पुरुष विषय-भोग करते हैं, (लोकचक्षुमें विषयके कीट सदृश देखा जाता है) परन्तु विषय-भोगका प्रत्येक फल जिसके चक्षुके सामने धरा हुआ है—जो अपरोक्षदर्शी है, जिसको विषयभोग-मोहमें आत्मज्ञानसे विचलित कर नहीं सकता, वह पुरुष राजर्षि हैं। वे लोग पुण्यवान् हैं अर्थात् मलमूत्रमय देहमें इन सबकी आत्मबुद्धि नहीं है; और वे लोग भक्त हैं अर्थात् किसी प्रकारसे विच्युत होकर इन सबके भीतर कोई भी आत्महारा नहीं होते। वे लोग जो इस असुखमय अनित्य जगत्को प्राप्त हो करके भी उस ऊपरवाले "मैं" का भजन करते हैं, इसमें और बात क्या है ? साधक ! अब तुम देखो, तुम आज्ञाचक्रमें उठ आकर निम्नदृष्टिसे विषयकी अनित्य असुखकर क्रियाको जो प्रत्यक्ष करते हो, पुनः ऊर्ध्व-दृष्टिसे आत्मतत्त्वको भी जानते हो, सबही तुम्हारा प्रत्यक्ष होता है, कुछ भी परोक्ष नहीं रहता, यही तुम्हारा राजर्षि भाव है। इस अवस्थामें स्थित तुम, निम्नदृष्टि त्याग करके अवश्य एकमात्र इस "मैं" का भजन करो ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

अन्वयः । मन्मना (मद्गतचित्तः) मद्भक्तः (मम एव भक्तः) मद्याजी (मत्पूजनशीलः) भव, मां नमस्कुरु; एवं (एभिः प्रकारैः) मत्परायणः (सन्) आत्मानं (चित्तं) युक्त्वा (मयि समाधाय) मां एव (परमानन्दरूपं) एष्यसि (प्राप्स्यसि) ॥ ३४ ॥

अनुवाद । मद्गतचित्त, मद्भक्त और मद्याजी हो जाओ; मुझको नमस्कार किया करो, इस प्रकारसे मत्परायण होकर चित्तको हममें समाहित करके मुझको ही प्राप्त होओगे ॥ ३४ ॥

व्याख्या । कर्म्मकी परिसमाप्ति करके आज्ञामें उठकर उपासनामें प्रवृत्त होनेसे पञ्च कर्म्मेन्द्रिय, और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय बहिर्विषयसे समेट आकर अन्तरके भीतर संकुचित हो जाता है; तब एक मात्र मनोमय क्रिया अर्थात् विशुद्ध अन्तःकरणकी क्रिया चलती रहती है । उसी क्रियामें जिस जिस क्रम से आज्ञासे सहस्रारमें उठकर "मैं" हुआ जाता है, इस श्लोकमें उसीको दिखाकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं ।

प्रथमतः "मन्मना" होने पड़ता है, अर्थात् आज्ञामें स्थिर होनेके पश्चात् जो "कोटिसूर्य्य प्रतीकाशं चन्द्रकोटी सुशीतलं" ज्योतिर्मण्डल प्रकाश पाता है, उसमें मनोनिवेश करने पड़ता है, अर्थात् अन्तःकरणके चारों वृत्ति कोही पूर्ण मात्रासे उसमें लगाने होता है; पश्चात् मानस-नेत्र उस ज्योतिकी ठीक मध्यस्थानमें युक्त होनेसेही, अन्तःकरणकी संकल्पात्मिका वृत्ति एक दम मिट जाकर निश्चयात्मिका वृत्ति प्रबलसे प्रबलतर हो आती है, उसमें उस मण्डल मध्यवर्त्ती हिरण्मय पुरुष बिना और किसीका ग्रहण नहीं होता, एकमात्र उसीमें एकानुरक्ति प्रकाश पाता है; यही "मद्भक्त" अवस्था है । स्थिर अचञ्चल दृष्टिके द्वारा ताकते रहनेसे वह पुरुष प्रसन्न होते हैं, और उनकी अनन्त महिमा खिल उठती है; इस प्रकार स्थिर दृष्टिसे ताकते रहनाही "मद्याजी" अवस्था है । पश्चात्

जैसे किसी एक पदार्थको एक दृष्टिसे बहुत देरतक देखते देखते दृष्टि विलोप होकर क्षण भरके लिये अपनेको भूल जाने पड़ता है, बाद फिर जब चमक टूट जाती है तत्क्षणात् उस पदार्थ को देखनेमें आता है, ठीक इसी प्रकारसे उस मद्याजी अवस्थामें हिरण्मय पुरुषको एक दृष्टिसे देखते देखते तन्मय होकरके अपनेको भी भूल जाने पड़ता है, पुरुषको भी नहीं देखा जाता; इस प्रकार बारंबार होता है; साधनामें यह जो आत्मविस्मृति और स्फुरण अवस्था है, यही "नमस्कार" है । वह पुरुषही अपरिणामी है, वही पराकाष्ठा और परागति है; इस समय एकमात्र वह पुरुष ही आश्रय होनेसे, इस अवस्थाको "मत्परायण" अवस्था कहते हैं । इस अवस्थाके परिपाक होनेसे जब और अदर्शन नहीं आता, परन्तु शून्यदृष्टिके सदृश उनमें ताकता मात्र रहता हूं, अथच बोध्य बोधन नहीं रहता, इस प्रकार क्या जाने कैसे एक भाव होता है; वही "युक्त" अवस्था है । इस अवस्थामें बोध्य बोधन न रहनेसे भी, दोनोंके भीतर थोड़ासा प्रभेद रहता है । पश्चात् वही प्रभेद मिटजानेसे दृश्य द्रष्टा मिलकर एक हो जाते हैं, वही एकमात्र अपरिणामी पुरुष "मैं" मात्र रहते हैं । इसीकोही "मैं"-पाना (प्राप्त होना) कहते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्ज्जुनसम्वादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।

Printed by B. Ganga Prasad Gupta, at his Art Printing Works, Benares.

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ०	पं०	अशुद्ध ।	शुद्ध ।
१	१०	धर्मक्षेत्रे समवेताः	धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेताः
१९	५	करने	करनेके
,,	२०	घारी	धारी
२३	४	आमास	आभास
२८	२	भीण्म	भीष्म
४१	१२	" धनुरुद्यम "	" धनुरुद्यम्य "
५५	२	कृण्णको	कृष्णको
५७	१३	पात	पाते
१०६	१९	(उक्त्वा)	(उक्ताः)
१४७	१८	दृष्टा	द्रष्टा
१५६	१०	कसौ	कैसा
२२१	९	कत्तृत्त	कर्त्तृत्व
२२३	२८	वैसे	कैसे
२२५	७	" भूवोर्मध्ये "	" भ्रूवोर्मध्ये "
२२९	१६	सत्त	सत्ता
२४५	३	थूआँ	धूआँ
२५२	१५	ज्ञानका	ज्ञानका
२६१	२	चतन्य	चैतन्य
२९९	२	विकाश हो, वह विकर्म	विकाश हो, वह विकर्म
३०३	१४	उनकोको	उनको जो
३०७	शेष	प्रांप्य	प्राप्यं
३०९	२	भित्याद्युक्त	मित्याद्युक्त
,,	९	साधकेके	साधकोंके
३३३	८	अवस्तिति	अवस्थिति
३३४	१	पकारके	प्रकारके

पृष्ठ०	पं०	अशुद्ध ।	शुद्ध ।
४०५	१८	त्त्त	चित्त
४१२	९	धैर्य्येण	धैर्य्येण
४१४	८	करनेका	करनेकी
४१९	८	वहा	वह
४६०	३	इनको	इसको
,,	,,	स्वरके	स्वरका
,,	६	भगवानके	भगवानका
४६४	१	आकांक्षाकी	आकांत्ताका
,,	८	सत्त्वा	सत्ता
,,	१८	,,	,,
४७१	४	,,	,,
४७२	९	,,	,,
४७४	११	मायाकी	मायाके
४७५	७	प्रकारका	प्रकारका
४८३	३	भोगमें	भोगोंमें
,,	४	फल	फलको
४८७	१	उेसक	उसके
५०८	१	हेंमम	हममें
५११	१८	समझ	समझ
५२०	३	उसीका	उसीको
५६१	१०	सत्त्वा	सत्ता
५८५	१८	मनोमर्ध	मनोधर्म
५८६	शेष	यतृ	यत्
५९२	,,	सुझाके	सुझको
५९३	१९	अनित्य	अनित्यं